[illegible]

[illegible]

[illegible]

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला
: ७ :

सम्पादक :
पं० दलसुख मालवणिया
डा० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य
का
बृहद् इतिहास

भाग २

अङ्गबाह्य आगम

लेखक :
डा० जगदीशचन्द्र जैन
व
डा० मोहनलाल मेहता

सव्वं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-५

प्रकाशन-वर्ष :
सन् १९६६

मूल्य :
पन्द्रह रुपये

मुद्रक :
बलदेवदास
संसार प्रेस, संसार लिमिटेड
काशीपुरा, वाराणसी

संक्षिप्त विषय-सूची

प्राक्कथन

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' का द्वितीय भाग—अंगबाह्य आगम पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक आह्लाद का अनुभव हो रहा है। इस भाग को प्रकाशित करते हुए विशेष प्रसन्नता इसलिए है कि इसका प्रकाशन भी प्रथम भाग के साथ ही हो रहा है। प्रथम भाग में अंग आगमों का सांगोपांग परिचय दिया गया है जबकि प्रस्तुत भाग में अंगबाह्य आगमों का सर्वांगीण परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार आरम्भ के इन दो भागों से समस्त मूल आगमों का परिचय प्राप्त हो सकेगा। शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले तृतीय भाग में आगमों के व्याख्यात्मक साहित्य का सर्वांगपूर्ण परिचय रहेगा।

प्रस्तुत भाग का उपांग एवं मूलसूत्र विभाग यशस्वी विद्वान् डा० जगदीशचन्द्र जैन का लिखा हुआ है तथा शेष अंश मैंने लिखा है।

अंगबाह्य आगम पाँच वर्गों में विभक्त हैं: १. उपांग, २. मूलसूत्र, ३. छेदसूत्र, ४. चूलिकासूत्र, ५. प्रकीर्णक। अंग आगमों की रचना श्रमण भगवान् महावीर के गणधरों अर्थात् प्रधान शिष्यों ने की है जबकि अंगबाह्य आगमों का निर्माण भिन्न-भिन्न समय में अन्य गीतार्थ स्थविरों ने किया है। दिगम्बर परम्परा में भी श्रुत का अर्थाधिकार दो प्रकार का बताया गया है अर्थात् आगमों के दो भेद किये गये हैं: अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट में आचारांगादि बारह ग्रन्थों का समावेश किया गया है। अंगबाह्य में निम्नोक्त चौदह ग्रन्थ समाविष्ट हैं: १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्पिक, ११. महाकल्पिक, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक, १४. निशीथिका। दिगम्बरों की मान्यता है कि उपर्युक्त अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य दोनों प्रकार के आगम विच्छिन्न हो गये हैं। श्वेताम्बर केवल बारहवें अंग दृष्टिवाद का ही विच्छेद मानते हैं, आचारांगादि ग्यारह अंगों का नहीं। इसी प्रकार औपपातिकादि अनेक अंगबाह्य ग्रन्थ भी अविच्छिन्न हैं।

अंगबाह्य आगमों के प्रथम वर्ग उपांग में निम्नलिखित बारह ग्रन्थ समाविष्ट हैं : १. औपपातिक, २. राजप्रश्नीय, ३. जीवाजीवाभिगम, ४. प्रज्ञापना, ५. सूर्यप्रज्ञप्ति, ६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८. निरयावलिका अथवा कल्पिका, ९. कल्पावतंसिका, १०. पुष्पिका, ११. पुष्पचूलिका, १२. वृष्णिदशा। इनमें से प्रज्ञापना का रचनाकाल निश्चित है। इसकी रचना श्यामार्य ने वि० पू० १३५ से ९४ के बीच किसी समय की। श्यामार्य का दूसरा नाम कालकाचार्य (निगोद-व्याख्याता) है। इन्हें वीरनिर्वाण संवत् ३३५ में युगप्रधान पद मिला तथा वी० सं० ३७६ तक उस पद पर रहे। शेष उपांगों के रचयिता के नाम आदि का कोई पता नहीं। सामान्यतः इनका रचनाकाल विक्रम संवत् के बाद का नहीं हो सकता।

मूलसूत्र चार हैं : १. उत्तराध्ययन, २. आवश्यक, ३. दशवैकालिक, ४. पिण्डनिर्युक्ति अथवा ओघनिर्युक्ति। इनमें से दशवैकालिक आचार्य शय्यम्भव की कृति है। इन्हें युगप्रधान पद वी० सं० ७५ में मिला तथा वी० सं० ९८ तक उस पद पर रहे। अतः दशवैकालिक की रचना वि० पू० ३९५ और ३७२ के बीच किसी समय हुई है। उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य अथवा एक काल की कृति नहीं है फिर भी उसे वि० पू० दूसरी-तीसरी शती का ग्रन्थ मानने में कोई बाधा नहीं है। आवश्यक साधुओं के नित्य उपयोग में आनेवाला सूत्र है अतः इसकी रचना पर्याप्त प्राचीन होनी चाहिए। पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति के रचयिता आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) हैं। इनका समय विक्रम की पाँचवीं-छठी शती है।

छेदसूत्र छः हैं : १. दशाश्रुतस्कन्ध, २. बृहत्कल्प, ३. व्यवहार, ४. निशीथ, ५. महानिशीथ, ६. जीतकल्प अथवा पंचकल्प। इनमें से दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार चतुर्दशपूर्वधर आर्य भद्रबाहु (प्रथम) की कृतियाँ हैं। इनका रचनाकाल वी० सं० १७० अर्थात् वि० पू० ३०० के आसपास है। निशीथ के प्रणेता आर्य भद्रबाहु अथवा विशाखगणि महत्तर हैं। यह सूत्र वस्तुतः आचारांग की पंचम चूलिका है जिसे किसी समय आचारांग से पृथक् कर दिया गया। महानिशीथ के उपलब्ध संकलन का श्रेय आचार्य हरिभद्र को है। जीतकल्प आचार्य

जिनभद्र की कृति है। इनका समय विक्रम की सातवीं शताब्दी है। पंचकल्प अनुपलब्ध है।

नन्दी और अनुयोगद्वार चूलिकासूत्र कहलाते हैं। नन्दी सूत्र के प्रणेता देववाचक हैं। इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी से पहले है। अनुयोगद्वार सूत्र के निर्माता आर्य रक्षित हैं। ये वी० सं० ५८४ में दिवंगत हुए।

प्रकीर्णकों में दस ग्रन्थ विशेषरूप से मान्य हैं: १. चतुःशरण, २. आतुरप्रत्याख्यान, ३. महाप्रत्याख्यान, ४. भक्तपरिज्ञा, ५. तन्दुलवैचारिक, ६. संस्तारक, ७. गच्छाचार, ८. गणिविद्या, ९. देवेन्द्रस्तव, १०. मरणसमाधि। इनमें से चतुःशरण तथा भक्तपरिज्ञा के रचयिता वीरभद्रगणि हैं। इनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शती है। अन्य प्रकीर्णकों की रचना के काल, रचयिता के नाम आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत भाग के लेखक आदरणीय डा० जगदीशचन्द्रजी का तथा सम्पादक पूज्य दलसुखभाई का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। ग्रन्थ के मुद्रण के लिए संसार प्रेस का तथा प्रूफ-संशोधन आदि के लिए संस्थान के शोध-सहायक पं० कपिलदेव गिरि का आभार मानता हूँ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी—५
९—११—६६

मोहनलाल मेहता
अध्यक्ष

"चत्तारि अ वेआ संगोवंगा—एआइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहिआइं मिच्छासुअं। एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहिआइं सम्मसुअं। अहवा मिच्छदिट्ठिस्स एयाइं चेव सम्मसुअं सम्मत्तहेउत्तणओ। से तं मिच्छासुअं"

—आर्य श्री देववाचक–नन्दिसूत्र, पृ० १९४

"भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स" ॥ ६९ ॥

—आर्य श्री सिद्धसेनदिवाकर–सन्मतिप्रकरण, तृतीय काण्ड

"विसय-सरूव-ऽणुवंधेण होइ सुद्धो तिहा इहं धम्मो।
जं ता मुक्खासयओ सव्वो किल सुंदरो नेओ" ॥ २० ॥

—आर्य श्री हरिभद्रसूरि–द्वितीय विंशिका

प्रस्तुत पुस्तक में

उपांग

मूलसूत्र

छेदसूत्र

चूलिकासूत्र

प्रकीर्णक

अं

ग

बा

ह्य

आ

ग

म

उ पां ग

प्रकरण १

औपपातिक

उपांगों और अंगों का संबन्ध
प्रथम उपांग
दण्ड के प्रकार
मृत्यु के प्रकार
विधवा स्त्रियाँ
व्रती और साधु
गंगातटवासी वानप्रस्थी तापस
प्रव्रजित श्रमण
ब्राह्मण परिव्राजक
क्षत्रिय परिव्राजक
अम्मड परिव्राजक के सात शिष्य
अम्मड परिव्राजक
आजीविक
अन्य श्रमण
सात निह्नव

प्रथम प्रकरण

औपपातिक

वैदिक ग्रन्थों में पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र को उपांग कहा गया है। वेदों के भी अंग और उपांग होते हैं; यथा—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष—ये छः अंग हैं, तथा इनके व्याख्या-ग्रन्थ उपांग हैं।[1]

उपांगों और अंगों का सम्बन्ध :

बारह अंगों की भाँति बारह उपांगों का उल्लेख प्राचीन आगम ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। केवल निरयावलिया के प्रारम्भ में निरयावलिया आदि पाँच आगमों की उपाङ्ग संज्ञा दी है।[2] समवायांगसूत्र में बारह वस्तुओं की गणना करते हुए द्वादश अंगों का वर्णन किया गया है, लेकिन वहाँ द्वादश उपांगों का नामोल्लेख तक नहीं। नन्दिसूत्र में भी कालिक और उत्कालिक रूप में ही उपांगों का उल्लेख है, द्वादश उपांग के रूप में नहीं। यह प्रश्न विचारणीय है कि द्वादश उपांग सम्बन्धी उल्लेख १२ वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता।

---

१. चत्वारश्च वेदाः सामवेद-ऋग्वेद-यजुर्वेद-अथर्वणवेदलक्षणाः सांगोपांगाः; तत्रांगानि शिक्षा-कल्प-व्याकरण-छन्दो-निरुक्त-ज्योतिष्कायनलक्षणानि षट्; उपांगानि तद्व्याख्यानरूपाणि तैः सह वर्तन्ते इति सांगोपांगाः—अनुयोग-द्वारवृत्ति, हेमचन्द्रसूरि, पृ० ३६ अ।

२. निरयावलिया, पृ० ३–४.

अंगों की रचना गणधरों ने की है और उपांगों की स्थविरों ने, इसलिए अंगों और उपांगों का कोई सम्बन्धविशेष सिद्ध नहीं होता। दोनों का क्रमिक उल्लेख भी किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। लेकिन अर्वाचीन आचार्यों ने अंगों और उपांगों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, श्रीचन्द्रसूरि (विक्रम की १२ वीं शताब्दी) ने अपनी सुहबोहसामायारी (अणुट्ठाणविहि, पृ० ३१ ब–३२ अ) में उववाइय उपांग को आयारांग का, रायपसेणइय को सूयगडंग का, जीवाभिगम को ठाणांग का, पन्नवणा[1] को समवायांग का, सूरपन्नत्ति को भगवती का, जंबुद्दीवपन्नत्ति को नायाधम्मकहाओ का, चंदपन्नत्ति को उवासगदसाओ का, निरयावलिया को अंतगडदसाओ का, कप्पवडंसिआओ को अणुत्तरोववाइयदसाओ का, पुप्फिआओ को पण्हवागरणाइं का, पुप्फचूलिआओ को विवागसुय का तथा वण्हिदसाओ को दिट्ठिवाय अंग का उपांग स्वीकार किया है। स्वयं उववाइय के टीकाकार अभयदेवसूरि (११ वीं शताब्दी) उववाइय को आयारांग का उपांग मानते हैं। रायपसेणइय के टीकाकार मलयगिरि (१२ वीं शताब्दी) ने भी रायपसेणइय को सूयगडंग का उपांग प्रतिपादन करते हुए कहा है कि अक्रियावादी मत को स्वीकार करके ही रायपसेणइय सूत्र में उल्लिखित राजा प्रदेशी ने जीवविषयक प्रश्न किया है, इसलिए रायपसेणइय को सूयगडंग का उपांग मानना उचित है। लेकिन देखा जाय तो जैसे जीवाभिगम और ठाणांग का, सूरपन्नत्ति और भगवती का, चंदपन्नत्ति और उवासगदसाओ का, तथा वण्हिदसाओ और दिट्ठिवाय का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार रायपसेणइय और सूयगडंग का भी कोई सम्बन्ध नहीं है।

द्वादश उपांगों का उववाइय आदि क्रम भी ऐतिहासिक दृष्टि से समुचित मालूम नहीं होता। उदाहरण के लिए, पन्नवणा नामक चतुर्थ उपांग के कर्ता आर्य श्याम माने जाते हैं जो महावीर-निर्वाण के ३७६ (या ३८६) वर्ष बाद मौजूद थे, लेकिन फिर भी इसे पहला उपांग न मानकर चौथा उपांग माना गया है। उपांग-साहित्य में ही नहीं, अंग-साहित्य में भी वाचना-भेद तथा दुष्काल आदि असाधारण परिस्थितियों के कारण अनेक सूत्रों के स्खलित हो जाने से जैन आगम-साहित्य में अनेक स्थलों पर विशृंखलता उत्पन्न हो गयी है जिसका उल्लेख

---

१. यशोदेवसूरि ने पक्खियसुत्त में प्रज्ञापना और बृहत्प्रज्ञापना दोनों को समवायांग के उपांग कहा है। देखिये—एच० आर० कापडिया, हिस्ट्री ऑफ द कैनोनिकल लिटरेचर आफ द जैन्स, पृ० ३१.

आगम-ग्रन्थों के टीकाकारों ने किया है।[1] उदाहरण के लिए सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय एक होने पर भी उन्हें भिन्न-भिन्न उपांग माना गया है। भगवतीसूत्र कालक्रम की दृष्टि से उपांगों की अपेक्षा प्राचीन है, लेकिन उसमें किसी विषय को विस्तार से जानने के लिए उववाइय, रायपसेणइय, जीवाभिगम, पन्नवणा आदि उपांगों का नामोल्लेख किया गया है। सूयगडंग और अणुत्तरोववाइयदसाओ नामक अंगों में उववाइय उपांग का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त दिट्ठिवाय, दोगिद्धिदसा, तथा नन्दिसूत्र की टीका में उल्लिखित कालिक और उत्कालिक के अन्तर्गत दीवसागरपन्नत्ति, अंगचूलिका, कप्पाकप्पिय, विज्जाचरण, महापण्णवणा आदि अनेक आगम-ग्रन्थ कालदोष से नष्ट हो गये हैं। आगम-ग्रन्थों की नामावलि और संख्या में मतभेद पाये जाने का कारण आगमों की यही विशृंखलता है जिससे जैन आगमों की अनेक परम्पराएं काल के गर्भ में विलीन हो गयीं।[2] ऐसी दशा में जो कुछ अवशिष्ट है उसी से संतोष करना पड़ता है। बारह उपांगों के निम्नलिखित परिचय से उनके महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रथम उपांग :

उववाइय—औपपातिक[3] जैन आगमों का पहला उपांग है। इसमें ४३ सूत्र हैं। ग्रन्थ का आरम्भ चम्पा नगरी (आधुनिक चम्पानाला, भागलपुर से लगभग ३ मील दूर) के वर्णन से किया गया है।

---

१. देखिये—स्थानांग-टीका, पृ० ४९९ अ आदि—

सत्संप्रदायहीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगांभीर्यान्मतभेदाच्च कुत्रचित्॥
क्षूणानि संभवन्तीह केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतरः॥

२. देखिये—जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३२-३४, ३६.

३. (अ) प्रस्तावना आदि के साथ—E. Leumann, Leipzig, 1883.
(आ) अभयदेवकृत वृत्तिसहित—आगमसंग्रह, कलकत्ता, सन् १८८०; आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६.
(इ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६.

चम्पा नगरी धन-धान्यादि से समृद्ध और मनुष्यों से आकीर्ण थी। सैकड़ों-हजारों हलों द्वारा यहाँ खेती की जाती थी, किसान अपने खेतों में ईख, जौ और चावल बोते तथा गाय, भैंस और भेड़ें पालते थे। यहाँ के लोग आमोद-प्रमोद के लिए कुक्कुटों और साँड़ों को रखते थे। यहाँ सुन्दर आकार के चैत्य तथा पण्य-तरुणियों के मोहल्ले थे। लांच लेनेवालों, गंठकतरों, तस्करों और कोतवालों (खंडरक्खिअ—दंडपाशिक) का यहाँ अभाव था। श्रमणों को यथेच्छ भिक्षा मिलती थी। नट, नर्तक, जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले), मल्ल, मौष्टिक (मुष्टि से लड़ने वाले), विदूषक, कथावाचक, प्लवक (तैराक), रास-गायक, शुभाशुभ बखान करने वाले, लंख (बाँस के ऊपर खेल दिखलाने वाले), मंख (चित्र दिखाकर भिक्षा माँगने वाले), तूणा बजाने वाले, तुंब की वीणा बजाने वाले और ताल देकर खेल करने वाले यहाँ रहते थे। यह नगरी आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका (बावड़ी) और पानी की क्यारियों से शोभित थी। चारों ओर से खाई और खात से मंडित थी तथा चक्र, गदा, मुसुंढि[1], उरोह (छाती को चोट पहुँचाने वाला), शतघ्नी[2] तथा निश्छिद्र कपाटों के कारण इसमें प्रवेश करना दुष्कर था। यह नगरी वक्र प्राकार (किला) से

(ई) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९.

(उ) मूल—छोटेलाल यति, जीवन कार्यालय, अजमेर, सन् १९३६.

"उपपतनं उपपातो—देवनारकजन्मसिद्धिगमनं च, अतस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकम्" (अभयदेव, औपपातिक-टीका)—अर्थात् देवनारकजन्म और सिद्धिगमन को लेकर लिखा गया शास्त्र। इस पर जिनेश्वरसूरि के शिष्य चन्द्रकुलोत्पन्न नवांगों पर वृत्ति लिखने वाले अभयदेवसूरि ने प्राचीन टीकाओं के आधार से टीका लिखी है, जिसका संशोधन गुजरात की प्राचीन राजधानी अणहिलपाटण के निवासी द्रोणाचार्य ने किया।

१. इसका आकार शतघ्नी के समान होता है। पैदल सिपाही इसके द्वारा युद्ध करते हैं।

२. इसका आकार लाठी के समान होता है। इसमें लोहे के काँटे लगे रहते हैं। इसके द्वारा एक बार में सौ मनुष्य मारे जाते हैं। महाभारत में इसका उल्लेख है।

वेष्टित, कपिशीर्षकों (कंगूरों) से शोभित तथा अट्टालिका, चरिका (गृह और प्राकार के बीच में हाथी आदि के जाने का मार्ग), द्वार, गोपुर और तोरणों से मंडित थी। गोपुर के अर्गल (मूसल) और इन्द्रकील (ओट) कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये गये थे। यहाँ के बाजारों में वणिक् और शिल्पी अपना-अपना माल बेचते थे। चम्पा नगरी के राजमार्ग सुन्दर थे और हाथियों, घोड़ों, रथों और पालकियों के आवागमन से आकीर्ण रहते थे (सूत्र १)।

चम्पा के उत्तर-पूर्व में पुरातन और सुप्रसिद्ध पूर्णभद्र नामक एक चैत्य था। यह चैत्य वेदी, छत्र, ध्वजा और घंटे से शोभित था। रूंए की बनी मार्जनी से यहाँ बुहारी दी जाती, भूमि गोबर से लीपी जाती और दीवालें खड़िया मिट्टी से पोती जाती थीं। गोशीर्ष और रक्तचन्दन के पाँच उँगलियों के थापे यहाँ लगे थे। द्वार पर चन्दन-कलश रखे थे, तोरण बँधे थे और पुष्पमालाएँ लटक रही थीं। यह चैत्य विविध रंगों के पुष्प, कुन्दुरुक्क (चीडा), तुरुष्क[1] (सिल्हक) और गंधगुटिकाओं की सुगन्धि से महकता था। नट, नर्तक आदि यहाँ अपना खेल दिखाते और भक्त लोग अपनी मनोकामना की सिद्धि के लिए चन्दन आदि से पूजा-अर्चना किया करते थे (२)।

यह चैत्य एक वनखंड से वेष्टित था जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे थे। वृक्ष पत्र, पुष्प और फलों से आच्छादित थे, जिन पर नाना पक्षी क्रीड़ा करते थे। ये वृक्ष भाँति-भाँति की लताओं से परिवेष्टित थे। यहाँ रथ आदि वाहन खड़े किये जाते थे (३)।

चम्पा नगरी में भम्भसार[2] का पुत्र राजा कूणिक राज्य करता था। यह राजा कुलीन, राजलक्षणों से सम्पन्न, राज्याभिषिक्त, विपुल भवन, शयन, आसन,

---

१. तुरुष्को यवनदेशजः—हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि (३-३१२)।

२. भम्भसार या भिंभिसार (बिंबिसार) श्रेणिक का ही दूसरा नाम है। एक किंवदन्ती के अनुसार एक बार कुशाग्रपुर (राजगृह) में आग लगने पर राजा प्रसेनजित और उसके सब कुमार महल छोड़कर भाग गये। भागते समय किसी ने घोड़ा लिया, किसी ने रत्न और किसी ने मणि-माणिक्य, लेकिन श्रेणिक एक भम्भा उठाकर भागा। प्रसेनजित के पूछने पर श्रेणिक ने उत्तर दिया कि भम्भा राजा की विजय का चिह्न है,

यान, वाहन, सोना, चाँदी, दासी, कोष, कोष्ठागार और आयुधागार का अधिपति था (६)।

राजा कूणिक की रानी धारिणी[1] लक्षण और व्यंजनयुक्त, सर्वांगसुन्दरी और संलाप आदि में कुशल थी। राजा और रानी काम-भोगों का सेवन करते हुए सुखपूर्वक समय यापन करते थे (७)।

एक दिन राजा कूणिक अनेक गणनायक, दण्डनायक, मांडलिक राजा, युवराज, तलवर (नगररक्षक), मांडलिक (सीमाप्रान्त का राजा), कौटुंबिक (परिवार का मुखिया), मन्त्री, महामन्त्री, ज्योतिषी, द्वारपाल, अमात्य, अंगरक्षक, पीठमर्द (राजा का वयस्य), नगरवासी, व्यापारी, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, दूत और संधिरक्षकों के साथ उपस्थानशाला (सभास्थान) में बैठा हुआ था। इस समय निर्ग्रन्थ-प्रवचन के शास्ता श्रमणभगवान् महावीर अनेक श्रमणों से परिवेष्टित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए चम्पा नगरी के पास आ पहुँचे (९-१०)।

राजा कूणिक के वार्तानिवेदक को ज्योंही महावीर के आगमन का पता लगा, वह प्रसन्नचित्त हो अपने घर आया। उसने स्नान किया, देवताओं को बलि दी तथा कौतुक (तिलक आदि लगाना) और मंगल करने के पश्चात् शुद्ध वस्त्राभूषण धारण कर कूणिक राजा के दरबार में पहुँचा। हाथ जोड़कर राजा को बधाई देते हुए उसने निवेदन किया : "हे देवानुप्रिय! जिनके दर्शन की आप सदैव इच्छा और अभिलाषा करते हैं और जिनके नामगोत्र के श्रवणमात्र से लोग

इसलिए उसने भम्भा ही ली। तब से श्रेणिक भम्भसार नाम से कहा जाने लगा (आवश्यकचूर्णि २, पृ० १५८)। कूणिक (अजातशत्रु) राजा श्रेणिककी रानी चेलना से उत्पन्न हुआ था। कूणिक को अशोकचन्द्र, वज्जिविदेहपुत्र अथवा विदेहपुत्र नाम से भी कहा गया है। विशेष के लिए देखिये—जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ५०८–५१२.

१. धारिणी राजा कूणिक की प्रमुख रानी थी। उववाइय (३३, पृ० १४४) के टीकाकार अभयदेव ने सुभद्रा धारिणी का ही नामान्तर बताया है। (निरयावलिया १ में) पद्मावती कूणिक राजा की दूसरी रानी थी जिसने उदायी को जन्म दिया था।

सन्तुष्ट होते हैं, वे श्रमणभगवान् महावीर पूर्वानुपूर्वी से विहार करते हुए नगर के पूर्णभद्र चैत्य में शीघ्र ही पधारने वाले हैं। यही सूचित करने के लिए आपकी सेवा में मैं उपस्थित हुआ हूँ" (११)।

भंभसार का पुत्र राजा कूणिक वार्तानिवेदक से यह समाचार सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ, हर्षोत्कम्प से उसके कटक (कंकण), बाहुबन्द, बाजूबन्द, मुकुट और कुण्डल चंचल हो उठे। वेग से वह अपने सिंहासन से उठा, पादपीठ से उतरा और उसने पादुकाएँ उतारीं। तत्पश्चात् खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानह (जूते) और चामर का त्याग कर एकशाटिक उत्तरासंग धारण कर, परम पवित्र हो, हाथ जोड़, तीर्थंकर के अभिमुख सात-आठ पग चला। फिर बायें घुटने को मोड़, दाहिने को जमीन पर रख, तीन बार मस्तक से जमीन को स्पर्श किया। फिर तनिक ऊपर उठकर, कंकण और बाहुबन्दों से स्तब्ध हुई भुजाओं को एकत्र कर, हाथ जोड़कर 'नमोत्थु अरिहंताणं' आदि पढ़कर श्रमणभगवान् महावीर को नमस्कार किया और फिर अपने आसन पर पूर्वाभिमुख हो बैठ गया। कूणिक ने शुभ समाचार देनेवाले वार्तानिवेदक को प्रीतिदान[1] देकर उसका आदर सत्कार किया और उसे आदेश दिया कि जब भगवान् पूर्णभद्र चैत्य में पधारें तो वह तुरन्त ही निवेदन करे (१२)।

अगले दिन महावीर अपने शिष्य-समुदाय के साथ विहार करते-करते चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में आ पहुँचे। उनके साथ उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञात[2], कौरव आदि कुलों के अनेक क्षत्रिय, भट, योद्धा, सेनापति, श्रेष्ठी व इभ्य (धनी) मौजूद थे जिन्होंने विपुल धन-धान्य और हिरण्य-सुवर्ण का त्याग कर महावीर के पादमूल में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। ये शिष्य मनोबल-सम्पन्न थे तथा शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थे। उनके निष्ठीवन (थूंक), मल, मूत्र, तथा हस्तादि-स्पर्श रोगी को स्वस्थ करने के लिए औषधि का काम करते थे। अनेक श्रमण मेधावी, प्रतिभासम्पन्न तथा कुशल वक्ता थे और आकाशगामिनी विद्या में निष्णात थे। वे कनकावलि, एकावलि[3], क्षुद्र सिंहनिष्क्रीडित, महासिंह-

---

१. प्रीतिदान की तालिका के लिए देखिये—नायाधम्मकहाओ १, पृ० ४२ अ–४३.

२. अभयदेव ने णाय का अर्थ नागवंश किया है जो ठीक नहीं है—इक्ष्वाकुवंशविशेषभूताः नागा वा नागवंशप्रसूताः (उववाइय, पृ० ५०)।

३. एकावलि तप की परम्परा सम्भवतः नष्ट हो जाने से अभयदेवसूरि ने इसका विवेचन नहीं किया—एकावली च नान्यत्रोपलब्धेति न लिखिता (वही पृ० ५६)।

निष्क्रीडित, भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा, आयंबिलवर्धमान, मासिकभिक्षुप्रतिमा, क्षुद्रमोकप्रतिमा, महामोकप्रतिमा, यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा नामक तपों का आचरण करते थे। क्रिया और मन्त्र में वे कुशल थे, पर-वादियों का मान मर्दन करने में पटु थे तथा निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुसार वे विहार करते थे। वे द्वादशांग-वेत्ता, गणिपिटक (जिनप्रवचन) के धारक और विविध भाषाओं के पण्डित थे। वे पांच समिति और तीन गुप्तियों को पालते, वर्षाकाल को छोड़कर बाकी के आठ महीनों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते और ग्राम में एक रात से अधिक तथा नगर में पाँच रात से अधिक निवास नहीं करते थे। ये तपस्वी अनशन, अवमौदर्य, भिक्षाचर्या (वृत्तिसंक्षेप), रसपरित्याग, कायक्लेश[1] और प्रतिसंलीनता नामक बाह्य तप, तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग नामक आभ्यंतर तप का पालन करते थे। सूत्रों का वाचन, मनन और चिन्तन करते हुए तथा तप और ध्यान द्वारा आत्मचिन्तन करते हुए वे विहार करते थे (१३-१४)।

चम्पा नगरी में श्रमण भगवान् महावीर के आगमन का समाचार सुनते ही नगरवासियों में हलचल मच गई। एक दूसरे से वे कहने लगे : "भगवान् ग्रामानुग्राम से विहार करते हुए पूर्णभद्र चैत्य में पधारे हैं। जब उनके नाम-गोत्र का श्रवण करना भी महाफलदायक है, तो फिर उनके पास पहुँच कर उनकी वन्दना करना, कुशल-वार्ता पूछना और उनकी पर्युपासना करना क्या फल-दायक न होगा ? चलो, हे देवानुप्रियो ! हम महावीर की वन्दना करें, उनका सत्कार करें और विनयपूर्वक उनकी उपासना करें। इससे हमें इस लोक और पर लोक में सुख की प्राप्ति होगी।" यह सोचकर अनेक उग्र, उग्रपुत्र, भोग, भोगपुत्र, राजन्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, भट, योद्धा, प्रशास्ता, मल्लकी, लिच्छवी[2],

---

१. कायक्लेश के निम्नलिखित भेद बताये गये हैं :—
स्थानस्थितिक, स्थानातिग, उत्कुटुक आसनिक, प्रतिमास्थायी, वीरासनिक, नैषधिक, दंडायतिक, लकुटशायी, आतापक, अपावृतक (वस्त्र रहित होकर तप करना), अकण्डूयक (तप करते हुए खुजलाना नहीं), अनिष्ठीवक (तप करते हुए थूकना नहीं)—उववाइय (१९, पृ० ७५)।

२. नौ मल्लकी और नौ लिच्छवी काशी-कोसल के अठारह गणराजा थे जिन्होंने वैशाली के राजा चेटक के साथ मिलकर राजा कूणिक के विरुद्ध युद्ध किया था (निरयावलिया १)। पावा नगरी में महावीर के निर्वाण के समय

लिच्छवी-पुत्र तथा अनेक मांडलिक राजा, युवराज, तलवर (कोतवाल), सीमा-प्रान्त के अधिपति, परिवार के स्वामी, इभ्य (धनपति), श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह आदि—कोई वन्दन के लिए, कोई पूजन के लिए, कोई दर्शन के लिए, कोई कौतूहल शान्त करने के लिए, कोई अर्थनिर्णय करने के लिए, कोई अश्रुत बात को सुनने के लिए, कोई श्रुत बात का निश्चय करने के लिए तथा कोई अर्थ, हेतु और कारणों को जानने के लिए—पूर्णभद्र चैत्य की ओर रवाना हुए। किसी ने कहा, हम मुण्डित होकर श्रमण-प्रव्रज्या लेंगे, किसी ने कहा, हम पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों[1] का पालन कर गृहिधर्म धारण करेंगे। तत्पश्चात् नगरवासी स्नानादि कर, अपने शरीर को चन्दन से चर्चित कर, सुन्दर वस्त्र और माला पहन, मणि, सुवर्ण तथा हार, अर्धहार, तिसरय (तीन लड़ी का हार), पालंब (गले का आभूषण) और कटिसूत्र आदि आभूषण धारण कर महावीर के दर्शन के लिए चल पड़े। कोई घोड़े, कोई हाथी, कोई रथ तथा कोई पालकी में सवार होकर, और कोई पैदल चलकर पूर्णभद्र चैत्य में पहुँचे। श्रमण-भगवान् महावीर को दूर से देखकर नगरवासी अपने-अपने यानों और वाहनों से उतरे और फिर तीन बार प्रदक्षिणा कर, विनय से हाथ जोड़ उनकी उपासना में संलग्न हो गये (२७)।

वार्तानिवेदक से महावीर के आगमन का समाचार पाकर राजा कूणिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने तुरत ही अपने सेनापति को आदेश दिया—"हे देवानुप्रिय! शीघ्र ही हस्तिरत्न को सज्जित करो, चातुरंगिणी सेना को तैयार करो और सुभद्रा आदि रानियों के लिए अलग-अलग यानों को सजाओ। नगरी के गली-मोहल्लों को साफ करके उनमें जल का छिड़काव करो, नगरी को मञ्चों से विभूषित करो, जगह-जगह ध्वजा और पताकाएँ फहरा दो तथा गोशीर्ष और रक्तचन्दन के थापे लगवाकर सब जगह गन्धगुटिका आदि धूप महका दो" (२८-२९)।

मल्लकी और लिच्छवी राजा मौजूद थे और उन्होंने इस अवसर पर सर्वत्र दीपक जलाकर उत्सव मनाया था (कल्पसूत्र १२८)।

१. पाँच अणुव्रत—स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसंतोष, इच्छापरिमाण। सात शिक्षाव्रत—अनर्थदण्डविरमण, दिग्व्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाण, सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग।

सेनापति ने हाथ जोड़कर राजा कूणिक की आज्ञा शिरोधार्य की। उसने महावत को बुलाया और शीघ्र ही हस्तिरत्न तथा चातुरङ्गिणी सेना को सज्जित करने का आदेश दिया। सेनापति की आज्ञा पाकर महावत ने हस्तिरत्न को उज्ज्वल वस्त्र पहनाये, कवच से सजाया, वक्षस्थल में रस्सी बाँधी, गले में आभूषण और कानों में कर्णपूर पहनाये, दोनों ओर झूल लटकायी, अस्त्र-शस्त्रों और ढाल से सज्जित किया, छत्र, ध्वजा और घण्टे लटकाये तथा पाँच शिखाओं से उसे विभूषित किया। चातुरङ्गिणी सेना के सज्जित हो जाने पर महावत ने सेनापति को खबर दी। इसके बाद सेनापति ने यानशालिक को बुलाकर उसे सुभद्रा आदि रानियों के लिए यानों को सज्जित करने का आदेश दिया। सेनापति की आज्ञा पाकर यानशाला के अधिकारी ने यानशाला में जाकर यानों का निरीक्षण किया, उन्हें झाड़-पोंछकर बाहर निकाला और उनके ऊपर के वस्त्र हटाकर उन्हें सजाया। तत्पश्चात् वह वाहनशाला में गया, बैलों को बाहर निकाल कर उसने उनके ऊपर हाथ फेरा, उन्हें वस्त्रों से आच्छादित किया और अलंकार पहनाये। इसके बाद बैलों को यानों में जोड़ा, बहलवानों के हाथ में आर (पओदलट्ठि—प्रतोदयष्टि) दी और यानों को मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। सेनापति ने नगररक्षकों को बुलाकर उन्हें नगर में छिड़काव आदि करने का आदेश दिया। सब तैयारी हो जाने पर सेनापति ने राजा कूणिक के पास पहुँचकर सविनय निवेदन किया कि महाराज गमन के लिए तैयार हो जायँ (३०)।

यह सुनकर राजा कूणिक ने व्यायामशाला में प्रवेश किया। यहाँ कुश्ती आदि विविध व्यायाम करके थक जाने के पश्चात् उसने शतपाक, सहस्रपाक आदि सुगन्धित और पुष्टिकारक तैलों द्वारा कुशल तैलमर्दकों से शरीर की मालिश करवाई और कुछ समय बाद थकान दूर हो जाने पर वह व्यायामशाला से निकला। तत्पश्चात् वह स्नानागार में गया। वहाँ मणि-मुक्ताजटित स्नानमण्डप में प्रवेश किया और रत्नजटित स्नानपीठ पर आसीन हो सुगन्धित जल द्वारा विधिपूर्वक स्नान किया। फिर रुँएदार मुलायम तौलिये से अपने शरीर को पोंछकर गोशीर्ष चन्दन का लेप किया, बहुमूल्य नये वस्त्र धारण किये, सुगन्धित माला पहनी, गले में हार, बाहुओं में बाहुबन्द, उँगलियों में मुद्रिकाएँ, कानों में कुण्डल, सिर पर मुकुट और हाथों में वीरवलय धारण किये। सिर पर छत्र लगाया गया, चमर डुलाये गये और इस प्रकार जय-जय शब्दपूर्वक राजा स्नानागार से बाहर निकला। तत्पश्चात् कूणिक अनेक गणनायक, दण्डनायक, माण्डलिक, राजा, युवराज, कोतवाल, सीमाप्रान्त के राजा, परिवार के स्वामी,

इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, दूत और सन्धिरक्षकों के साथ बाहर की उपस्थानशाला (दरबार आम) में आकर हाथी पर सवार हुआ। सबसे आगे आठ मंगल द्रव्य[1], फिर पूर्ण कलश, छत्र, पताका और चामर सहित वैजयन्ती सजाये गये। तत्पश्चात् दण्ड, छत्र, सिंहासन, पादपीठ और पादुका वहन करने वाले अनेक किंकर और कर्मकर खड़े हुए। इनके पीछे लाठी, भाला, धनुष, चामर, पाश (फाँसी), पुस्तक, फलक (ढाल), आसन, वीणा, कुतुप (तैलपात्र) और पानदान (हडप्फ) वहन करने वाले खड़े हुए। उनके पीछे अनेक दण्डी, मुण्डी, शिखण्डी (शिखाधारी), जटी (जटावाले), पिंछीवाले, विदूषक, चाटुकार, भांड आदि हँसते-बोलते और नाचते-गाते तथा जय-जयकार करते थे। तत्पश्चात् घोड़े, हाथी और रथ थे और इनके पीछे असि, शक्ति (सांग), भाला, तोमर, शूल, लकुट, भिंडिपाल (लम्बा भाला) और धनुष से सज्जित पदाति खड़े थे। कूणिक राजा का वक्षस्थल हार से, मुख कुण्डल से और मस्तक मुकुट से शोभायमान था। उसके सिर पर छत्र शोभित था और चामर डुल रहे थे। इस प्रकार बड़े ठाठ-बाठ से कूणिक ने हाथी पर सवार होकर पूर्णभद्र चैत्य की ओर प्रस्थान किया। उसके आगे बड़े घोड़े और घुड़सवार, दोनों ओर हाथी और हाथीसवार तथा पीछे-पीछे रथ चल रहे थे। शंख, पणव (छोटा ढोल), पटह, भेरी, झल्लरी, खरमुही (झांझ), हुडुक्का, मुरज, मृदंग और दुंदुभि के नाद से आकाश गुंजित हो उठा था (३१)।

जब राजा कूणिक हाथी पर सवार हो नगर मे से गुजरा तो मार्ग में अनेक द्रव्यार्थी, कामार्थी, भोगार्थी, भांड, कारोडिक (ताम्बूलवाहक—टीका), लाभार्थी, राजकर से पीड़ित, शंखवादक, कुम्भकार, तेली, कृषक (णंगलिया)[2], चाटुकार, भाट तथा छात्र (खण्डियगण) आदि प्रिय और मनोज्ञ वचनों द्वारा राजा को बधाई दे रहे थे—आप दुर्जयों को जीतें, जीते हुओं का पालन करें, परम आयुष्मान् हों, समस्त राज्य की सुखपूर्वक रक्षा करें और विपुल भोगों का उपभोग करते हुए काल यापन करें। इस प्रकार अनेक नर-नारियों से स्तुति

---

१. स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक (शराव; पुरुषारूढपुरुष इत्यन्ये; स्वस्तिकपंचकमित्यन्ये; प्रासादविशेष इत्यन्ये), भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण। मथुरा की कला में आठ मांगलिक चिह्न अंकित हैं।

२. गलकावलंबितसुवर्णादिमयहलधारिणो भट्टविशेषाः—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, पृ० १४२.

किया जाता हुआ और अभिवादन किया जाता हुआ राजा कूणिक पूर्णभद्र चैत्य में पहुँचा। दूर से महावीर को देखकर वह अपने हाथी से उतरा, उसने अपने राजचिह्नों को उतार दिया और उनके पास पहुँच पाँच अभिगम[1] पूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा कर, नमस्कार कर और अपने हस्तपाद को संकुचित कर धर्मश्रवण के लिए बैठ गया (३२)।

सुभद्राप्रमुख रानियाँ भी स्नान आदि कर सर्वालंकार विभूषित हो देश-विदेश की अनेक कुशल दासियों[2] तथा वर्षधर (अन्तःपुर की रक्षा करनेवाले नपुंसक), कंचुकी और महत्तर[3] आदि से परिवृत्त हो अन्तःपुर से निकलीं और यानों में बैठकर भगवान् के दर्शन के लिए चलीं। पूर्णभद्र चैत्य में पहुँच कर वे यानों से उतरीं और पाँच अभिगमपूर्वक महावीर की प्रदक्षिणा कर, उन्हें नमस्कार कर, कूणिक राजा को आगे कर, परिवार सहित खड़ी हो भगवान् की उपासना करने लगीं (३३)।

महावीर मेघ के समान गंभीर ध्वनि से अर्धमागधी भाषा में महती परिषद् में उपस्थित जनसमूह को धर्मोपदेश देने लगे। उन्होंने निर्ग्रन्थ-प्रवचन का प्रतिपादन करते हुए अगार और अनगार धर्म का उपदेश दिया (३४)।

धर्मोपदेश श्रवण कर परिषद् के सभासदों ने तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् को अभिवादन किया। कुछ ने अगार धर्म का त्याग कर अनगार धर्म धारण

---

१. सचित्त द्रव्य का त्याग, अचित्त का ग्रहण, एकशाटी उत्तरासंग धारण, भगवान् के दर्शन करने पर हाथ जोड़कर अभिवादन एवं मन की एकाग्रता।

२. कुब्जा, चिलात (किरात) देश की रहनेवाली, बौनी, वडभी (बड़े पेटवाली), बर्बर देश की रहनेवाली, बउस (?) देश की रहनेवाली, यवन देश की रहनेवाली, पह्लव देश की रहनेवाली, ईसान (?) देश की रहनेवाली, धोरुकिन (?) या वारुण देश की रहनेवाली, लासक देश की रहनेवाली, लउस (?) देश की रहनेवाली, सिंहल की रहनेवाली, द्रविड की रहनेवाली, अरब की रहनेवाली, पुलिंद की रहनेवाली, पक्कण की रहनेवाली, मुरुंड की रहनेवाली, शबरी और पारस की रहनेवाली।

३. वात्स्यायन के कामसूत्र में कंचुकीया और महत्तरिका का उल्लेख है। इनके द्वारा अन्तःपुर की रानियाँ राजा के पास संदेश भेजा करती थीं। देखिये—जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ५४–५५.

किया और कुछ ने पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत ग्रहण कर गृहिधर्म स्वीकार किया। जनसमुदाय महावीर के उपदेश की प्रशंसा करने लगा—"भंते ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन का आपने सुन्दर व्याख्यान किया है, सुन्दर प्रतिपादन किया है। आपने उपशम, विवेक, वैराग्य और पापों के त्याग का प्ररूपण किया है। अन्य कोई श्रमण-ब्राह्मण ऐसे धर्म का प्रतिपादन नहीं करता।" राजा कूणिक और सुभद्रा आदि रानियों ने भी महावीर के धर्मोपदेश की सराहना की (३५–७)।

उस समय श्रमणभगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम इन्द्रभूति नामक गणधर[1] महावीर के पास ही ध्यान में संलग्न हुए घोर तप कर रहे थे। तप करते-करते उनके मन में कुछ संशय उत्पन्न हुआ और भगवान् के समीप उपस्थित हो उन्होंने जीव और कर्मबंध विषयक अनेक प्रश्न किये (३८)।

मनुष्यों के भवसम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुए महावीर ने अनेक विषयों का प्रतिपादन किया :—

दण्ड के प्रकार :

लोहे या लकड़ी के बन्धन में हाथ-पैर बाँध देना (अंडुबद्धग), लोहे की जंजीर में पैर बाँध देना (णिअलबद्धग), पैरों में भारी लकड़ी बाँध देना (हडिबद्धग), जेल में डाल देना (चारगबद्धग), हाथ, पैर, कान, नाक, ओठ, जीभ, सिर, मुख (गले की नली), उदर और लिंग (वेकच्छ) को छेद देना, कलेजे का मांस खींच लेना, आँख, दाँत, अण्डकोष और ग्रीवा को खींच लेना, चाँवल के बराबर शरीर के टुकड़े कर देना, इन टुकड़ों को जबर्दस्ती भक्षण कराना, रस्सी से बाँध कर गड्ढे में लटका देना, हाथ बाँध कर वृक्ष की शाखा में लटका देना, चन्दन की भाँति बिलोना, लकड़ी की भाँति फाड़ना, ईख की भाँति पेलना, शूली पर चढ़ा देना, शूल को मस्तक के आर-पार कर देना, खार में डाल देना, चमड़े की भाँति उखाड़ना, लिंग को तोड़ना, दावानल में जला देना और कीचड़ में डुबो देना।

मृत्यु के प्रकार :

भूख आदि से पीड़ित होकर मर जाना, इन्द्रियों की परवशता के कारण मर जाना, निदान (इच्छा) करके मरना, भीतरी घाव से मरना, पर्वत या वृक्ष

---

१. इन्द्रभूति महावीर के प्रथम गणधर थे। बाकी के नाम हैं—अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास।

से गिरकर या निर्जल देश में मरना, जल में डूब कर मरना, विष भक्षण कर अथवा शस्त्रघात से मरना, फाँसी पर लटक जाना, गीध पक्षियों से विदारित किया जाना या किसी जंगल में प्राण त्याग देना[1] (३८)।

विधवा स्त्रियाँ :

जिनके पति मर गये हों, जो बाल विधवा हो गई हों, जो त्याग दी गई हों, माता-पिता-भाई-कुलगृह और श्वसुर द्वारा रक्षित हों,[2] पुष्प-गंध-माल्य-अलंकार का जिन्होंने त्याग कर दिया हो, स्नान के अभाव में जो शुद्ध और स्वच्छ न रहती हों, दूध-दही-मक्खन-तेल-गुड़-लवण-मधु-मद्य-मांस का जिन्होंने त्याग कर दिया हो, तथा जिनकी इच्छाएँ, आरम्भ और परिग्रह अल्प हो गये हों (३८)।

व्रती और साधु :

गौतम—इनके पास एक छोटा-सा बैल होता है जिसके गले में कौड़ियों की माला पड़ी रहती है। यह बैल लोगों के चरण स्पर्श करता है। भिक्षा मांगते समय गौतम साधु इस बैल को साथ रखते हैं[3]।

गोव्रतिक—गोव्रत रखने वाले। जिस समय गाय गाँव से बाहर जाती है, ये लोग भी उसके साथ जाते हैं। जब वह चरती है तो ये भी चरने लगते हैं, पानी पीती है तो ये भी पानी पीने लगते हैं, और जब वह सोती है तो ये भी सो जाते हैं। गाय की तरह ये साधु भी तृण-पत्र आदि का ही भोजन करते हैं।[4]

गृहिधर्म—ये देव और अतिथि आदि को दान देकर सन्तुष्ट करते हैं, और गृहस्थ धर्म का पालन करते हैं।

धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र के पाठक[5]।

---

१. दण्डों के प्रकार आदि के लिए प्रश्नव्याकरणसूत्र (१२, पृ० ५० अ आदि) भी देखना चाहिए।

२. टीकाकार ने इसका अर्थ किया है—कूर्चरोमाणि यद्यपि स्त्रीणां न भवन्ति तथापि कासांचिदल्पानि भवन्त्यपीति तद्ग्रहणम् (पृ० १६८)।

३. अंगुत्तरनिकाय (३, पृ० २७६) में गोतमक साधुओं का उल्लेख है।

४. मज्झिमनिकाय (३, पृ० ३८७ आदि और टीका) तथा ललितविस्तर (पृ० २४८) में गोव्रतिक साधुओं का उल्लेख मिलता है।

५. अनुयोगद्वारसूत्र (२०) की टीका में याज्ञवल्क्य आदि ऋषिप्रणीत धर्मसंहिताओं का चिन्तन और तदनुसार आचरण करनेवाले को धर्म-चिन्तक कहा गया है।

अविरुद्ध—जो देवता, राजा, माता, पिता, पशु आदि की समान भाव से भक्ति करते हों, जैसे वैश्यायनपुत्र[1]। सबकी विनय करने के कारण ये विनयवादी भी कहे जाते हैं।

विरुद्ध—अक्रियावादियों को विरुद्ध कहते हैं। पुण्य-पाप, परलोक आदि में ये विश्वास नहीं करते।

वृद्ध—जिन्होंने वृद्ध अवस्था में दीक्षा ग्रहण की हो।

श्रावक—धर्मशास्त्र सुनने वाले ब्राह्मण।

ये गौतम आदि उक्त साधु सरसों के तेल को छोड़कर नौ रसों—दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य और मांस का भक्षण नहीं करते (३८)।

गंगातटवासी वानप्रस्थी तापस :

होत्तिय—अग्निहोत्र करने वाले।

पोत्तिय—वस्त्रधारी।

कोत्तिय—भूमि पर सोने वाले।

जण्णई—यज्ञ करने वाले।

सड्ढई—श्रद्धाशील।

थालई—सब सामान लेकर चलने वाले।

हुंबउट्ठ—कुण्डी लेकर चलने वाले।

दन्तुक्खलिय—दाँतों से चबाकर खाने वाले।

उम्मज्जक—उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले।

सम्मज्जक—अनेक बार उन्मज्जन करके स्नान करने वाले।

निमज्जक—स्नान करते समय क्षणभर जल मे निमग्न रहने वाले।

संपक्खाल—शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करने वाले।

---

१. जब महावीर विहार करते-करते गोशाल के साथ कुम्मगाम में आये तो वहाँ वेसायण अपने हाथों को ऊँचा उठाये, प्राणामा प्रव्रज्यापूर्वक तप कर रहा था। इस तप के अनुसार साधु, राजा, हाथी, घोड़ा, कौआ आदि जिस किसी को भी देखता उसी को नमस्कार करता था (आवश्यक-निर्युक्ति ४९४; आवश्यकचूर्णि, पृ० २९८)। ताम्रलिप्ति के मौर्यपुत्र तामलि ने भी प्राणामा प्रव्रज्या ग्रहण की थी (भगवतीसूत्र ३, १)। अंगुत्तरनिकाय (३, पृ० २७६) में अविरुद्धकों का उल्लेख मिलता है।

दक्खिणकूलग—गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।

उत्तरकूलग—गंगा के उत्तर तट पर रहने वाले।

संखधमक—शंख बजाकर भोजन करने वाले, जिससे भोजन करते समय कोई दूसरा व्यक्ति न आ जाय।

कूलधमक—किनारे पर खड़े होकर आवाज करके भोजन करने वाले।

मियलुद्धय—पशुभक्षण करने वाले।

हत्थितावस—जो हाथी को मारकर बहुत काल तक भक्षण करते रहते हों। इन तपस्वियों का कहना है कि वे एक हाथी को एक वर्ष में मारकर केवल एक ही पाप का संचय करते हैं और इस तरह जीवों के मारने के पाप से बच जाते हैं।[1]

उड्डंडक—जो दण्ड को ऊपर करके चलते हों।[2]

दिसापोक्खी—जो जल द्वारा दिशाओं को सिंचित कर पुष्प, फल आदि बटोरते हों[3]।

वक्कवासी—वल्कल के वस्त्र पहननेवाले।

---

१. सूत्रकृतांग (२, ६) में हस्तितापसों का उल्लेख है। टीकाकार के अनुसार बौद्ध भिक्षुओं को हस्तितापस कहा गया है। ललितविस्तर (पृ० २४८) में हस्तिव्रत तापसों का उल्लेख है।

२. आचारांगचूर्णि (५, पृ० १६९) में उड्डंडग, बोडिय और सरक्ख साधुओं को शरीरमात्र-परिग्रही और पाणिपुट-भोजी कहा गया है।

३. भगवती (११–९) में हस्तिनापुर के शिव राजर्षि की तपस्या का वर्णन मिलता है जो दिशाप्रोक्षक तपस्वियों के पास जाकर दीक्षित हो गया था। वह भुजाएँ ऊपर उठाकर छट्ठमछट्ठ तप करता था। प्रथम छट्ठम तप के पारणा के दिन वह पूर्व दिशा को सिंचित कर सोम महाराज की वंदना-पूजा कर कंद-मूल-फल आदि से अपनी टोकरी भर लेता। तत्पश्चात् अपनी कुटी में पहुँचकर वेदी को लीप-पोत उसे शुद्ध करता और फिर गंगास्नान करता। उसके बाद दर्भ, कुश और बालू से दूसरी वेदी बनाता, मंथन-काष्ठ द्वारा अरणि को घिसकर अग्नि जलाता, मधु, घी, और चावलों द्वारा अग्नि में होम करता, और चरु पकाकर वह्निदेव (अग्नि) की पूजा करता। तत्पश्चात् अतिथियों को भोजन कराकर स्वयं भोजन करता। फिर वह दूसरी बार छट्ठमछट्ठ तप करता। इस बार दक्षिण दिशा के अधिपति यम की पूजा करता। तीसरी बार पश्चिम दिशा के अधिपति वरुण और

अंबुवासी—जल में रहनेवाले।

बिलवासी—बिल में रहनेवाले।

जलवासी—जल में निमग्न होकर बैठे रहनेवाले।

वेलवासी—समुद्र के किनारे रहनेवाले।

रुक्खमूलिआ—वृक्ष के नीचे रहनेवाले।

अंबुभक्खी—जल भक्षण करनेवाले।

वाउभक्खी—हवा पीकर रहनेवाले।

सेवालभक्खी—शेवाल खाकर रहनेवाले।

अनेक तपस्वी मूल, कंद, छाल, पत्ते, पुष्प और बीज खाकर रहते थे, अनेक सड़े हुए मूल, कंद आदि भक्षण करते थे। स्नान करते रहने से उनका शरीर पीला पड़ जाता, तथा आतापना और पंचाग्नि-तप से वे अपने शरीर को तपाते थे[1] (३८)।

प्रव्रजित श्रमण:

संखा—सांख्य।

जोई—योग के अनुयायी।

कविल—कपिल को माननेवाले।

भिउच्च—भृगु ऋषि के अनुयायी।

हंस—जो पर्वत, कुहर, पथ, आश्रम, देवकुल और आराम में रहते हों तथा भिक्षा के लिए गाँव में पर्यटन करते हों।

परमहंस—जो नदीतट और संगम-प्रदेशों में रहते हों तथा चीर, कौपीन और कुश को त्याग कर प्राणत्याग करते हों।

बहुउदय—जो गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात रहते हों।

चौथी बार उत्तर दिशा के अधिपति वैश्रमण महाराज की पूजा करता। बनारस का सोमिल नामक तपस्वी भी चार दिशाओं का पूजक था (निरयावलिया ३, पृ० ३९)। राजा प्रसन्नचन्द्र भी अपनी रानीसहित दिशाप्रोक्षकों के धर्म में दीक्षित हुआ था (आवश्यकचूर्णि, पृ० ४५७)।

1. इन तपस्वियों के लिए निरयावलिया सूत्र (३, पृ० २४–२५) भी देखना चाहिए।

कुडिव्वय—जो घर में रहते हों तथा क्रोध, लोभ और मोहरहित होकर अहंकार का त्याग करने के लिए प्रयत्नशील हों[1]

कण्हपरिव्वायग—कृष्ण परिव्राजक अथवा नारायण के भक्त (३८)।

ब्राह्मण परिव्राजक :

कण्डु (अथवा कण्ण),
करकंडु,
अंबड[2],
परासर,
कण्हदीवायण[3],
देवगुप्त, और
णारय।

क्षत्रिय परिव्राजक :

सेलई,
ससिहार (ससिहर अथवा मसिहार ?),
णग्गई (नग्नजित्),
भग्गई,
विदेह,
रायाराय (?),
रायाराम (?), और
बल (?)।

ये परिव्राजक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इतिहास और निघंटु के सांगोपांग-वेत्ता, षष्ठितंत्र में विशारद, गणित, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त, और ज्योतिषशास्त्र तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथों में निष्णात थे। ये दान, शौच और तीर्थ-

---

१. हरिभद्र ने षड्दर्शनसमुच्चय (पृ० ८ अ) तथा एच० एच० विल्सन ने रिलीजन्स ऑफ हिन्दूज़, भाग १ (पृ० ३१ आदि) में हंस, परमहंस आदि का वर्णन किया है।

२. ऋषिभाषित, थेरीगाथा (११६) और महाभारत (१, ११४, ३५) में उल्लेख है।

३. कण्हदीवायण का जातक (४, पृ० ८३, ८७) और महाभारत (१, ११४, ४५) में उल्लेख है।

स्नान का उपदेश देते थे। इनका कहना था कि जो पदार्थ अशुचि है वह मिट्टी से धोने से पवित्र हो जाता है और हम निर्मल आचार और निरवद्य व्यवहार से युक्त होकर अभिषेक जल से अपने को पवित्र कर स्वर्ग प्राप्त करेंगे। ये परिव्राजक कूप, तालाब, नदी, वापी, पुष्करिणी, दीर्घिका, गुंजालिया, सर और सागर में प्रवेश नहीं करते; गाड़ी, पालकी आदि मे नहीं बैठते; घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैल, भैंस और गधे पर सवार नहीं होते; नट, मागध आदि का खेल नहीं देखते; हरित् वस्तु का लेप और उन्मूलन आदि नहीं करते; भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, और चोरकथा नहीं कहते और अनर्थदण्ड नहीं करते। वे लोहे, राँगे, ताँबे, जस्ते, सीसे, चांदी व सोने के तथा अन्य बहुमूल्य पात्रों को धारण नहीं करते; केवल तुंबी, लकड़ी या मिट्टी के पात्र ही रखते। भांति-भांति के रंग-विरंगे वस्त्र नहीं पहनते, केवल गेरुए वस्त्र (धाउरत्त) ही पहनते। हार, अर्धहार आदि कीमती आभूषण नहीं पहनते, केवल एक ताँबे की अंगूठी पहनते। मालाएँ धारण नहीं करते, केवल एक कर्णपूर ही पहनते। अगुरु, चन्दन और कुंकुम से अपने शरीर पर लेप नहीं कर सकते, केवल गंगा की मिट्टी का ही उपयोग कर सकते। वे कीचड़ रहित बहता हुआ, छाना हुआ अथवा किसी के द्वारा दिया हुआ, मगध देश के एक प्रस्थ जितना[1] स्वच्छ जल केवल पीने के लिए ग्रहण करते, थाली, चम्मच धोने अथवा स्नान आदि करने के लिए नहीं। ये परिव्राजक मरकर ब्रह्मलोक में उत्पन्न होते (३८)।

अम्मड परिव्राजक के सात शिष्य :

एक बार अम्मड परिव्राजक के सात शिष्यों ने ग्रीष्मकाल में ज्येष्ठ मास में गंगा के किनारे-किनारे कंपिल्लपुर[2] नगर से पुरिमताल[3] की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में एक बड़ा जंगल पड़ता था। परिव्राजकों का पूर्वगृहीत जल समाप्त हो जाने पर उन्हें जोर की प्यास लगी और पास में किसी के दिखाई न देने पर उन्होंने सोचा कि किसी जलदाता को ढूंढ़ना चाहिए। लेकिन वहाँ कोई जलदाता दिखायी न दिया। उन्होंने सोचा कि यदि हम आपत्काल मे बिना दिया जल ग्रहण करेंगे तो तपभ्रष्ट हो जायेंगे। ऐसी दशा मे यही बेहतर है कि हम अपने त्रिदंड, कुंडिका

---

१. २ असई = १ पसई, २ पसई = १ सेइया, ४ सेइया = १ कुलब
४ कुलब = १ प्रस्थ, ४ प्रस्थ = १ आढक, ४ आढक = १ द्रोण।

२. कंपिल, फर्रुखाबाद जिला, जो उत्तरप्रदेश में है।

३. यह स्थान अयोध्या का शाखानगर था (आवश्यकनिर्युक्ति, ३८२)।

(कमण्डलु), कंचणिया (रुद्राक्ष की माला), करोडिया (मिट्टी का बर्तन), भिसिया (आसन), छण्णालय (तिपाई), अंकुश, केसरिया (साफ करने का वस्त्र), पवित्तय (अंगूठी), गणेत्तिया (हाथ का आभूषण), छतरी, जूते, पादुका और गेरुए कपड़ों को एकांत में रख, गंगा में प्रवेश कर, बालुका पर पर्यंक आसन से पूर्वाभिमुख बैठ, सल्लेखनापूर्वक भक्तपान का त्याग कर, वृक्ष के समान निश्चल और अकांक्षा रहित हो जीवन का परित्याग करें। यह निश्चय कर अरिहंतों, श्रमण भगवान् महावीर और धर्माचार्य अम्मड परिव्राजक को नमस्कार कर वे कहने लगे—"पहले हमने अम्मड परिव्राजक के समीप यावज्जीवन स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूल मैथुन और स्थूल परिग्रह का त्याग किया था; अब हम महावीर को साक्षी करके समस्त प्राणातिपात आदि पापों का, सर्व क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का, सर्व अशन, पान आदि मनोज्ञ पदार्थों का त्याग करते हैं; हमें शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, दंशमशक आदि परीषह बाधा न दें।" यह कहकर उन्होंने सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग किया (३९)।

अम्मड परिव्राजक :

अम्मड परिव्राजक कंपिल्लपुर नगर में केवल सौ घरों से आहार लेता था, और सौ घरों में वसति ग्रहण करता था। उसने छट्ठमछट्ठ तपोकर्म से सूर्य के अभिमुख ऊर्ध्व बाहु करके आतापना भूमि से आतापना करते हुए अवधिज्ञान प्राप्त किया। वह जल में प्रवेश नहीं करता, गाड़ी आदि मे नहीं बैठता, गंगा की मिट्टी के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का शरीर में लेप नहीं करता। अपने लिए बनाया हुआ आधाकर्म, औद्देशिक आदि भोजन ग्रहण नहीं करता। कांतार-भक्त, दुर्भिक्ष-भक्त, प्राघूर्णक-भक्त (अतिथियों के लिए बनाया भोजन), तथा दुर्दिन में बनाया हुआ भोजन ग्रहण नहीं करता। अपध्यान, प्रमादचर्या, हिंसाप्रधान और पाप कर्म का उपदेश नहीं देता। वह कीचड़ रहित बहता हुआ, छाना हुआ, मगध देश के आधे आढक के प्रमाण में स्वच्छ जल केवल पीने के लिए ग्रहण करता; थाली, चम्मच धोने अथवा स्नान आदि करने के लिए नहीं। अर्हंत और अर्हंत-चैत्यों को छोड़कर शाक्य आदि किसी और धर्मगुरु को नमस्कार नहीं करता। सल्लेखनापूर्वक कालधर्म को प्राप्त कर वह ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ[1]।

---

१. अमरसूरि का अम्बडचरित्र भी देखना चाहिए।

देवलोक से च्युत होकर अम्मड परिव्राजक महाविदेह में उत्पन्न हुआ। उसके जन्मदिवस की खुशी में पहले दिन ठिइवडिय[1] (स्थितिपतिता) उत्सव, दूसरे दिन चन्द्रसूर्यदर्शन और छठे दिन जागरिक (रात्रिजागरण)[2] उत्सव मनाया गया। उसके बाद ग्यारहवें दिन सूतक बीत जाने पर बारहवें दिन नामसंस्करण किया गया और बालक दृढप्रतिज्ञ नाम से कहा जाने लगा। आठ वर्ष बीत जाने पर उसे शुभ तिथि और नक्षत्र में पढ़ने के लिए कलाचार्य के पास भेजा गया। वहाँ उसे निम्नांकित ७२ कलाओं की शिक्षा दी गईः—

१—लेह (लेखन),
२—गणिय (गणित),
३—रूव (चित्र बनाना),
४—नट्ट (नृत्य),
५—वाइय (वादित्र),
६—सरगय (सात स्वरों का ज्ञान),
७—पोक्खरगय (मृदंग वगैरह बजाने का ज्ञान),
८—समताल (गीत आदि के समताल का ज्ञान),
९—जूय (जूआ),
१०—जणवय (एक प्रकार का जूआ),
११—पासय (पासे का ज्ञान),
१२—अट्ठावय (चौपड़),
१३—पोरेकव्व (शीघ्रकवित्व),
१४—दगमट्टिय (मिश्रित द्रव्यों की पृथक्करण-विद्या),
१५—अण्णविहि (पाकविद्या),
१६—पाणविहि (पानी स्वच्छ करने और उसके गुण-दोष परखने की विद्या, अथवा जल-पान की विधि),
१७—वत्थविहि (वस्त्र पहनने की विद्या),
१८—विलेवणविहि (केशर, चन्दन आदि के लेपन करने की विद्या),
१९—सयणविहि (पलंग, बिस्तरे आदि के परिमाण का ज्ञान अथवा शयन संबन्धी ज्ञान),

---

१. स्थितौ—कुलस्य लोकस्य वा मर्यादायां पतिता—गता या पुत्रजन्ममहाप्रक्रिया (भगवती ११-११ टीका)।

२. महावीर का जन्म होने पर पहले दिन स्थितिपतिता, दूसरे दिन चन्द्र-सूर्यदर्शन और छठे दिन धर्मजागरिका मनाने का उल्लेख है (कल्पसूत्र

२०—अज्ज (आर्या छंद के भेद-प्रभेदों का ज्ञान),
२१—पहेलिय (पहेली का ज्ञान),
२२—मागहिय (मागधी छंद का ज्ञान),
२३—गाहा (गाथा का ज्ञान),
२४—सिलोय (श्लोक के भेद-प्रभेदों का ज्ञान),
२५—हिरण्णजुत्ती (चाँदी के आभूषण पहनने का ज्ञान),
२६—सुवण्णजुत्ती (सुवर्ण के आभूषण पहनने का ज्ञान),
२७—चुण्णजुत्ती (स्नान, मंजन आदि के लिए चूर्ण बनाने की युक्ति),
२८—आभिरणविही (आभरण पहनने की विधि),
२९—तरुणीपडिकम्म (युवतियों के सुन्दर होने की विधि),
३०—इत्थीलक्खण (स्त्रियों के लक्षण का ज्ञान),
३१—पुरिसलक्खण (पुरुषों के लक्षण का ज्ञान),
३२—हयलक्खण (घोड़ों के लक्षण का ज्ञान),
३३—गयलक्खण (हाथियों के लक्षण का ज्ञान),
३४—गोणलक्खण (गायों के लक्षण का ज्ञान),
३५—कुक्कुडलक्खण (मुर्गों के लक्षण का ज्ञान),
३६—चक्कलक्खण (चक्र के लक्षण का ज्ञान),
३७—छत्तलक्खण (छत्र के लक्षण का ज्ञान),
३८—चम्मलक्खण (चमड़े के लक्षण का ज्ञान),
३९—दंडलक्खण (दंड के लक्षण का ज्ञान),
४०—असिलक्खण (तलवार के लक्षण का ज्ञान),
४१—मणिलक्खण[1] (मणि के लक्षण का ज्ञान),

५, पृ० ८१-८२)। नायाधम्मकहाओ (१, पृ० ३६ अ) में पहले दिन जातकर्म, फिर जागरिका, फिर चन्द्रसूर्यदर्शन आदि का उल्लेख है। भगवतीसूत्र (११-११) में पहले दस दिन तक स्थितिपतिता, फिर चन्द्रसूर्यदर्शन, जागरिका, नामकरण, परंगामण (घुटने चलना), चंक्रमण, जेमामण, पिंडवर्धन, पजम्पावण (प्रजल्पन), कर्णवेध, संवत्सरप्रतिलेख (बरसगांठ), चोलोपण (चूडाकर्म), उपनयन, कलाग्रहण आदि का उल्लेख है।

1. हय-गय-गोण-कुक्कुड-छत्त-असि-मणि और काकिणी लक्षण कलाओं की व्याख्या बृहत्संहिता (क्रमशः अध्याय ६७, ६५, ६६, ६०, ६२, ७२, ४९ और ७९) में की गई है।

४२—काकणीलक्खण (काकणी रत्न के लक्षण का ज्ञान),
४३—वत्थुविद्या (वास्तुविद्या),
४४—खंधारमाण (सेना के परिमाण का ज्ञान),
४५—नगरमाण (नगर के परिमाण का ज्ञान),
४६—वत्थुनिवेसण (घर की नींव आदि रखने का ज्ञान),
४७—वूह (व्यूह-रचना का ज्ञान),
४८—पडिवूह (प्रतिद्वंद्वी के व्यूह का ज्ञान),
४९—चार (ग्रहों की गति आदि का ज्ञान),
५०—प्रतिचार (ग्रहों की प्रतिकूल गति का ज्ञान),
५१—चक्रव्यूह,
५२—गरुडव्यूह,
५३—शकटव्यूह,
५४—जुद्ध (युद्ध),
५५—निजुद्ध (मल्लयुद्ध),
५६—जुद्धातिजुद्ध (घोरयुद्ध),
५७—मुट्ठिजुद्ध (मुष्टियुद्ध),
५८—बाहुजुद्ध (बाहुयुद्ध),
५९—लयाजुद्ध (लता की भाँति शत्रु से लिपटकर युद्ध करना),
६०—इसत्थ (इषु अर्थात् बाण और अस्त्रों का ज्ञान),
६१—छरुप्पवाय (खड्गविद्या),
६२—धणुव्वेय (धनुर्वेद),
६३—हिरण्णपाग (चाँदी बनाने की कीमिया),
६४—सुवण्णपाग (सोना बनाने की कीमिया),
६५—वट्टखेड (वस्त्र का खेल बनाना),
६६—सुत्तखेड[1] (रस्सी या डोरी से खेल करना),
६७—णालियाखेड (एक प्रकार का जुआ),
६८—पत्तच्छेज्ज (पत्ररचना)[2],

---

१. कुट्टिनीमतम् (१२४) में सूत्रक्रीडा का उल्लेख है।
२. पत्रच्छेद्य का उल्लेख कुट्टिनीमतम् (२३६) और कादम्बरी (पृ० १२६, काले संस्करण) में मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुसार पत्ररचना का अर्थ है दीवाल या भूमि पर चित्ररचना की कला। जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका-

६९—कडच्छेज्ज (अनेक वस्तुओं को क्रमशः छेदना),
७०—सज्जीव (मृत धातुओं को स्वाभाविक रूप में लाना),
७१—निज्जीव[1] (सुवर्ण आदि धातुओं को मारना),
७२—सउणरुअ[2] (शकुन और विभिन्न आवाजों का ज्ञान)[3] ।

कलाओं की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् दृढप्रतिज्ञ के माता-पिता ने कलाचार्य को विपुल भोजन, पान तथा वस्त्र-अलंकार आदि से सन्मानित कर प्रीतिदान दिया। दृढप्रतिज्ञ ७२ कलाओं का पण्डित, १८ देशी भाषाओं[4] में विशारद, गीत, गंधर्व और नाट्य में कुशल, हाथी, घोड़े और रथ पर बैठकर युद्ध करनेवाला, बाहुओं से युद्ध करनेवाला तथा अत्यन्त वीर और साहसी बन गया। कालान्तर में श्रमणधर्म स्वीकार कर उसने सिद्धगति प्राप्त की (४०)

नुसार इसका अर्थ है पत्तों के छेदन में हस्तलाघव प्रदर्शित करना—अष्टोत्तर-शतपत्राणां मध्ये विवक्षितसंख्याकपत्रच्छेदने हस्तलाघवम् ।

१. सजीव और निर्जीव का उल्लेख दशकुमारचरित (काले संस्करण २, पृ० ६६) में मिलता है। चरक और सुश्रुत में धातुओं की मारणविधि दी हुई है।

२. इसका उल्लेख बृहत्संहिता (अध्याय ८७) में मिलता है। मूलसर्वास्तिवाद के विनयवस्तु में भी सर्वभूतरुत का उल्लेख है।

३. ७२ कलाओं में से बहुत सी कलाओं का एक-दूसरे में अन्तर्भाव हो जाता है। वात्स्यायन के कामसूत्र में ६४ कलाओं का उल्लेख है। इन कलाओं के साथ उपर्युक्त ७२ कलाओं की तुलना पं० बेचरदासजी ने अपनी 'महावीरनी धर्मकथाओ' (पृ० १९३ आदि) में की है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका (२, पृ० १३९ आदि) में स्त्रियों की ६४ कलाओं की व्याख्या की गई है। कलाओं के लिए देखिये—नायाधम्मकहाओ (१, पृ० २१), समवायांग (पृ० ७७ अ), रायपसेणइय (सूत्र २११), जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका (पृ० २, १३६ आदि), अमूल्यचन्द्रसेन, सोशल लाइफ इन जैन सिस्टम ऑफ एजुकेशन, पृ० ७४ आदि।

४. मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाट, द्रविड, गौड, विदर्भ आदि देशों में बोली जानेवाली भाषाएँ। जैन श्रमणों के लिए देशी भाषाओं का परिज्ञान आवश्यक बताया गया है।

आजीविक :

दुघरंतरिया—एक घर में भिक्षा ग्रहण कर दो घर छोड़ कर भिक्षा लेनेवाले।

तिघरंतरिया—एक घर में भिक्षा ग्रहण कर तीन घर छोड़ कर भिक्षा लेनेवाले।

सत्तघरंतरिया—एक घर में भिक्षा ग्रहण कर सात घर छोड़ कर भिक्षा लेनेवाले।

उप्पलबेंटिया—कमल के डंठल खाकर रहनेवाले।

घरसमुदाणिय—प्रत्येक घर से भिक्षा लेनेवाले।

विज्जुअंतरिया—बिजली गिरने के समय भिक्षा न लेनेवाले।

उट्टियसमण—किसी बड़े मिट्टी के बर्तन में बैठकर तप करनेवाले।

ये श्रमण[1] मर कर अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।

अन्य श्रमण :

अत्तुक्कोसिय—आत्मप्रशंसा करनेवाले।

परपरिवाइय—परनिन्दा करनेवाले; अवर्णवादी[2]।

भूइकम्मिय—ज्वरग्रस्त लोगों को भूति (राख) देकर निरोग करनेवाले।

भुज्जो भुज्जो कोउयकारक—सौभाग्य वृद्धि के लिए बार-बार स्नान आदि करनेवाले।

---

१. आजीविक मत के अनुयायी गोशाल और महावीर के साथ-साथ रहने का उल्लेख भगवतीसूत्र (१५) में आता है। आजीविक मत का जन्म गोशाल से ११७ वर्ष पूर्व हुआ था। गोशाल आठ महानिमित्तों का ज्ञाता था तथा आर्य कालक ने आजीविक श्रमणों से निमित्तविद्या का अध्ययन किया था (पंचकल्पचूर्णि, पं० कल्याणविजय के 'श्रमण भगवान महावीर', पृ० २६० में उल्लिखित)। स्थानांग (४-३०९) में आजीविकों के उग्र तप का वर्णन है। विशेष के लिए देखिये—जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन एंशियेंट इंडिया, पृ० २०७ आदि, जैन आगम में भारतीय समाज, पृ० ४१९-४२१, तथा ए० एल० बाशम, हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रीन्स ऑफ द आजीविकाज़।

२. भगवती (१-२) में इन्हें किल्विषक कहा गया है।

सात निह्नव :

बहुरय—इस मत के अनुसार कार्य क्रिया के अन्तिम समय में पूर्ण होता है, क्रियमाण अवस्था में नहीं। इस मत का प्रवर्तक जमालि[1] था।

जीवपएसिय—जीव में एक भी प्रदेश कम होने पर वह जीव नहीं कहा जा सकता, अतएव जिस एक प्रदेश के पूर्ण होने पर वह जीव कहा जाता है वह एक प्रदेश ही जीव है। तिष्यगुप्त इस मत के प्रवर्तक माने जाते हैं।[2]

अव्वत्तिय—इस मत के अनुसार समस्त जगत् अव्यक्त है और श्रमण, देव, राजा आदि में कोई भेद नहीं है। आषाढाचार्य इस मत के प्रवर्तक कहे जाते हैं।[3]

सामुच्छेइय—ये लोग नरकादि भावों को क्षणस्थायी स्वीकार करते हैं। अश्वमित्र इस मत के संस्थापक माने जाते हैं।[4]

दोकिरिया—इस मत के अनुसार जीव एक ही समय में शीत और उष्ण वेदना का अनुभव करता है। गंगाचार्य इस मत के प्रवर्तक हैं।[5]

---

१. जमालि महावीर की ज्येष्ठ भगिनी सुदर्शना का पुत्र तथा उनकी पुत्री प्रियदर्शना का पति था। जमालि खत्तियकुण्डग्गाम का राजकुमार था और गृहिधर्म को त्याग कर महावीर के समीप उसने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की थी। लेकिन आगे चलकर गुरु-शिष्य में मतभेद हो गया और जमालि ने अपना स्वतन्त्र मत स्थापित किया। प्रियदर्शना ने पहले जमालि का धर्म स्वीकार किया लेकिन बाद में वह महावीर की अनुयायिनी बन गई। इस मत का प्रवर्तन महावीर की ज्ञानोत्पत्ति के १४ वर्ष बाद उनके जीवन-काल में ही हुआ था।

२. तिष्यगुप्त १४ पूर्वों के वेत्ता आचार्य वसु के शिष्य थे। इस मत की उत्पत्ति महावीर के केवलज्ञान उत्पन्न होने के १६ वर्ष बाद उनके जीवन-काल में ही हुई थी।

३. महावीर के मोक्षगमन के २१४ वर्ष बाद इस मत की उत्पत्ति हुई थी।

४. महावीर के मोक्षगमन के २२० वर्ष बाद इस मत की उत्पत्ति हुई थी।

५. महावीर के मोक्षगमन के २२८ वर्ष बाद इस मत की उत्पत्ति हुई थी।

तेरासिय—ये लोग जीव, अजीव और नोजीव रूप त्रिराशि को मानते हैं। रोहगुप्त इस मत के प्रवर्तक हैं।[1]

अबद्धिय—इस मत के अनुसार जीव अपने कर्मों से बद्ध नहीं हैं। गोष्ठामाहिल इस मत के प्रवर्तक हैं।[2]

सूत्र ४२-४३ में केवलिसमुद्घात तथा सिद्धिक्षेत्र और ईषत्प्राग्भार पृथ्वी का वर्णन किया गया है।

---

१. रोहगुप्त छडुलय नाम से भी कहे जाते थे। ये वैशेषिक मत के प्रवर्तक थे। महावीर के मोक्षगमन के ५४४ वर्ष बाद इस मत की उत्पत्ति हुई। कल्पसूत्र (८, पृ० २२८ अ) के अनुसार तेरासिय आर्य महागिरि के शिष्य थे, तथा समवायांग की टीका (२२, पृ० ३९ अ) के अनुसार वे गोशाल-प्रतिपादित मत को मानते थे।

२. इस मत की उत्पत्ति महावीर के मोक्षगमन के ५८४ वर्ष बाद मानी जाती है। विशेष के लिए देखिये-स्थानांग (५८७); आवश्यकनिर्युक्ति (७७९ आदि), भाष्य (१२५ आदि), चूर्णि (पृ० ४१६ आदि); उत्तराध्ययन-टीका (३, पृ० ६८ अ–७५); भगवती (९-३३); समवायांग (२२), तथा स्थानाङ्ग–समवायांग (गुजराती), पृ० ३२७ आदि।

प्रकरण २

रा ज प्र श्नी य

आमलकप्पा

सूर्याभदेव

प्रेक्षामण्डप

वाद्य

नाट्यविधि

सूर्याभदेव का विमान

राजा पएसी की कथा

जीव और शरीर की भिन्नता—पहली युक्ति

दूसरी युक्ति

तीसरी युक्ति

चौथी युक्ति

द्वितीय प्रकरण

राजप्रश्नीय

रायपसेणइय (राजप्रश्नीय)[1] जैन आगमों का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपांग है। इसमें २१७ सूत्र हैं। पहले भाग में सूरियाभ देव महावीर के समक्ष उपस्थित होकर नृत्य करता है और विविध नाटक रचाता है। यहाँ उसके विमान (प्रासाद) के विस्तार का विस्तृत वर्णन किया गया है। दूसरे भाग में पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्य केशीकुमार और श्रावस्ती के राजा प्रदेशी के जीव-

---

1. (अ) मलयगिरिकृत टीकासहित—धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०; आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२५; गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४.

   (आ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४५.

   (इ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६५.

   (ई) गुजराती अनुवाद—बेचरदास जीवराज दोशी, लाधाजीस्वामी पुस्तकालय, लींबडी, सन् १९३५.

   नन्दिसूत्र में इसे रायपसेणिय कहा गया है। इस उपांग के टीकाकार मलयगिरि ने रायपसेणीअ नाम स्वीकार किया है जिसका संस्कृत रूप वे राजप्रश्नीयं-राजप्रश्नेषु भवं-करते हैं। तत्त्वार्थवृत्तिकार सिद्धसेनगणि ने इसका राजप्रसेनकीय और मुनिचन्द्रसूरि ने राजप्रसेनजित के रूप में उल्लेख किया है। रायपसेणइय को सूयगड का उपांग सिद्ध करते हुए मलयगिरि ने लिखा है कि सूयगड में जो क्रियावादी, अक्रियावादी आदि पाखण्डियों के भेद गिनाए हैं, उनमें से अक्रियावादियों के मत का अवलम्बन लेकर राजा प्रदेशी ने केशी से प्रश्नोत्तर किए हैं, इसलिए रायपसेणइय को सूयगड का उपांग मानना चाहिए (पृ० २)।

अजीवविषयक संवाद का वर्णन है। राजा प्रदेशी जीव और शरीर को अभिन्न मानता है और केशीकुमार उसके मत का खण्डन करते हुए जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व में प्रमाण उपस्थित करते हैं। उववाइय सूत्र की भाँति इस ग्रन्थ का आरम्भ आमलकप्पा नगरी (बौद्ध साहित्य में अल्लकप्पा का उल्लेख आता है। यह स्थान शाहबाद जिले में मसार और वैशाली के बीच में अवस्थित था)[1] के वर्णन से किया गया है।

आमलकप्पा :

आमलकप्पा नगरी धन-धान्यादि से समृद्ध और मनुष्यों से व्याप्त थी। सैंकड़ों-हजारों हलों द्वारा यहाँ खेती की जाती थी। किसान अपने खेतों में ईख, जौ और चावल बोते तथा गाय, भैंस और भेड़ें पालते थे। यहाँ के लोग आमोद-प्रमोद के लिए कुक्कुटों और साँड़ों को रखते थे। यहाँ सुन्दर आकार के चैत्य तथा पण्य-तरुणियों के मोहल्ले थे। लांच लेनेवालों, गंठकतरों, तस्करों और कोतवालों (खण्डरक्खिअ=दण्डपाशिक) का यहाँ अभाव था। श्रमणों को यथेच्छ भिक्षा मिलती थी। नट, नर्तक, जल्ल (रस्सीपर खेल करनेवाले), मल्ल, मौष्टिक (मुष्टि से लड़नेवाले), विदूषक, कथावाचक, प्लवक (तैराक), रास-गायक, शुभाशुभ बखान करनेवाले, लंख (बाँस के ऊपर खेल दिखानेवाले), मंख (चित्र दिखाकर भिक्षा माँगनेवाले), तूण बजानेवाले, तुम्ब की वीणा बजानेवाले और ताल देकर खेल करनेवाले यहाँ निवास करते थे। यह नगरी आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका (बावड़ी) और पानी की क्यारियों से शोभित थी। चारों ओर से खाई और खात से मण्डित थी तथा चक्र, गदा, मुसुंढी, उरोह (छाती को चोट पहुँचानेवाला), शतघ्नी तथा निश्छिद्र कपाटों के कारण इसमे प्रवेश करना दुष्कर था। यह नगरी वक्र प्राकार (परकोटा) से वेष्टित, कपिशीर्षकों (कंगूरों) से शोभित तथा अट्टालिका, चरिका (गृह और प्राकार के बीच में हाथी आदि के जाने का मार्ग), द्वार, गोपुर और तोरणों से मण्डित थी। गोपुर के अर्गल और इन्द्रकील कुशल शिल्पियों द्वारा बनाए गए थे। यहाँ के बाजारों में वणिक् और शिल्पी अपना-अपना माल बेचते थे। आमलकप्पा नगरी के राजमार्ग सुन्दर थे और हाथी, घोड़े, रथों और पालकियों के आवागमन से व्याप्त थे (सूत्र १)।

इस नगरी के उत्तर-पूर्व में पुरातन और सुप्रसिद्ध आम्रशालवन नामक एक

---

१. देखिये—बी० सी० लाहा, ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० २४ आदि।

चैत्य था। यह चैत्य वेदी, छत्र, ध्वजा और घण्टे से शोभित था। रुएँ की बनी मार्जनी (झाड़ू) से यहाँ बुहारी दी जाती थी। गोशीर्ष और रक्त चन्दन के पाँच उँगलियों के थापे यहाँ लगे थे। द्वार पर चन्दन-कलश रखे थे, तोरण बँधे थे और पुष्पमालाएँ लटक रही थीं। यह चैत्य विविध रंगों के पुष्प, कुन्दुरुक्क (चीडा), तुरुष्क (सिल्हक) और गंधगुटिकाओं की सुगन्धि से महकता था। नट, नर्तकी आदि यहाँ अपना खेल दिखाते और भक्त लोग अपनी मनोकामना की सिद्धि के लिए पूजा अर्चना किया करते थे (२)।

यह चैत्य एक वनखण्ड से वेष्टित था जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे। वृक्ष पत्र, पुष्प और फलों से आच्छादित थे जिनपर नाना पक्षी क्रीड़ा करते थे। ये वृक्ष भाँति-भाँति की लताओं से परिवेष्टित थे। यहाँ रथ आदि वाहन खड़े किए जाते थे (३)।

चम्पा नगरी में सेय[1] नामक राजा राज्य करता था। यह राजा कुलीन, राजलक्षणों से संपन्न, राज्याभिषिक्त, विपुल भवन, शयन, आसन, यान, वाहन, सोना, चाँदी, दास और दासी का स्वामी तथा कोष, कोष्ठागार और आयुधागार का अधिपति था (५)।

राजा सेय की रानी धारिणी[2] लक्षण और व्यंजन-युक्त, सर्वांगसुन्दरी और संलाप आदि में कुशल थी। राजा और रानी कामभोगों का सेवन करते हुए सुखपूर्वक समय यापन करते थे। (६)।

एक बार की बात है, महावीर अनेक श्रमण और श्रमणियों से परिवेष्टित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए आमलकप्पा नगरी में पधारे और नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व में स्थित आम्रशालवन चैत्य में पूर्ववर्णित वनखंड से सुशोभित अशोक वृक्ष के नीचे, पूर्व की ओर मुँह करके एक शिलापट्ट पर पर्यंकासन से आसीन हो, संयम और तप में लीन हो गये (७-९)।

---

१. ठाणांग (८.६२१) में महावीर द्वारा दीक्षित किए हुए आठ राजाओं में सेय का भी उल्लेख है। ठाणांग के टीकाकार अभयदेव के अनुसार यह राजा आमलकप्पा का स्वामी था। मलयगिरि ने सेय का संस्कृत रूपान्तर श्वेत किया है।

२. रानी धारिणी को उववाइय सूत्र में राजा कूणिक की रानी कहा गया है। आमलकप्पा-चम्पा, आम्रशालवन-पूर्णभद्र और कूणिक-सेय आदि वर्णक रायपसेणइय और उववाइय में समान हैं। धारिणी के नाम की जगह यहाँ और कोई नाम होना चाहिए था, संभवतः वह बदलने से रह गया।

जब महावीर आमलकप्पा नगरी में पधारे तो नगर में कोलाहल मच गया और लोग कहने लगे : "हे देवानुप्रियो ! श्रमण भगवान् महावीर नगरी में पधारे हैं। जब उनके नाम-गोत्र का श्रवण करना भी महाफलदायक है तो फिर उनके पास पहुँचकर उनकी वंदना करना, कुशलवार्ता पूछना और उनकी पर्युपासना करना कितना फलदायक होगा ? चलो, हे देवानुप्रियो ! हम महावीर की वंदना करें, उनका सत्कार करें और विनयपूर्वक उनकी उपासना करें। इससे हमें इस लोक और परलोक में सुख की प्राप्ति होगी।" यह सोचकर अनेक उग्र, उग्रपुत्र, भोग, भोगपुत्र, राजन्य, क्षत्रिय, क्षत्रियपुत्र, भट, भटपुत्र, योधा, योधापुत्र, प्रशास्ता, मल्लकी, मल्लकीपुत्र, लिच्छवी, लिच्छवीपुत्र तथा अनेक माण्डलिक राजा, युवराज, कोतवाल (तलवर), सीमाप्रांत के अधिपति, परिवार के स्वामी, इभ्य (धनपति), श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह आदि—कोई वन्दन के लिए, कोई पूजन के लिए, कोई कौतूहल शान्त करने के लिए, कोई अर्थ निर्णय करने के लिए, कोई अश्रुत बात को सुनने के लिए, कोई श्रुत बात का निश्चय करने के लिए, और कोई अर्थ, हेतु और कारणों को जानने के लिए—आम्रशालवन चैत्य की ओर रवाना हुए। किसी ने कहा, हम मुण्डित होकर श्रमण-प्रव्रज्या लेंगे और किसी ने कहा, हम पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों का पालन कर गृहीधर्म धारण करेंगे। तत्पश्चात् लोग स्नान आदि कर, अपने शरीर को चन्दन से चर्चित कर, सुन्दर वस्त्र और मालाएँ पहन, मणि, सुवर्ण, तथा हार, अर्धहार, तिसरय (तीनलड़ी का हार), पालंब (गले का आभूषण), और कटिसूत्र आदि आभूषण धारण कर महावीर के दर्शन के लिए चल पड़े। कोई घोड़े, कोई हाथी, कोई रथ तथा कोई पालकी में सवार होकर और कोई पैदल चलकर आम्रशालवन चैत्य में पहुँचा। श्रमण भगवान् महावीर को दूर से देखकर लोग अपने-अपने यानों और वाहनों से उतरे और भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर, उन्हें विनय से हाथ जोड़, उनकी उपासना में लीन हो गये।

राजा सेय और रानी धारिणी भी आम्रशालवन में पहुँच भगवान् की प्रदक्षिणा कर, विनय से हाथ जोड़ उनकी उपासना में लग गये। उपस्थित जन-समुदाय को महावीर ने धर्मोपदेश दिया (१०)।

महावीर का धर्म श्रवण कर परिषद् के लोग अत्यन्त प्रसन्न भाव से कहने लगे : "भंते ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन का जैसा सुन्दर प्रतिपादन आपने किया है, वैसा अन्य कोई श्रमण अथवा ब्राह्मण नहीं करता।" फिर सब लोग अपने-अपने घर

लौट गये। राजा सेय और रानी धारिणी ने भी महावीर के धर्मोपदेश की सराहना की (११)।

सूर्याभदेव :

उस समय सूर्याभ नामक देव दिव्य भोगों का उपभोग करता हुआ सौधर्म स्वर्ग में निवास करता था। उसने अपने दिव्य ज्ञान से आमलकप्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में संयम और तपपूर्वक विहार करते हुए महावीर को देखा। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ, हर्षोत्कम्प से उसके कटक (कंकण), बाहुबन्द, बाजूबन्द, मुकुट और कुण्डल चंचल हो उठे। वह वेग से अपने सिंहासन से उठा, पादपीठ से उतरा और उसने पादुकाएँ उतारीं। तत्पश्चात् एकशाटिक उत्तरासंग धारण कर तीर्थंकर के अभिमुख सात-आठ पग चला। फिर बायें घुटने को मोड़, दाहिने को जमीन पर रख, तीन बार मस्तक को जमीन पर लगाया। फिर तनिक ऊपर उठकर कंकण और बाहुबन्दों से स्तब्ध हुई भुजाओं को एकत्र कर, मस्तक पर अंजलि रख, अरिहंतों और श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार कर अपने आसन पर पूर्वाभिमुख हो बैठ गया (१२-१५)।

सूर्याभदेव के मन में विचार उत्पन्न हुआ—"भगवन्तों के नाम-गोत्र का श्रवण भी महाफलदायक है, तो फिर उनके पास पहुँचकर उनकी वन्दना करना, कुशलवार्ता पूछना और उनकी पर्युपासना करना कितना फलदायक न होगा? किसी आर्य पुरुष के धार्मिक वचनों को श्रवण करने का अवसर मिलना कितना दुर्लभ है, फिर यदि उसके कल्याणकारी उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो तो कहना ही क्या?" यह सोचकर सूर्याभ ने महावीर की वन्दना और उपासना के लिये आमलकप्पा जाने का निश्चय किया। आभियोगिक देवों को बुलाकर उसने आदेश दिया—"हे देवानुप्रियो! श्रमण भगवान् महावीर आमलकप्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में पधारे हैं। तुम वहाँ जाकर उनकी प्रदक्षिणा कर, उनकी वन्दना कर, अपने नाम-गोत्र से उन्हें सूचित करो। तत्पश्चात् महावीर के आसपास की जमीन पर पड़े हुए कूड़े-कचरे को उठा कर एक तरफ फेंक दो। फिर सुगंधित जल से छिड़काव करो, पुष्पों की वर्षा करो और उस प्रदेश को अगर और धूप आदि से महका दो (१६-१८)।"

आभियोगिक देवों ने सूर्याभदेव की आज्ञा को विनयपूर्वक शिरोधार्य किया और उत्तर-पूर्व दिशा की ओर त्वरित गति से प्रस्थान किया। वे आमलकप्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में आये और महावीर की प्रदक्षिणा कर

उन्हें नमस्कार कर अपना परिचय दिया। वैक्रियसमुद्घात[1] द्वारा उन्होंने संवर्तक वायु की रचना की और उसके द्वारा भगवान् के आसपास की भूमि को झाड़-पोंछ कर स्वच्छ कर दिया। कृत्रिम मेघों के द्वारा सुगंधित जल का छिड़काव किया, पुष्पों की वर्षा की तथा अगर आदि सुगंधित पदार्थ जलाकर उस स्थान को महका दिया (१९-२३)।

तत्पश्चात् आभियोगिक देव भगवान् को नमस्कार कर सौधर्म स्वर्ग मे लौट गये और उन्होंने सूर्याभदेव को सूचित किया। सूर्याभदेव ने अपने सेनापति को बुलाकर आज्ञा दी—"हे देवानुप्रिय! सुधर्मा-सभा में टंगे हुए घंटे को जोर-जोर से बजाकर निम्नलिखित घोषणा करो—'हे देवो! सूर्याभदेव आमलकप्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य मे विहार करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के वंदनार्थ गमन करने के लिए प्रस्तुत हैं, तुम लोग भी अपनी समस्त ऋद्धि और परिवार के साथ अपने-अपने यानों में सवार होकर चलने के लिए तैयार हो जाओ'।" इस समय अपने-अपने विमानों में रहनेवाले देवी-देवता रति-क्रीड़ा और भोग-विलास में लीन थे। घंटे का शब्द सुनकर उन्हें बड़ा कौतूहल हुआ और वे सूर्याभदेव के साथ महावीर के वंदनार्थ जाने की तैयारी करने लगे। कोई सोचने लगा, हम महावीर भगवान् की वंदना करेंगे, कोई कहने लगा, हम पूजा करेंगे, हम दर्शन करेंगे, हम अपना कुतूहल शान्त करेंगे, हम अर्थ का निर्णय करेंगे, अश्रुत बात को सुनेंगे, श्रुत बात का निश्चय करेंगे और भगवान् के समीप जाकर अर्थ, हेतु और कारणों को समझेंगे (२४–२७)।

देव और देवियों को समय पर उपस्थित हुए देख, सूर्याभदेव प्रसन्न हुआ। आभियोगिक देवों को बुलाकर उसने आदेश दिया—"हे देवानुप्रियो! तुम शीघ्र ही एक सुन्दर विमान (प्रासाद) तैयार करो। इसमें अनेक खम्भे लगाओ, हाव-भाव प्रदर्शित करने वाली शालभंजिकाएं[2] (पुतलियाँ) प्रतिष्ठित करो, ईहामृग, वृषभ, घोड़े, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, शरभ, चमरी गाय,

---

१. समुद्घात सात होते हैं—वेदन, कषाय, मरण, वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवली। देवों के वैक्रियसमुद्घात होता है। विशेष के लिये देखिये—पन्नवणासूत्र में समुद्घात पद।

२. शालभंजिकाओं के वर्णन के लिये देखिये—सूत्र १०१. शालभंजिका नामक त्योहार श्रावस्ती में मनाया जाता था (अवदानशतक ६, ५३, पृ० ३०२)।

हाथी, वनलता और पद्मलता[1] से इसे चित्रित करो, खम्भों के ऊपर वज्र की वेदिका बनाओ, विद्याधर-युगल को प्रदर्शित करनेवाले यंत्र बनाओ, हजारों रूपकों से सुशोभित करो और इसमे अनेक घंटियाँ लगाओ (२८) ।"

विमानरचना :

सूर्याभदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर आभियोगिक देवों ने विमान की रचना आरम्भ कर दी। उन्होंने विमान के तीनों तरफ तीन सोपान बनाये। इनमें नेम (दहलीज; णिम्मद्वाराणां भूमिभागात् ऊर्ध्वं निर्गच्छन्तः प्रदेशाः), प्रतिष्ठान (नींव; मूलपादाः), स्तंभ, फलक (पटिये; त्रिसोपानांगभूतानि), सूचिक (सली), संधि (सांधे), अवलंबन (सहारे; अवतरतामुत्तरतां चालंबन-हेतुभूताः) और अवलंबनबाहु (बांह) बनाये। तीनों सोपानों के सामने मणि, मुक्ता और तारिकाओं से रचित तोरण लगाए। तोरणों के ऊपर आठ मंगल स्थापित किये, फिर रंग-बिरंगी चामरों की ध्वजाएँ तथा छत्र-पताका, घंटे और सुन्दर कमलों के गुच्छे लटकाये (२९–३२)।

उसके बाद वे देव विमान के अन्दर के भाग को सजाने में लग गये। उन्होंने इसे चारों तरफ से सम बनाया, उसमें अनेक मणियाँ जड़ीं जो स्वस्तिक, पुष्यमाणव, शरावसम्पुट, मछली के अंडों व मगर के अंडों की भाँति प्रतीत होती थीं तथा पुष्पावलि, कमलपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता और पद्मलता के सुन्दर चित्रों से शोभित थीं (२९–३३)।

इस विमान के बीचों-बीच एक प्रेक्षागृह[2] बनाया गया। इसमे अनेक खम्भे लगाये गये तथा ऊँची वेदिकाएँ, तोरण और शालभंजिकाएँ स्थापित की गई। इसमें अनेक वैडूर्य रत्न जड़े और ईहामृग, वृषभ, घोड़े, हाथी, वनलता आदि के चित्र बनाये गये। सुवर्णमय और रत्नमय स्तूप स्थापित किये और विविध प्रकार की घंटियों और पताकाओं द्वारा उसके शिखर को सजाया। प्रेक्षामण्डप को लीप-पोत कर साफ किया, गोशीर्ष और रक्त चन्दन के थापे लगाये, चन्दन-कलशों को प्रतिष्ठित किया, तोरण लगाये, सुगन्धित पुष्पमालाएँ लटकाई, रंग-बिरंगे पुष्पों की वर्षा की तथा अगर आदि सुगन्धित द्रव्यों से उसे महका

१. ये सब 'मोटिफ' मथुरा की स्थापत्यकला में चित्रित हैं, जिसका समय ईस्वी सन् की पहली-दूसरी शताब्दि माना जाता है।
२. इसी प्रकार के राजभवन और शिविका के वर्णन के लिए देखिये—णायाधम्म-कहाओ १, पृ० २२, ३४ (वैद्य संस्करण), तथा मानसार (अध्याय ४७)।

दिया। मण्डप के चारों ओर बाजे बज रहे थे और देवांगनाएँ इधर-उधर चहल-कदमी कर रही थीं (४१)।

मण्डप के बीचोंबीच प्रेक्षकों के बैठने का स्थान (अक्खाडग) बनाया। इसमें एक पीठिका स्थापित की। उस पर एक सिंहासन रखा। यह सिंहासन चक्कल (पायों के नीचे के हिस्से), सिंह, पाद (पाये), पादशीर्षक (पायों के ऊपर के कंगूरे), गात्र (ढांचा) और संधियों से युक्त और ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, हाथी, मगर आदि के चित्रों से शोभित था, उसके आगे का पादपीठ मणियों से खचित था। पादपीठ के ऊपर रखा हुआ मसूरग (गाल रखने की मसूर के समान चपटी मुलायम गद्दी) एक कोमल वस्त्र से ढका था। सिंहासन के ऊपर एक रजस्त्राण था और इस रजस्त्राण के ऊपर दुकूल बिछाया गया था। सिंहासन श्वेत वर्ण के एक विजयदूष्य से शोभित था। उसके बीच में एक अंकुश (अंकुश के आकार की खूँटी) टँगा था जिसमे मोतियों की एक बड़ी माला लटक रही थी; इस माला के चारो तरफ चार मालाएँ थीं। ये मालाएँ सोने के अनेक लंबूसगों (झूमकों) से शोभित थीं और अनेक हारों, अर्धहारों तथा रत्नों से चमक रही थीं। इस सिंहासन पर सूर्याभदेव की पटरानियों, उसके कुटुम्ब परिवार तथा आभ्यन्तर परिषद् के और सेनापति आदि के बैठने के लिए भद्रासन बिछे हुए थे (४२-४४)।

विमान के सज्जित हो जाने पर आभियोगिक देवों ने सूर्याभदेव को सूचना दी। सूचना पाकर सूर्याभदेव परम हर्षित हो अपनी पटरानियों, गधर्वों और नाट्यकारों आदि के साथ सोपान द्वारा विमान मे चढ़, सिंहासन पर विराजमान हो गया। अन्य देवता भी अपने-अपने आसनों पर यथास्थान बैठ गये (४५-४६)।

विमान के आगे सबसे पहले आठ मंगल स्थापित किए गए। उसके बाद पूर्ण कलश, भृंगार (झारी), छत्र और चामर सजाये गये। विजय-वैजयन्ती नाम की पताका फहराई गई। तत्पश्चात् दण्ड और छत्र से सुशोभित श्वेत छत्र तथा पादपीठ और पादुकाओं की जोड़ी सहित सिंहासन को बहुत से देव उठाये चलते थे। उसके बाद पताकाएँ और इन्द्रध्वज[1] थे। उनके पीछे अपने लश्कर के साथ

---

१. प्राचीन काल में इन्द्र के सत्कार में इन्द्रमह नामक उत्सव बड़े ठाठ से मनाया जाता था। इस अवसर पर लोग इन्द्रध्वज की पूजा किया करते थे। देखिये—उत्तराध्ययन टीका (नेमिचन्द्र) ८, पृ० १३६.

सेनापति बैठे हुए थे और उनके पीछे अनेक देवी-देवता थे। सूर्याभदेव और देवी-देवताओं को लिये विमान बड़े वेग से चल रहा था (४७)।

यह विमान सौधर्म स्वर्ग से चलकर असंख्य द्वीप-समुद्रों को लाँघता हुआ भारतवर्ष में आ पहुँचा और फिर आमलकप्पा नगरी की ओर मुड़कर आम्रशालवन चैत्य में उतरा। अपने कुटुम्ब-परिवार सहित विमान में से उतर कर सूर्याभदेव ने महावीर की प्रदक्षिणा की और नमस्कार पूर्वक उनके पास बैठ विनयपूर्वक उनकी पर्युपासना करने लगा (४८-५०)।

तत्पश्चात् महावीर का धर्मोपदेश हुआ। उपदेश श्रवण कर आमलकप्पा के राजा, रानी तथा अन्य नगरवासी अपने-अपने स्थानों को लौट गए। इस अवसर पर सूर्याभदेव ने महावीर से कतिपय प्रश्न पूछे और फिर गौतम आदि निर्ग्रन्थ श्रमणों के समक्ष बत्तीस प्रकार की नाट्यकला प्रदर्शित करने की इच्छा व्यक्त की[1] (५१-५५)।

प्रेक्षामण्डप :

सूर्याभदेव ने प्रेक्षामण्डप[2] की रचना की और पूर्वोक्त प्रकार से प्रेक्षकों के बैठने का स्थान, मणिपीठिका, सिंहासन आदि निर्मित किये। तत्पश्चात् एक ओर से रूप-यौवनसम्पन्न नाटकीय उपकरणों और वस्त्राभूषणों से सज्जित उत्तरीय वस्त्र पहिने हुए चित्र-विचित्र पट्टों से शोभित एक सौ आठ देवकुमार, और दूसरी ओर तिलक आदि से विभूषित ग्रीवाभरण और कंचुक पहने हुए, नाना मणि, कनक और रत्नों के आभूषण धारण किये हुए, हास्य और संलाप आदि में कुशल एक सौ आठ देवकुमारियाँ आविर्भूत हुईं (५६-५८)।

वाद्य :

तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने निम्नलिखित वाद्य तैयार किये—शंख, शृंग, शृंखिका, खरमुही (काहला), पेया (महती काहला), पिरिपिरिका (कोलिकमुखावनद्धमुखवाद्य), पणव (लघुपटह) पटह, भंभा (ढक्का), होरम्भा (महाढक्का), भेरी (ढक्काकृति वाद्य), झल्लरी[3] (चर्मविनद्धा विस्तीर्णवलयाकारा), दुन्दुभी

---

१. महावीर के इस ओर कोई ध्यान न देने का कारण बताते हुए टीकाकार ने लिखा है कि वे स्वयं वीतरागी हैं और नाट्य गौतम आदि श्रमणों के स्वाध्याय में विघ्नकारक है (सूत्र ५५ टीका)।

२. प्रेक्षागृह के वर्णन के लिए देखिये—जीवाजीवाभिगम, ३ पृष्ठ १४६ अ।

३. यह बायें हाथ में पकड़कर दायें हाथ से बजाई जाती है, शार्ङ्गधर, संगीतरत्नाकर, ६,१२३७।

(भेर्याकारा संकटमुखी देवातोद्य[1]), मुरज (महाप्रमाण मर्दल), मृदंग (लघु मर्दल), नंदी मृदंग (एकतः संकीर्णः अन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेषः), आलिंग (मुरज वाद्यविशेष[2]), कुस्तुंब (चर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः), गोमुखी, मर्दल (उभयतः सम),[3] वीणा, विपंची (त्रितंत्री वीणा), वल्लकी (सामान्यतो वीणा), महती, कच्छभी (भारती वीणा), चित्रवीणा, बद्धीस, सुघोषा, नंदिघोषा, भ्रामरी, षड्भ्रामरी, वरवादनी (सप्ततंत्री वीणा), तूणा, तुम्बवीणा, (तुंबयुक्त वीणा), आमोद, झंझा, नकुल, मुकुन्द (मुरज वाद्यविशेष), हुडुक्का,[4] विचिक्की, करटा[5], डिंडिम, किणित, कडंब, दर्दर, दर्दरिका (यस्य चतुर्भिश्चरणैरवस्थानं भुवि स गोधाचर्मावनद्धो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०१), कलशिका, मड्डुया, तल, ताल, कांस्यताल, रिंगिसिका (रिंगिसिगिका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), लत्तिया, मगरिका, शिशुमारिका, वंश, वेणु, वाली (तूणविशेषः, स हि मुखे दत्वा वाद्यते), परिली और बद्धक (पिरलीबद्धकौ तृणरूपवाद्यविशेषौ, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, पृ० १०१)[6] (५९) ।

---

१. मंगल और विजय सूचक होती है तथा देवालयों में बजाई जाती है, वही ११४६.

२. गोपुच्छाकृति मृदंग जो एक सिरे पर चौड़ा और दूसरे पर संकरा होता था—वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित पृ०, ६७.

३. देखिये—संगीतरत्नाकर, १०३४ आदि ।

४. इसे आवज अथवा स्कंधावज भी कहा जाता है, वही १०७५.

५. देखिये-वही १०७६ आदि ।

६. सूत्र ६४ भी देखना चाहिए । वाद्यों के संबंध में काफी गड़बड़ी हुई मालूम देती है । मूल पाठ में इनकी संख्या ४९ कही गई है, लेकिन वास्तविक संख्या ५९ है । बहुत से वाद्यों का स्वरूप अस्पष्ट है, स्वयं टीकाकार ने परिभाषा नहीं दी है । टीकाकार के अनुसार वेणु, पिरली और बद्धग वाद्यों का वंश नामक वाद्य में अन्तर्भाव हो जाता है । बारह तूर्यों के नाम—भंभा, मुकुंद, मद्दल, कडंब, झल्लरी, हुडुक, कांस्यताल, काहल, तलिमा, वंस, संख और पणव । वाद्यों के लिए देखिये—बृहत्कल्पभाष्य-पीठिका (पृ० १२), भगवती (५,४), जीवाभिगम, ३, पृ० १४५ अ, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २, पृ० १०० आदि, अनुयोगद्वार सूत्र १२७, निशीथ-सूत्र १७, १३५-३८, सूयगडंग (४,२,७) तथा संगीतरत्नाकर, अध्याय ६ (यहाँ किन्ना, विपंची, श्रृंग, शंख, पटह, मर्दल, हुडुक्का, करटा, ढक्का,

नाट्यविधि :

तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने देवकुमार और देवकुमारियों को आदेश दिया कि वे गौतम आदि निर्ग्रन्थ श्रमणों के समक्ष बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि का प्रदर्शन करें। आदेश पाते ही देवकुमार और देवकुमारियाँ गौतम आदि श्रमणों के समक्ष एक पँक्ति में खड़े हो गये। वे सब एक साथ नीचे झुके और सबने एक ही साथ अपना मस्तक ऊपर उठाया। फिर सब जगह फैल कर उन्होंने अपना गीत-नृत्य आरम्भ कर दिया (६१-२)।

इस प्रसंग पर अभिनीत बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियाँ इस प्रकार हैं :—

१—स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य, और दर्पण के दिव्य अभिनय[1]।

२—आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्यमानव, वर्धमानक (सरावसंपुट), मत्स्याण्डक, मकराण्डक[2], जार, मार[3], पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वसन्तलता और पद्मलता[4] के चित्र का अभिनय।

३—ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, नर, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर[5], वनलता, पद्मलता के चित्र का अभिनय।

४—एकतोवक्र, द्विधावक्र, एकतश्चक्रवाल, द्विधाचक्रवाल, चक्रार्ध, चक्रवाल का अभिनय।

झल्लरी, दुंदुभि, भेरी आदि के लक्षण बताये हैं), रामायण ५,११,३८ आदि, महाभारत ७,८२,४.

१. टीकाकार के अनुसार इन नाट्यविधियों का उल्लेख चतुर्दश पूर्वों के अन्तर्गत नाट्यविधि नामक प्राभृत में मिलता है, लेकिन यह प्राभृत आजकल विच्छिन्न हो गया है। स्वस्तिक, वर्धमान और नंद्यावर्त का उल्लेख महाभारत (७,८२,२०) में उपलब्ध होता है। अंगुत्तरनिकाय में नन्दियावत्त का अर्थ मछली किया गया है (देखिये—मलालसेकर, डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, भाग २, पृ० २९)। भरत के नाट्यशास्त्र में स्वस्तिक चौथा और वर्धमानक तेरहवाँ नाट्य बताया गया है।

२. भरत के नाट्यशास्त्र में मकर का उल्लेख है।

३. जार-मार की टीका करते हुए मलयगिरि ने लिखा है—सम्यग्मणिलक्षणवेदिनौ लोकाद्वेदितव्यौ—जीवाजीवाभिगम-टीका, पृ० १८९.

४. भरत के नाट्यशास्त्र में पद्म।

५. भरत के नाट्यशास्त्र में गजदंत।

५—चन्द्रावलिका प्रविभक्ति, सूर्यावलिका प्रविभक्ति, वलयावलिका प्रविभक्ति, हंसावलिका[1] प्रविभक्ति, एकावलिका प्रविभक्ति, तारावलिका प्रविभक्ति, मुक्तावलिका प्रविभक्ति, कनकावलिका प्रविभक्ति और रत्नावलिका प्रविभक्ति का अभिनय।

६—चन्द्रोद्गमन दर्शन और सूर्योद्गमन दर्शन का अभिनय।

७—चन्द्रागम दर्शन, सूर्यागम दर्शन का अभिनय।

८—चन्द्रावरण दर्शन, सूर्यावरण दर्शन का अभिनय।

९—चन्द्रास्त दर्शन, सूर्यास्त दर्शन का अभिनय।

१०–चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, गन्धर्वमण्डल[2] के भावों का अभिनय।

११–द्रुतविलम्बित अभिनय। इसमें वृषभ और सिंह तथा घोड़े और हाथी की ललित गतियों का अभिनय है।

१२–सागर और नागर के आकारों का अभिनय।

१३–नन्दा और चम्पा का अभिनय।

१४–मत्स्यांड, मकरांड, जार और मार की आकृतियों का अभिनय।

१५–क, ख, ग, घ, ङ की आकृतियों का अभिनय।

१६–चवर्ग की आकृतियों का अभिनय।

१७–टवर्ग की आकृतियों का अभिनय।

१८–पवर्ग की आकृतियों का अभिनय।

१९–अशोक, आम्र, जंबू, कोशम्ब के पल्लवों का अभिनय।

२०–तवर्ग की आकृतियों का अभिनय।

२१–पद्मनाग, अशोक, चंपक, आम्र, वन, वासन्ती, कुन्द, अतिमुक्तक और श्यामलता का अभिनय।

२२–द्रुतनाट्य[3]।

२३–विलंबित नाट्य।

२४–द्रुतविलंबित नाट्य।

---

१. भरत के नाट्यशास्त्र में हंसवक्त्र और हंसपक्ष।

२. नाट्यशास्त्र में २० प्रकार के मण्डल बताये गये हैं। यहाँ गन्धर्व नाट्य का उल्लेख है।

३. नाट्यशास्त्र में द्रुत नामक लय का उल्लेख है।

२५–अंचित[1]।

२६–रिभित ।

२७–अंचिरिभित ।

२८–आरभट[2]।

२९–भसोल (अथवा भसल)[3]।

३०–आरभटभसोल ।

३१–उत्पात, निपात, संकुचित, प्रसारित, रयारइय[4], भ्रांत और सभ्रांत क्रियाओं से सम्बन्धित अभिनय ।

३२–महावीर के च्यवन, गर्भसंहरण, जन्म, अभिषेक, बालक्रीड़ा, यौवनदशा, कामभोगलीला[5], निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानप्राप्ति, तीर्थप्रवर्तन और परिनिर्वाण सम्बन्धी घटनाओं का अभिनय (६६–८४) ।

देवकुमार और देवकुमारियाँ तत, वितत, घन और शुषिर[6] नामक वादित्र बजाने लगे; उत्क्षिप्त, पादान्त[7], मंद और रोचित नामक गीत[8] गाने लगे; अंचित,

---

१. नाट्यशास्त्र में उल्लेख है ।

२. नाट्यशास्त्र में आरभटी एक वृत्ति का नाम बताया गया है ।

३. नाट्यशास्त्र में भ्रमर ।

४. नाट्यशास्त्र में रेचित । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में रेचकरेचित पाठ है । आरभटी शैली मे नाचने वाले नट मंडलाकार रूप में रेचक अर्थात् कमर, हाथ, ग्रीवा को मटकाते हुये रास नृत्य करते थे—वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित, पृ० ३३.

५. इससे महावीर की गृहस्थावस्था का सूचन होता है ।

६. पटह आदि वाद्य तत, वीणा आदि वितत, कांस्यताल आदि घन और शंख आदि शुषिर के उदाहरण समझने चाहिये । चित्रावली (७३–८) में तंत और वितंत का उल्लेख है । तंत अर्थात् तार के और वितंत अर्थात् बिना तार के मढ़े हुए बाजे ।

७. जीवाजीवाभिगम (पृ० १८५ अ) में पायंत की जगह पवत्तय (प्रवृत्तक) पाठ है ।

८. गीत को सप्तस्वर और अष्टरस संयुक्त, छः दोषरहित और आठ गुणसहित बताया गया है—देखिये, जीवाजीवाभिगम, पृ० १८५ अ ।

रिभित, आरभट और भसोल नामक नाट्यविधि प्रदर्शित करने लगे तथा दार्ष्टान्तिक, प्रात्यान्तिक, सामान्यतो विनिपात और लोकमध्यावसानिक[1] नामक अभिनय दिखाने लगे। अभिनय समाप्त होने के पश्चात् सूर्याभदेव महावीर की तीन प्रदक्षिणाएँ कर, उन्हें नमस्कार कर अपने परिवार सहित विमान मे बैठ जहाँ से आया था वहीं चला गया (८५-९९)।

सूर्याभदेव का विमान :

इसके बाद गौतम गणधर ने सूर्याभदेव और उसके विमान के संबन्ध मे महावीर से कतिपय प्रश्न किये जिनका उत्तर महावीर ने दिया—सूर्याभदेव का विमान चारों ओर प्राकार (किला) से वेष्टित है जो रंग-बिरंगे कंगूरों से शोभित है। इस विमान में अनेक बड़े-बड़े द्वार हैं जिनके शिखर (धूमिया) सोने के बने हैं और जो ईहामृग, वृषभ, घोड़े आदि के चित्रों से शोभायमान हैं। इसके खंभों के ऊपर वेदिकाएँ हैं जो विद्याधरों के युगल से विभूषित हैं। ये द्वार नेम (दहलीज), प्रतिष्ठान (नींव), खंभे, देहली (एलुआ), इन्द्रकील (ओट)[2], द्वारशाखाएँ (साह; चेडा—द्वारशाखाः), उत्तरंग (उतरंग; द्वारस्योपरितिर्यग्व्यवस्थितमंगम्), सूची (सली), संधि (सांधे), समुद्रक (सल्ला; सूचिकागृहाणि),[3] अर्गला (मूसल), अर्गलपाशक (जहाँ मूसल अटकाया जाता है), आवर्तनपीठ (घूमपाट; यत्र इन्द्रकीलको भवति) और उत्तरपार्श्वक (उत्तर पख) से युक्त हैं। इनके बन्द हो जाने पर उनमें से हवा अन्दर नहीं जा सकती। दरवाजों के दोनों ओर अनेक भित्तिगुलिका (चौकी) और गोमाणसिया (बैठक) बने हैं और ये विविध रत्नों से खचित और शालभंजिकाओं से सुशोभित हैं। द्वारों के ऊपर-नीचे कूट (कमान; माढभागः), उत्सेध (शिखर), उल्लोक (छत), भौम (फर्श), पक्ष (पख), पक्षबाह (पखबाह), वंश (धरन; पृष्ठवंशानामुभयतस्तिर्यक् स्थाप्यमाना वंशाः), वंशकवेल्लुय (खपड़ा), पट्टिका (पटिया; वंशानामुपरि कंबास्थानीयाः), अवघाटिनी (छाजन; आच्छा-

---

१. टीकाकार ने नाट्य और अभिनयविधि की व्याख्या न करके इन विधियों को नाट्य के विशारदों से समझने के लिए कहा है।

२. गोपुरकपाटयुगसंधिनिवेशस्थानं, वही पृ० ४८.

३. चूलिकागृहाणि, यत्र न्यस्तौ कपाटौ निश्चलतया तिष्ठतः, वही।

दनहेतुकम्त्रोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकिलिंचस्थानीयाः) और उत्तरिपुंछणि (टाट; कवेल्लुकानामध आच्छादनम्)[1] दिखाई देते है। इनके ऊपर अनेक तिलकरत्न[2] और अर्धचन्द्र बने हुए हैं और मणियों की मालाएँ टँगी हैं। दोनों ओर चन्दन-कलश रखे हैं जिनमें सुगंधित जल भरा है और लाल डोरा बँधा हुआ है। द्वारों के दोनों ओर नागदन्त (खूँटी) लगे हैं जिनमें छोटी-छोटी घटियाँ और मालाएँ लटकी हुई हैं। एक नागदन्त के ऊपर अनेक नागदन्त बने हुए हैं। इनके ऊपर सिक्कक (छींके) लटके हैं और इन सिक्कों में धूपघटिकाएँ रखी हैं जिनमें अगर आदि पदार्थ महक रहे हैं। द्वारों के दोनों ओर शालभंजिकाएँ हैं। ये विविध वस्त्र-आभूषण और मालाएँ पहने हुए हैं। इनका मध्य भाग मुष्टिग्राह्य है, इनके पयोधर पीन हैं और केश कृष्ण वर्ण के हैं। ये अपने बायें हाथों मे अशोक वृक्ष की शाखा पकड़े हुए हैं, कटाक्षपात कर रही हैं, एक-दूसरे को इस तरह देख रही हैं, मालूम होता है परस्पर खिजा रही हों। द्वारों के दोनो ओर जालकटक (जालीवाले रम्य स्थान) हैं और घंटे लटक रहे हैं। दोनों ओर की बैठकों मे वन-पंक्तियाँ हैं जिनमें नाना वृक्ष लगे हैं। द्वारों के दोनों ओर तोरण लगे हैं; उनके सामने नागदन्त, शालभंजिकाएँ, घोड़े, हाथी, नर, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व और वृषभ के युगल, पद्म आदि लताएँ तथा दिशास्वस्तिक, चंदन-कलश, भृंगार, दर्पण, थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठिक (शराव—कसोरा), मनोगुलिका (आसन) और करंडक (पिटारे) रखे हैं। तत्पश्चात् हयकंठ (रत्नविशेष), गजकंठ, नरकंठ, किन्नरकंठ, किंपुरुषकंठ, महोरगकंठ, गंधर्वकंठ और वृषभकंठ शोभित हैं। इनमें चंगेरियाँ (टोकरियाँ) हैं जो पुष्पमाला, चूर्ण, गंध, वस्त्र, आभरण, सरसों और मयूरपंखों से शोभायमान है। फिर सिंहासन, छत्र, चामर, तथा तेल, कोष्ठ, पत्र, चूआ, तगर, इलायची, हरताल, हिंगूलक (सिंगरफ), मणसिला (मेनसिल) और अंजन के पात्र रखे हैं। विमान के एक-एक द्वार मे चक्र, मृग, गरुड़ आदि से चिह्नित अनेक ध्वजाएँ लगी हैं; उनमे अनेक भौम (विशिष्ट स्थान) बने हैं जहाँ सिंहासन बिछे हुए हैं। द्वारों के उत्तरंग रत्नों से जटित हैं और अष्ट मंगल, ध्वजा और छत्र आदि से शोभित हैं (९०-१०७)।

---

१. निविडतराच्छादनहेतुश्लक्ष्णतरतृणविशेषस्थानीया—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, पृ० २३.

२. भित्त्यादिषु पुण्ड्रविशेषाः, वही पृ० ५३ अ।

सामानिक देवों ने सूर्याभदेव के समक्ष उपस्थित होकर निवेदन किया—"हे देवानुप्रिय ! आपके विमानस्थित सिद्धायतन में जिनप्रतिमा[1] विराजमान है। आपकी सुधर्मा सभा के चैत्यस्तंभ में एक गोलाकार पिटारी में जिन भगवान् की अस्थियाँ रखी हुई हैं, आप उनकी वंदना-पूजा कर पुण्य प्राप्त करें।" यह सुनकर सूर्याभदेव अपनी देवशय्या[2] पर से उठा और जलाशय में स्नान कर अभिषेकसभा में पहुँचा। वहाँ उसने सामानिक देवों को इन्द्राभिषेक रचाने का आदेश दिया (१३३-१३५)।

बड़े ठाठ से इन्द्राभिषेक समाप्त होने के बाद वस्त्रालंकार से विभूषित हो सूर्याभदेव व्यवसायसभा में आया और अपनी पुस्तक[3] का स्वाध्याय करने लगा। फिर सिद्धायतन में पहुँच उसने जिनप्रतिमा का प्रक्षालन कर उस पर चन्दन का लेप किया और उसे अंगोछे से पोंछ देवदूष्य से विभूषित कर अलंकार पहनाये। उसके बाद प्रतिमा पर पुष्प, माला, गंध, चूर्ण, वर्ण, वस्त्र, आभरण आदि चढ़ाये, उसके सामने तंदुल से आठ मंगल बनाये, धूप, दीप[4] जलाये और फिर वह १०८ छंदों द्वारा स्तुति करने लगा (१३५-१३९)।

सूर्याभदेव को यह अतुल ऋद्धि किन शुभ कर्मों से प्राप्त हुई, इसका उत्तर दूसरे भाग में दिया गया है (१४१)।

---

१. जिनप्रतिमा के आगे नागप्रतिमा, यक्षप्रतिमा, भूतप्रतिमा और कुंडधार—आज्ञाधार (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका, पृ० ८१ अ) प्रतिमाओं के होने का उल्लेख है (सूत्र १३०)। इससे यक्ष-पूजा के महत्त्व का पता लगता है।

२. यह शय्या प्रतिपाद, पाद, पादशीर्षक, गात्र और संधियों से युक्त तथा तूली (रजाई) बिब्बोयणा (उपधानक—तकिया), गंडोपधानक (गालों का तकिया) और सालिंगनवर्तिक (शरीरप्रमाण तकिया) से संपन्न थी। इसके दोनों ओर तकिये लगे हुए थे। यह शय्या दोनों ओर से उठी हुई और बीच में नीची होने के कारण गंभीर तथा क्षौम और दुकूल वस्त्रों से आच्छादित थी (सूत्र १२७)।

३. इस प्रसंग पर पुस्तक का डोरा, गाँठ, लिप्यासन (दावात), ढक्कन, स्याही, लेखनी और कम्बिया (पट्टिका—पुट्ठा) का भी उल्लेख किया गया है (सूत्र १३१)।

४. सूर्याभदेव की चैत्यवंदन-विधि के संबंध में मतभेद प्रतिपादन करते हुए टीकाकार मलयगिरि ने यही कहकर संतोष कर लिया है कि तत्त्व तो केवली जानते हैं (सूत्र १३९ टीका, पृ० २५९)।

: २ :

राजा पएसी की कथा :

केकय अर्ध जनपद[1] में सेयविया नाम की नगरी थी। उसके उत्तर-पूर्व में मृगवन नाम का एक सुन्दर उद्यान था। इस नगरी का राजा पएसी[2] था। वह बड़ा अधार्मिक, प्रचण्ड और क्रोधी था, तथा माया, वंचना और कूट-कपट द्वारा सबको कष्ट पहुँचाता था। गुरुजनों का वह कभी आदर न करता, श्रमण-ब्राह्मणों का विश्वास न करता और समस्त प्रजा को उसने कर के भार से पीड़ित कर रखा था। उसकी रानी का नाम सूर्यकान्ता था। राजा पएसी के सूर्यकान्त नामक एक राजकुमार था जो उसके राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोश, कोष्ठागार, पुर और अंतःपुर की देखभाल किया करता था।

राजा पएसी के सारथी का नाम चित्त[3] था। वह साम, दाम, दण्ड और भेद मे कुशल और अत्यन्त बुद्धिशाली था। राजा पएसी अपने राज्य के अनेक कामों में उसकी सलाह लेता और उसे बहुत मानता था (१४२-१४५)।

कुणाला जनपद[4] में श्रावस्ती नाम की नगरी थी। उसके उत्तर-पूर्व में कोष्ठ नाम का एक चैत्य था। उस समय राजा पएसी का आज्ञाकारी सामंत जितशत्रु श्रावस्ती मे राज्य करता था।

---

१. जैन ग्रन्थों में २५½ देशों की गणना आर्य क्षेत्र में की गयी है अर्थात् इन देशों में जैन श्रमण विहार कर सकते थे। केकयार्ध को आर्य क्षेत्र मानने का कारण यही हो सकता है कि इस देश के कुछ ही भाग में श्रमणों का प्रभाव रहा होगा। केकय देश श्रावस्ती के उत्तर-पूर्व नेपाल की तराई में था। सेयविया को बौद्ध साहित्य में सेतव्या कहा गया है। महावीर ने यहां विहार किया था। यह स्थान श्रावस्ती (सहेट महेट) से १७ मील और बलरामपुर से ६ मील की दूरी पर अवस्थित था।

२. बौद्धों के दीघनिकाय में पायासिसुत्त में राजा पायासि के इसी प्रकार के प्रश्नोत्तरों का वर्णन है। यहाँ पायासि को कोशल के राजा पसेनदि का वंशधर बताया गया है।

३. दीघनिकाय में चित्त के स्थान पर खत्ते शब्द का प्रयोग किया गया है। खत्ते का पर्यायवाची संस्कृत में क्षत–क्षत्ता होता है जिसका अर्थ सारथि है, देखिये–पं० बेचरदास, रायपसेणइयसुत्त का सार, पृ० ९९ फुटनोट।

४. कुणाल को जैनों के २५½ आर्य देशों में गिना गया है। इसको उत्तर कोशल भी कहा जाता था। कुणाल जनपद की राजधानी श्रावस्ती (सहेट

एक बार की बात है। राजा पएसी जितशत्रु को कोई भेंट भेजना चाहता था। उसने चित्त सारथी को बुलाकर भेंट ले जाने को कहा और उसे आदेश दिया कि वह जितशत्रु के साथ कुछ दिनों श्रावस्ती में रहकर उसके राजकाज की देखभाल करे। भेंट ग्रहण कर चित्त अपने घर आया और उसने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाकर चार घंटों वाला अश्वरथ[1] तैयार करने का आदेश दिया। इस बीच में चित्त ने स्नान, बलिकर्म, कौतुक और मंगल आदि कृत्य संपन्न किये, कवच धारण किया, तूणीर बाँधा, गले में हार पहना, राजपट्ट धारण किया और अस्त्रशस्त्रों से सज्जित हो रथ में सवार हुआ। अनेक हथियारबन्द योद्धाओं से परिवृत्त हो वह श्रावस्ती की ओर चल पड़ा।

श्रावस्ती पहुँचकर चित्त सारथी जितशत्रु राजा की बाह्य उपस्थानशाला (दरबार आम) में पहुँचा और वहाँ उसने घोड़े खोलकर रथ को खड़ा किया। फिर वह भेंट लेकर जितशत्रु की अंतरंग उपस्थानशाला (दरबार खास) में पहुँचा। उसने जितशत्रु को प्रणाम किया, बधाई दी और फिर राजा पएसी का दिया हुआ नजराना उसके समक्ष रख दिया। नजराना स्वीकार कर जितशत्रु ने चित्त सारथी का आदर सत्कार किया और उसके ठहरने का यथोचित प्रबन्ध कर दिया। चित्त गीत, नृत्य और नाटक आदि द्वारा समय यापन करता हुआ आनन्दपूर्वक श्रावस्ती में रहने लगा (१४६)।

उस समय चतुर्दशपूर्वधारी, पार्श्वापत्य[2], केशी नामक कुमारश्रमण अपने अनेक शिष्यों से परिवृत्त हो श्रावस्ती के कोष्ठ नामक चैत्य में विहार कर रहे थे। उनके

महेट, जिला गोंडा) थी जिसका दूसरा नाम कुणाल नगरी भी था। श्रावस्ती और साकेत के बीच सात योजन (१ योजन = ५ मील) का अन्तर था।

१. यह रथ छत्र, ध्वजा, घंटा, पताका, तोरण, नंदिघोष और क्षुद्र घंटियों से युक्त था, हिमालय में पैदा होनेवाली तिनिस की लकड़ी से बना हुआ था, सुवर्ण से खचित था, इसके चक्के का घेरा (नेमि) लोहे का बना था और इसका धुरा मजबूत था। इस रथ में श्रेष्ठ घोड़े जुड़े थे तथा तूणीर, कवच और आयुध आदि से यह सम्पन्न था, देखिये—उववाइय सूत्र ३१, पृ० १३२; जीवाजीवाभिगम, पृ० १८५, १९२; जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, पृ० २१०.

२. जैन सूत्रों में महावीर के माता-पिता को पार्श्वनाथ की परम्परा का अनुयायी कहा गया है। पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी श्रमण पार्श्वापत्य (पासावच्चिज्ज) नाम से कहे जाते थे। पार्श्वनाथ सचेल धर्म को स्वीकार

आगमन का समाचार सुन नगरवासी परस्पर कहने लगे—हे देवानुप्रिय ! चलो, हमलोग भी कुमारश्रमण केशी की वन्दना करने चलें। श्रावस्ती में महान् कोलाहल सुनकर चित्त सारथी के मन में विचार उत्पन्न हुआ—क्या आज नगरी में कोई इन्द्र[1], स्कंद, रुद्र, मुकुंद, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, गुफा, कूप, नदी, सरोवर और सागर का उत्सव मनाया जा रहा है जो उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव्य, ब्राह्मण आदि सब लोग नहा धो और वस्त्राभूषणों से सज्जित हो, घोड़े, हाथी आदि पर सवार होकर जा रहे हैं ! कंचुकी पुरुष को बुलाकर कोलाहल का कारण पूछने पर चित्त को विदित हुआ कि केशीकुमार चैत्य कोष्ठ में पधारे हैं और नगरवासी उन्हें वन्दना करने जा रहे हैं (१४७-१४८)।

यह सुनकर चित्त सारथी ने कौटुंबिक पुरुष को बुला उसे अपना अश्वरथ सज्जित करने का आदेश दिया। तत्पश्चात् स्नान आदि कर और वस्त्राभूषणों से सज्जित हो, अपने नौकरों-चाकरों के साथ वह कोष्ठक चैत्य में पहुँचा। उसने केशीकुमार की प्रदक्षिणा की, उन्हें नमस्कार किया और विनयपूर्वक उनकी पर्युपासना में लीन हो गया। केशीकुमार ने परिषद् के सदस्यों को चातुर्याम धर्म—सर्वप्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण और बहिद्धादान-विरमण[2] का उपदेश दिया (१४९)।

चित्त सारथी केशीकुमार का उपदेश सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। केशीकुमार को नमस्कार कर वह कहने लगा—भंते ! निर्ग्रन्थ प्रवचन में मैं विश्वास करता

करते थे और चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) का उपदेश देते थे, जब कि महावीर अचेल धर्म को मानते थे और पंच महाव्रत का उपदेश देते थे। पार्श्वनाथ के अनुयायी कुमारश्रमण केशी और महावीर के अनुयायी गौतम इन्द्रभूति के महत्त्वपूर्ण वार्तालाप का उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है।

१. निशीथसूत्र (१९, ११-१२ तथा भाष्य) में इन्द्र, स्कन्द, यक्ष और भूत इनको महामह बताया गया है। ये त्यौहार क्रमशः आषाढ़, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णमासी के दिन मनाये जाते थे। विशेष जानकारी के लिए देखिये—जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४३० आदि।

२. स्थानांग की टीका (पृ० २०२) में बहिद्धा का अर्थ मैथुन और आदान का अर्थ परिग्रह किया है।

हूँ, मुझे यह रुचिकर है, यह सत्य है, यह इष्ट है। कितने ही उग्र, भोग और इभ्य आदि विपुल हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, बल, वाहन, कोश और धन-सम्पत्ति का त्याग कर, मुंड होकर अनगार धर्म में दीक्षित होते हैं, किन्तु मैं ऐसा करने के लिए असमर्थ हूँ। ऐसी हालत में हे देवानुप्रिय! मैं आपसे पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ग्रहण कर गृहीधर्म का पालन करना चाहता हूँ। तत्पश्चात् चित्त सारथी निर्ग्रन्थ-प्रवचन में श्रद्धाशील, दानशील होता हुआ चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस और पूर्णिमा के दिन प्रोषध करता हुआ तथा निर्ग्रन्थ श्रमणों को निर्दोष अशन, पान, आसन, शय्या आदि से निमन्त्रित करता हुआ आत्मचिंतन में लीन रहने लगा (१५०-१५१)।

कुछ समय बाद जितशत्रु ने राजा पएसी को कुछ नजराना भेजने का विचार किया। चित्त सारथी को बुलाकर उसने आदेश दिया—"हे चित्त! तुम इस नजराने को राजा पएसी को दो और निवेदन करो कि मेरे योग्य कोई कार्य-सेवा हो तो कहला भेजें।" सेयविया के लिए प्रस्थान करने के पूर्व चित्त सारथी ने केशीकुमार के पास पहुँचकर निवेदन किया—"भंते! जितशत्रु से विदा लेकर आज मैं लौट रहा हूँ। सेयविया नगरी सुन्दर है, दर्शनीय है, आप पधारें तो बड़ी कृपा हो।" पहले तो केशीकुमार ने चित्त की बात पर कोई ध्यान न दिया। लेकिन जब उसने उसी बात को दो-तीन बार दुहराया तो केशीकुमार ने उत्तर दिया कि भले ही सेयविया सुन्दर हो, लेकिन वहाँ का राजा अधार्मिक है, फिर भला वहाँ मैं कैसे आ सकता हूँ? चित्त ने निवेदन किया—भंते! आपको पएसी से क्या लेना-देना है? सेयविया में अन्य बहुत से सार्थवाह आदि निवास करते हैं जो आपकी वन्दना-उपासना करेंगे और अशन-पान तथा आसन-शय्या आदि से आपका सत्कार करेंगे। इसलिए आप कृपाकर अवश्य पधारें (१५२-१५४)।

चित्त सारथी अपने रथ में सवार होकर सेयविया नगरी पहुँच गया। वहाँ पहुँचते ही उसने मृगवन के उद्यानपालक को बुलाकर कहा—देखो, यदि पार्श्वापत्य केशीकुमार विहार करते हुए यहाँ पधारें तो उनके रहने के लिए योग्य स्थान का प्रबन्ध करना और पीठ (चौकी), फलक (पट्टा), शय्या और संस्तारक द्वारा उन्हें निमंत्रित करना। तत्पश्चात् चित्त सारथी ने राजा पएसी के पास पहुँचकर उसे नजराना भेंट किया (१५५-१५६)।

कुछ दिनों बाद केशीकुमार श्रावस्ती नगरी से विहार कर गये और गाँव-गाँव में परिभ्रमण करते हुए सेयविया नगरी के मृगवन नामक चैत्य में पधारे। उद्यानपालक ने पीठ, फलक आदि से उनका सत्कार किया और चित्त सारथी

को घर पहुँचकर केशीकुमार के आगमन का समाचार सुनाया। यह समाचार सुन चित्त अपने आसन से उठा, पादपीठ से नीचे उतरा, पादुकाएँ उतारीं और एकशाटिक उत्तरासंग धारण कर, हाथ जोड़ जहाँ केशीकुमार उतरे थे उस दिशा की ओर सात आठ पग चला और फिर प्रणामपूर्वक उनकी स्तुति करने लगा। उद्यान-पालक को प्रीतिदान देकर उसने विदा किया। इसके बाद रथ में सवार होकर वह केशीकुमार के दर्शन के लिये रवाना हो गया (१५७-१५८)।

धर्मोपदेश श्रवण करने के पश्चात् चित्त सारथी केशीकुमार से कहने लगा—भंते! हमारा राजा पएसी बड़ा अधार्मिक है, इसलिए यदि आप उसे धर्मोपदेश दें तो उसका खुद का भला हो और साथ ही श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुओं और सारे देश का भी कल्याण हो। केशीकुमार ने उत्तर दिया—"हे चित्त! जो व्यक्ति आराम, उद्यान अथवा उपाश्रय में आये हुए श्रमण या ब्राह्मण के पास नहीं जाता, उसकी वन्दना-पूजा नहीं करता, उपासना नहीं करता, अपनी शंकाओं का समाधान नहीं करता, वह धर्म श्रवण करने का अधिकारी नहीं है। तुम्हारा राजा पएसी हमारे पास नहीं आता और हमारे सामने देखता तक नहीं" (१५९)।

अगले दिन चित्त सारथी राजा पएसी के पास जाकर कहने लगा—"हे देवानुप्रिय! मैंने जो आपको कंबोज देश के चार घोड़े भेंट में दिये हैं, चलिये आज उनकी परीक्षा करें।" इसके बाद दोनों अश्वरथ में सवार हो परिभ्रमण के लिये निकल पड़े। बहुत देर तक दोनों इधर-उधर घूमते रहे। घूमते-घूमते जब राजा थक गया और उसे प्यास लगी तो चित्त सारथी उसे मृगवन उद्यान में ले गया। वहाँ महती परिषद् को उच्च स्वर से धर्मोपदेश देते हुए केशीकुमार को देखकर राजा विचार करने लगा—"जड़ लोग ही जड़ों की उपासना करते हैं, मूढ़ ही मूढ़ों की उपासना करते हैं, अपंडित ही अपंडितों की उपासना करते हैं, मुंड ही मुंडों की उपासना करते हैं, अज्ञानी लोग ही अज्ञानियों का सन्मान करते हैं, फिर यह कौन जड़, मुंड, मूढ़, अपण्डित और अज्ञानी मनुष्य है जो इतना कान्तिमान् दिखायी दे रहा है? यह क्या खाता है? क्या पीता है? महती परिषद् में यह इतने उच्च स्वर से बोल रहा है कि मैं अपनी उद्यानभूमि में स्वच्छंद-रूप से पर्यटन भी नहीं कर सकता! चित्त ने उत्तर दिया: "हे स्वामी! ये पार्श्वापत्य केशी नामक कुमारश्रमण हैं। ये चतुर्ज्ञान[1] के धारक, अधः अवधि से सम्पन्न और अन्नजीवी हैं (१६०-१६३)।

---

1. मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान।

तत्पश्चात् राजा पएसी चित्त सारथी के साथ केशीकुमार के समीप पहुँचा और दोनों में वार्तालाप होने लगा—

पएसी—भंते ! आप अधः अवधि ज्ञान से सम्पन्न हैं ? आप अन्नजीवी हैं ?

केशी—जैसे रत्नों के व्यापारी राजकर से छुटकारा पाने के लिए किसी से ठीक मार्ग नहीं पूछते, उसी प्रकार हे पएसी ! विनयमार्ग से भ्रष्ट होने के कारण तुम्हे ठीक तरह से प्रश्न करना नहीं आता। मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या मुझे देखकर तुम्हारे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ था कि जड़ लोग ही जड़ों की उपासना करते हैं, आदि ?

✓ पएसी—हाँ भंन्ते ! यह सच है। लेकिन मेरे मन के विचार को आपने कैसे जान लिया ?

✓ केशी—मैं आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञान से संपन्न हूँ इसलिए मैंने तुम्हारे मन के विचार को जान लिया (१६४-१६५)।

पएसी—मैं पूछना चाहता हूँ, क्या श्रमण-निर्ग्रन्थ जीव और शरीर को जुदा-जुदा स्वीकार करते है ?

केशी—हाँ, हमलोग जीव और शरीर को जुदा-जुदा मानते हैं।

जीव और शरीर की भिन्नता—पहली युक्ति :

(क) पएसी—देखिये भंते ! इस नगरी मे मेरा एक दादा रहता था। वह बड़ा अधार्मिक था। प्रजा का ठीक तरह पालन न करने के कारण आपके मतानुसार वह नरक मे उत्पन्न हुआ होगा। मैं अपने दादा का बड़ा लाड़ला था और मुझे देखकर वे खुशी से फूले न समाते थे। ऐसी हालत में यदि मेरे दादा नरक मे से आकर मुझसे कहें कि हे मेरे पोते ! पूर्व जन्म मे मैं तेरा दादा था और अधार्मिक कर्मो से पाप का संचय कर मैं नरक में पैदा हुआ हूँ, इसलिए तू पाप कर्मों को त्याग दे, अन्यथा तू भी नरक में उत्पन्न होगा—तो मैं समझूं कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन अभी तक तो उन्होंने मुझसे आकर कुछ कहा नहीं, इसलिए मैं समझता हूँ कि उनका जीव उनके शरीर के साथ ही नष्ट हो गया है।

केशी—हे पएसी ! यदि कोई कामुक पुरुष तुम्हारी रानी के साथ विषय-भोग का सेवन करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे ?

पएसी—मैं उसके हाथ-पाँव कटवाकर उसे शूली पर चढ़ा दूँगा अथवा एक ही चोट में उसके प्राण ले लूँगा।

केशी—यदि वह पुरुष तुमसे कहे कि स्वामी ! जरा ठहर जाओ, मैं अपने मित्र और जाति-बिरादरी के लोगों से कह आऊँ कि कामवासना के वशीभूत होने के कारण मुझे यह मृत्युदण्ड मिला है, यदि आप लोग भी ऐसा करेंगे तो मेरी ही तरह मृत्युदण्ड के भागी होंगे—तो क्या तुम उस पुरुष की बात सुनोगे ?

पएसी—नहीं, कभी नहीं, क्योंकि वह पुरुष अपराधी है !

केशी—इसी तरह भले ही तुम अपने दादा के प्रिय रहे हो, लेकिन वह नरक में महान् दुःख भोगते रहने के कारण, इच्छा होने पर भी मनुष्यलोक में नहीं आ सकता। अतएव जीव और शरीर भिन्न हैं।

(ख) पएसी—देखिये, मैं दूसरा उदाहरण देता हूँ। मेरी दादी परम धार्मिक थी। अपने शुभ कर्मों से पुण्योपार्जन करने के कारण आपके कथनानुसार वह स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी का लाड़ला पोता था। ऐसी हालत में उसे मुझे आकर कहना चाहिये था कि पुण्योपार्जन के कारण वह स्वर्ग में उत्पन्न हुई है और इसलिए मुझे भी दान आदि द्वारा पुण्योपार्जन कर स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन अभी तक तो मुझे अपनी दादी के पास से कोई समाचार नहीं मिला, इसलिए जीव और शरीर भिन्न नहीं हैं क्योंकि उसके शरीर के साथ ही उसका जीव भी नष्ट हो गया।

केशी—कल्पना करो कि तुम स्नान कर, आर्द्र वस्त्र धारण कर, हाथ में कलश और धूपदान लिए देवकुल में दर्शन के लिए जा रहे हो और इतने में कोई पाखाने में बैठा हुआ पुरुष तुम्हें बुलाये कि स्वामी ! थोड़ी देर के लिए यहाँ आकर बैठिये तो क्या तुम उसकी बात सुनोगे ?

पएसी—नहीं, मैं यह बात कभी नहीं सुनूँगा, एक क्षण के लिए भी मैं पाखाने में नहीं जाऊँगा।

केशी—इसी प्रकार स्वर्ग में उत्पन्न हुआ देव इच्छा होने पर भी मनुष्य लोक में नहीं आ सकता, क्योंकि वह स्वर्ग के कामभोगों का त्याग नहीं करना चाहता। अतएव जीव और शरीर भिन्न हैं (१६६–१७०)।

दूसरी युक्ति :

(क) पएसी—अपने पक्ष के समर्थन में मैं एक और उदाहरण देता हूँ। कल्पना कीजिए कि नगर का कोतवाल किसी चोर को पकड़ कर मेरे पास लाया। मैंने उसे जीवित अवस्था में ही लोहे की कुंभी में डाल कर ऊपर से ढक्कन लगा दिया। फिर उसे लोहे और सीसे से बन्द करके वहाँ विश्वस्त सैनिकों को तैनात कर दिया। कुछ समय बाद मैंने कुंभी को खुलवा कर देखा। उसमें कहीं कोई

छिद्र आदि नहीं था जिससे कि जीव बाहर निकल कर जा सके, लेकिन फिर भी पुरुष मरा हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि जीव और शरीर दोनों एक हैं।

केशी—कल्पना करो कि किसी निश्छिद्र कूटागारशाला में प्रवेश कर कोई पुरुष किंवाड़ों को खूब अच्छी तरह बन्द कर, अन्दर बैठ कर जोर-जोर से भेरी बजाए, तो क्या तुम बाहर से भेरी की आवाज सुन सकोगे ?

पएसी— हाँ, सुन सकूँगा।

केशी—तो देखो, जैसे निश्छिद्र मकान में से आवाज बाहर जा सकती है, वैसे ही जीव पृथ्वी, शिला और पर्वत को भेद कर बाहर जा सकता है। इससे सिद्ध है कि जीव और शरीर भिन्न हैं।

(ख) पएसी—भंते ! मैं एक और उदाहरण दूँ। मान लीजिये, किसी चोर को मार कर मैंने लोहे की कुम्भी में डलवा दिया और उसे ऊपर से अच्छी तरह ढककर वहाँ विश्वासपात्र सैनिकों को नियुक्त कर दिया। कुछ दिन बीत जाने पर मैंने देखा कि मृतक के शरीर मे कृमि-कीड़े पड़ गये हैं। लोहे की कुम्भी में कोई छिद्र न होने पर भी ये कृमि-कीड़े कहाँ से प्रवेश कर गये ? इससे मालूम होता है कि जीव और शरीर भिन्न नहीं हैं।

केशी—पएसी ! तुमने कभी लोहे को फूंका है या उसे फूंके जाते हुए देखा है ?

पएसी—हाँ, भंते ! मैंने देखा है।

केशी—तुम्हें मालूम है कि उस समय लोहा अग्निमय हो जाता है। प्रश्न होता है, लोहे में यह अग्नि कैसे प्रविष्ट हुई जबकि लोहे में कहीं भी कोई छिद्र नहीं है। इसी तरह जीव अनिरुद्ध गतिवाला होने के कारण पृथ्वी, शिला आदि को भेदकर बाहर जा सकता है। इसलिए जीव और शरीर भिन्न है (१७१-१७४)।

तीसरी युक्ति :

(क) पएसी-मैं एक और उदाहरण देता हूं। कोई तरुण पुरुष धनुर्विद्या में कुशल होता है, लेकिन वही पुरुष बाल्यावस्था में शायद एक भी बाण धनुष पर रखकर नहीं छोड़ सकता। यदि बालक और युवा दोनों अवस्थाओं में पुरुष एक जैसा शक्तिशाली होता तो मैं समझता कि जीव और शरीर भिन्न हैं।

केशी—देखो, धनुर्विद्या में कुशल कोई पुरुष नये धनुष-बाण द्वारा जितनी कुशलता दिखा सकता है उतनी कुशलता पुराने धनुष-बाण द्वारा नहीं दिखा सकता। इसका मतलब यह हुआ कि तरुण पुरुष शक्तिशाली तो है पर उपकरणों की कमी के कारण वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं कर सकता। इसी प्रकार मन्द ज्ञानवाला व्यक्ति उपकरणों की कमी के कारण अपनी शक्ति नहीं दिखा

सकता, युवावस्था में उसकी शक्ति बढ़ जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि जीव और शरीर एक हैं।

(ख) पएसी—भन्ते ! कोई तरुण पुरुष लोहे, सीसे या जस्ते का भार भली प्रकार वहन कर सकता है, लेकिन वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर वही पुरुष लकड़ी लेकर चलने लगता है और भार वहन करने में असमर्थ हो जाता है। तरुणावस्था की भाँति यदि वृद्धावस्था में भी वह भार वहन करने योग्य रहता तो यह बात समझ में आ सकती थी कि जीव और शरीर दोनों भिन्न हैं।

केशी—देखो, हृष्ट-पुष्ट पुरुष ही भार वहन कर सकता है। यदि किसी हृष्ट-पुष्ट पुरुष के पास नई बहँगी आदि उपकरण मौजूद हैं तो वह अच्छी तरह भार उठा कर ले जा सकेगा, लेकिन यदि उसके पास पुरानी बहँगी आदि हो तो नहीं ले जा सकेगा। यही बात तरुण पुरुष और वृद्ध पुरुष के बारे में समझनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि जीव और शरीर भिन्न हैं (१७५–१७८)।

चौथी युक्ति :

(क) पएसी—अच्छा भन्ते ! एक दूसरा प्रश्न पूछने की आज्ञा दें। किसी चोर को जीवित अवस्था में तौलें और फिर उसे मार कर तौलें, दोनों अवस्थाओं में चोर के वजन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इससे जीव और शरीर की अभिन्नता ही सिद्ध होती है।

केशी—जैसे खाली और हवा-भरी मशक के वजन में कोई अन्तर नहीं पड़ता[1] इसी प्रकार जीवित पुरुष और मृतक पुरुष के वजन में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जीव में अगुरुलघु गुण मौजूद है इसलिए जीव के निकल जाने से मृतक का वजन कम नहीं होता।

(ख) पएसी—एक बार मैंने किसी चोर के शरीर की चारों ओर से परीक्षा की, लेकिन उसमें कहीं भी जीव दिखाई न दिया। फिर मैंने उसे काटा, छाँटा और उसे चीर कर देखा, लेकिन फिर भी जीव कहीं दिखाई न पड़ा। इससे जीव का अभाव ही सिद्ध होता है।

केशी—तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है पएसी ! देख, एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा : "हे देवानुप्रिय ! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं, तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार

१—विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि हवा में भी वजन होता है, इसलिए यह युक्ति संगत नहीं मालूम होती।

रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो लकड़ियों को घिसकर आग जला लेना।" संयोगवश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों ओर से उलट-पुलट कर देखने लगा लेकिन आग कहीं नजर न आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोटे-छोटे टुकड़े किये, लेकिन फिर भी आग दिखाई न दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौट कर आ गये। उसने उन लोगों से सारी बात कही। इस पर उनमें से एक साथी ने शर को अरणि के साथ घिसकर अग्नि जलाकर दिखाई और फिर सबने भोजन बना कर खाया। हे पएसी! जैसे लकड़ी को चीर कर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीर कर जीव देखने की इच्छा रखने वाला तू भी कुछ कम मूर्ख नहीं है (१७९-१८२)।

पएसी—भंते! जैसे कोई व्यक्ति अपनी हथेली पर आमला रख कर दिखा दे, क्या वैसे ही आप जीव को दिखा सकते है?

केशी—वीतराग ही धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अशरीरी जीव, परमाणु-पुद्गल, शब्द, गंध और वायु—इन आठ पदार्थों को जान सकते हैं, अल्पज्ञानी नहीं (१८६)।

पएसी—भंते! क्या हाथी और कुंथु (एक कीड़ा) में एक-समान जीव होता है?

केशी—हाँ, एक-समान होता है। देखो, यदि कोई व्यक्ति चारों ओर से बन्द किसी कूटागारशाला मे दीपक जलाये तो दीपक सारी कूटागारशाला को प्रकाशित करेगा और यदि उसी दीपक को किसी थाली आदि से ढक कर रख दिया जाय तो वह थाली जितने भाग को ही प्रकाशित करेगा। इसका मतलब यह हुआ कि दीपक तो दोनों जगह वही है, लेकिन यदि वह बड़े ढक्कन के नीचे रखा हो तो अधिक भाग को, और छोटे ढक्कन के नीचे रखा हो तो कम भाग को प्रकाशित करता है। यही बात जीव के सम्बन्ध में समझनी चाहिए (१८७)।

केशीकुमार की धर्मकथा श्रवण कर राजा पएसी की शंकाएँ दूर हो गईं। अब वह श्रमणोपासक हो गया और अपने राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, भंडार, कोठार, ग्राम, नगर और अन्तःपुर की ओर से उदासीन रहने लगा।

रानी सूर्यकान्ता ने देखा कि राजा विषय-भोगों की ओर से उदासीन रहने लगा है तो वह उसे विष-प्रयोग आदि द्वारा मारकर अपने पुत्र को राजगद्दी पर

बैठाने का उपाय सोचने लगी। एक दिन उसने राजा के भोजन-पान और वस्त्रा-भूषणों में विष मिला दिया। इससे भोजन करते ही और वस्त्राभूषण धारण करते ही राजा के शरीर में तीव्र वेदना होने लगी।

राजा समझ गया, लेकिन रानी के प्रति अपने मन में तनिक भी रोष न करते हुए प्रोषधशाला को झाड़-पोंछ कर दर्भ का संथारा ले पर्यङ्कासन से पूर्वा-भिमुख बैठ अर्हत-भगवंतों को नमस्कार कर केशीकुमार की स्तुति करने लगा। तत्पश्चात् उसने सर्वप्राणातिपात आदि पापों का त्याग कर अपने समस्त कर्मों की आलोचना की एवं प्रतिक्रमण द्वारा शरीर का त्याग किया और मर कर सौधर्म स्वर्ग में सूर्याभ नामक देव हुआ। सूर्याभदेव के अतुल समृद्धि प्राप्त करने की यही कहानी है (२०१–२०४)।

देवलोक से च्युत होकर सूर्याभदेव महाविदेह में उत्पन्न हुआ। उसके जन्म-दिन की खुशी में पहले दिन स्थितिपतिता, तीसरे दिन चन्द्रसूर्यदर्शन और छठे दिन जागरिका उत्सव मनाया गया। उसके बाद ग्यारहवें दिन सूतक बीत जाने पर बारहवें दिन उसका नाम संस्कार किया गया और वह दृढ़प्रतिज्ञ नाम से कहा जाने लगा[1]। तत्पश्चात् उसके प्रजेमनक (भोजन ग्रहण करना), प्रतिवर्धापनक, प्रचंक्रमण (पैरों से चलना), कर्णवेध, संवत्सर-प्रतिलेख (वर्षगांठ) और चूड़ोपनयन आदि संस्कार किये गये।

उसके बाद क्षीर, मंडन, मज्जन, अंक और क्रीडा करानेवाली पाँच धात्रियाँ, नाना देश-विदेश से लाई हुई अनेक कुशल दासियाँ तथा अन्तःपुर के रक्षण के लिए नियुक्त किये हुए वर्षधर, कंचुकी और महत्तर आदि कर्मचारी बालक का लालन-पालन करने लगे। तत्पश्चात् उसे कलाचार्य के पास भेजा गया जहाँ उसने ७४ कलाओं की शिक्षा ग्रहण की और वह अठारह देशी भाषाओं में विशारद, गीत-नृत्य रसिक और नाट्यकला में कोविद हो गया। दृढ़प्रतिज्ञ के माता-पिता ने चाहा कि वह सांसारिक विषय-भोगों की ओर अभिमुख हो, लेकिन जल-कमल की भाँति वह निर्लेप भाव से सांसारिक जीवन यापन करने लगा। कालान्तर में दृढ़प्रतिज्ञ ने मोक्ष प्राप्त किया (२०७–२१५)।

———

१—उववाइय सूत्र में भी दृढ़प्रतिज्ञ का लगभग यही वर्णन मिलता है।

प्रकरण ३

जीवाजीवाभिगम

तृतीय प्रकरण

जीवाजीवाभिगम

जीवाजीवाभिगम अथवा जीवाभिगम[1] जैन आगमों का तीसरा उपांग है। इसमें महावीर और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है। इसमें ९ प्रकरण (प्रतिपत्ति) और २७२ सूत्र हैं। तीसरा प्रकरण सब प्रकरणों से बड़ा है जिसमें देवों तथा द्वीप और सागरों[2] का विस्तृत वर्णन किया गया है। जीवाजीवाभिगम के टीकाकार मलयगिरि ने इसे स्थानांग का उपांग बताया है। इस उपांग पर पूर्वाचार्यों ने टीकाएँ लिखी थीं जो गंभीर और संक्षिप्त होने के कारण दुर्बोध थीं, इसलिए मलयगिरि ने यह विस्तृत टीका लिखी है। मलयगिरि ने अनेक स्थलों पर वाचना-भेद होने का उल्लेख किया है[3]।

पहली प्रतिपत्ति :

पहली जीवाजीवाभिगम प्रतिपत्ति है। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं—त्रस और स्थावर (सूत्र ९)। स्थावर जीव तीन प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकाय,

---

१. (अ) मलयगिरिकृत वृत्तिसहित—देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, सन् १९१९.
   (आ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४५.
   (इ) मलयगिरिकृत वृत्ति व गुजराती विवेचन के साथ—धनपतसिंह, अहमदाबाद, सन् १८८३.

   परम्परा के अनुसार इसमें २० उद्देश थे, और २०वें उद्देश की व्याख्या शालिभद्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि ने की थी। अभयदेव ने भी इसके तृतीय पद पर संग्रहणी लिखी थी।

२. दीवसागरपन्नत्ति नामक उपांग अलग भी है जो आजकल अनुपलब्ध है।

३. इह भूयान् पुस्तकेषु वाचनाभेदो गलितानि च सूत्राणि बहुषु पुस्तकेषु यथावस्थितवाचनाभेदप्रतिपत्त्यर्थं गलितसूत्रोद्धरणार्थं चैवं सुगमान्यपि विव्रियन्ते (जीवाजीवाभिगम टीका ३, ३७६)।

अप्काय और वनस्पतिकाय (१०)। बादर वनस्पतिकाय बारह होते हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वग (ईख आदि), तृण, वलय (कदली आदि जिनकी त्वचा गोलाकार हो), हरित् (हरियाली), औषधि, जलरुह (पानी में पैदा होनेवाली वनस्पति), कुहण (पृथ्वी को भेदकर पैदा होनेवाला वृक्ष) (२०)। साधारणशरीर बादर वनस्पतिकायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं (२२)। त्रस जीव तीन प्रकार के होते हैं—तेजस्काय, वायुकाय और औदारिक त्रस[1] (२२)। औदारिक त्रस चार प्रकार के होते हैं—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय वाले (२७)। पंचेन्द्रिय चार प्रकार के होते हैं—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव (३१)। नरक सात होते हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा (३२)। तिर्यञ्च तीन प्रकार के होते हैं—जलचर, थलचर, और नभचर (३४)। जलचर पांच प्रकार के होते हैं—मत्स्य, कच्छप, मकर, ग्राह और शिशुमार (३५)। थलचर जीव चार प्रकार के होते हैं—एकखुर, दोखुर, गंडीपय और सणप्पय (सनखपद) (३६)। नभचर जीव चार प्रकार के होते हैं—चम्मपक्खी, लोमपक्खी, समुग्गपक्खी और विततपक्खी (३६)। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—संमूर्च्छिम मनुष्य और गर्भोत्पन्न मनुष्य (४१)। देव चार प्रकार के होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक (४२)।

दूसरी प्रतिपत्ति :

संसारी जीव तीन प्रकार के होते हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक (४४)। स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—तिर्यञ्च, मनुष्य और देव (४५)। पुरुष भी तीन प्रकार के हैं—तिर्यञ्च, मनुष्य और देव (५२)। नपुंसक तीन प्रकार के होते हैं—नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य (५८)। नपुंसक वेद को किसी महानगर के प्रज्वलित होने के समान दाहकारी समझना चाहिए (६१)।

तीसरी प्रतिपत्ति :

नरक की सात पृथ्वियों का वर्णन करते हुए निम्न बातों का उल्लेख किया गया है :—

---

१. बहुत से आचार्यों ने तेजस् और वायुकाय को स्थावर जीवों में गिना है।

सोलह प्रकार के रत्न—रत्न, वज्र, वैडूर्य, लोहित, मसारगल्ल, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, ज्योतिरस, अंजन, अंजनपुलक, रजत, जातरूप, अंक, स्फटिक, अरिष्ट[1] (६९)।

अस्त्र-शस्त्रों के नाम—मुद्गर, मुसुंढि, करपत्र (करवत), असि, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, नाराच, कुंत, तोमर, शूल, लकुट, भिंडिपाल[2] (८९)।

धातुओं आदि के नाम—लोहा, तांबा, त्रपुस, सीसा, रूप्य, सुवर्ण, हिरण्य, कुंभकार की अग्नि, ईंट पकाने की अग्नि, कवेलु पकाने की अग्नि, यन्त्रपाटक चुल्ली (जहाँ गन्ने का रस पकाया जाता है) (८९)।

जम्बूद्वीप के एकोरु नामक द्वीप में विविध कल्पवृक्षों का वर्णन करते हुए निम्न विषयों का उल्लेख किया गया है :—

मद्य के नाम—चन्द्रप्रभा (चन्द्र के समान जिसका रंग हो), मणिशलाका, वरसीधु, वरवारुणी, फलनिर्यासंसार (फलों के रस से तैयार की हुई मदिरा), पत्रनिर्यासंसार, पुष्पनिर्यासंसार, चोयनिर्यासंसार, बहुत द्रव्यों को मिलाकर तैयार की हुई, सन्ध्या के समय तैयार हो जानेवाली, मधु, मेरक, रिष्ठ नामक रत्न के समान वर्णवाली (इसे जबूफलकलिका भी कहा गया है), दुग्धजाति (पीने में दूध के समान मालूम होती हो), प्रसन्ना, नेल्लक (अथवा तल्लक), शतायु (सौ बार शुद्ध करने पर भी जैसी की तैसी रहने वाली), खर्जूरसार, मृद्वीकासार (द्राक्षासव), कापिशायन, सुपक्व, क्षोदरस (ईख के रस को पकाकर बनाई हुई)[3]।

---

१. रत्नों के लिये देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र ३६,७५ आदि; पन्नवणा १,१७; बृहत्संहिता (७९–८४ आदि); दिव्यावदान (१८, पृ० २२९); परमत्थदीपनी (पृ० १०३)।

२. शस्त्रों के लिए देखिये—प्रश्नव्याकरण (४,१८); अभिधानचिन्तामणि (३,४४९)।

३. देखिये—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सू० २०, पृ० ९९ आदि; पन्नवणा १७, पृ० ३६४ आदि; जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १९८–२०० . मद्यपान कर लेने पर साधु को क्या करना चाहिये—बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (९५४–६)।

पात्रों के नाम—चारक (मंगल घट), घट, करक, कलश, कक्करी[1], पाद-काञ्चनिका (जिससे पाँव धोये जाते हों), उदंक (जिससे जल का छिड़काव किया जाय), वद्धणी (वार्धनी—गलंतिका—छोटी कलसी जिसमें से पानी रह रहकर टपकता हो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, १०० अ), सुपविट्ठर (पुष्प रखने का पात्र), पारी (दूध दोहने का बर्तन; हिन्दी में पाली), चषक (सुरा पीने का पात्र), भृङ्गार (झारी), करोडी (करोटिका), सरग (मदिरापात्र), धरग (?), पात्रीस्थाल, णत्थग (नल्लक, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०० अ), चवलिय (चपलित, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), अवपदय ।

आभूषणों के नाम--हार (जिसमें अटारह लड़ियाँ हों), अर्धहार (जिसमें नौ लड़ियाँ हों), वट्टणग (वेष्टनक, कानों का आभरण), मुकुट, कुण्डल, वामुत्तग (व्यामुक्तक, लटकने वाला गहना), हेमजाल (छेद वाला सोने का आभूषण), मणिजाल, कनकजाल, सूत्रक (वैकक्षककृतं सुवर्णसूत्रं--जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, पृ० १०५—यज्ञोपवीत की तरह पहना जानेवाला आभूषण), उचियकडग (उचितकटिकानि—योग्यवलयानि, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका), खुड्डग (एक प्रकार की अँगूठी), एकावली, कण्ठसूत्र, मगरिय (मकर के आकार का आभूषण)[2], उरत्थ (वक्षस्थल पर पहनने का आभूषण), ग्रैवेयक (ग्रीवा का आभूषण), श्रोणिसूत्र (कटिसूत्र), चूड़ामणि, कनकतिलक, फुल्ल (फूल), सिद्धार्थक (सोने की कण्ठी), कण्णवालि (कानों की बाली), शशि, सूर्य, वृषभ, चक्र (चक), तलभंग (हाथ का आभूषण), तुडअ (बाहु का आभूषण), हत्थिमालग (हस्तमालक), वलक्ष (गले का आभूषण), दीनार-मालिका, चन्द्रसूर्यमालिका, हर्षक, केयूर, वलय, प्रालम्ब (झुमका), अंगु

---

१. बाण के हर्षचरित में कर्करी, कलशी, अलिंजर, उदकुम्भ और घट इन पाँच मिट्टी के पात्रों का उल्लेख है। कर्करी को कंटकित कहा है। अहिच्छत्रा और हस्तिनापुर की खुदाई में मिले गुप्तकालीन पात्रों से पता लगता है कि उनके बाहर की ओर कटहल के फल पर उठे काँटों जैसा अलंकरण बना रहता था, देखिये—वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १८०.

२. मकरिका का उल्लेख बाणभट्ट के हर्षरचित में अनेक जगह आता है। दो मकरमुखों को मिलाकर फूल-पत्तियों के साथ बनाया हुआ आभूषण मकरिका कहलाता था—वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४.

लीयक (अंगूठी), कांची, मेखला, पयरग (प्रतर), पादजाल[1] (पैरों का आभूषण), घंटिका, किंकिणी, रयणोरुजाल (रत्नोरुजाल), नूपुर, चरणमालिका, कनकनिकरमालिका ।

भवन आदि के नाम—प्राकार, अट्टालग (अटारी), चरिय (गृह और प्राकार के बीच का मार्ग), द्वार, गोपुर, प्रासाद, आकाशतल, मण्डप, एकशाला (एक घरवाला मकान), द्विशाला, त्रिशाला, चतुःशाला[2], गर्भगृह, मोहनगृह, वलभीगृह, चित्रशाला, मालक (मजले वाला घर), गोलघर, त्रिकोण घर, चौकोण घर, नन्द्यावर्त, पंडुरतलहर्म्य, मुंडमालहर्म्य (जिसमें शिखर न हो), धवलगृह (हिन्दी में धरहरा), अर्धमागधविभ्रम[3] (?), शैलसंस्थित (पर्वत के आकार का), शैलार्धसंस्थित, कूटागार, सुविधिकोष्ठक, शरण (झोंपड़ी आदि), लयन (गुफा आदि), विडंक (कपोतपाली, प्रासाद के अग्रभाग मे कबूतरों के रहने का स्थान, कबूतरों का दरबा), जालवृन्द (गवाक्षसमूह), निर्यूह (खूँटी अथवा द्वार), अपवरक (भीतर का कमरा), दोवाली (?), चन्द्रशालिका ।

वस्त्रों के नाम—आजिनक (चमड़े का वस्त्र), क्षौम, कम्बल, दुकूल, कौशेय, कालमृग के चर्म से बना वस्त्र, पट्ट, चीनांशुक, आभरणचित्र (आभूषणों मे चित्रित), सहिणगकल्लाणग (सूक्ष्म और सुन्दर वस्त्र), तथा सिन्धु, द्रविड़, वंग, कलिंग आदि देशों में बने वस्त्र[4] ।

मिष्टान्न के नाम—गुड़, खांड, शक्कर, मत्स्यण्डी (मिसरी), बिसकंद, पर्पट-मोदक, पुष्पोत्तर, पद्मोत्तर, गोक्षीर[5] ।

---

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका (पृ० १०५ अ) में पारिहार्य—वलयविशेषः ।

२. जिसमें एक आँगन के चारों ओर चार कमरे या दालान हों । हिन्दी में चौसल्ला । गुप्तकाल में इसे संजवन कहने लगे थे—वासुदेवशरण अग्रवाल, वही, पृ० ९२.

३. गृहविशेषाः, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, पृ० १०६ अ ।

४. यहाँ वस्त्रों के और भी नाम हैं जिनके विषय में टीकाकार ने लिखा है—शेषं सम्प्रदायादवसातव्यं, तदन्तरेण सम्यक् पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात्, पृ० २६९. वस्त्रों के लिए देखिये—आचारांग (२–५–१–३६४, ३६८); निशीथचूर्णि (७. १२ की चूर्णि, पृ० ३९९); जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २०५–१२.

५. स्थानांग (सूत्र १३५, पृ० १११) में निम्नलिखित १८ व्यंजन बताये गये हैं : १–सूप, २–ओदन, ३–यवान्न, ४–६ तीन प्रकार के मांस,

ग्राम आदि के नाम–ग्राम[1], नगर, निगम, (जहाँ बहुत से वणिक् रहते हों), खेट (जिसके चारों ओर मिट्टी का परकोटा बना हो), कर्बट (जो चारों ओर से पर्वत से घिरा हो), मडंब (जिसके चारों ओर पाँच कोस तक कोई ग्राम न हो), पट्टण (जहाँ विविध देशों से माल आता हो), द्रोणमुख (जहाँ अधिकतर जलमार्ग से आते-जाते हों), आकर (जहाँ लोहे आदि की खानें हों), आश्रम, संबाध (जहाँ यात्रा के लिये बहुत से लोग आते हों), राजधानी, सन्निवेश (जहाँ सार्थ आकर उतरते हों[2])।

राजा आदि के नाम—राजा, युवराज, ईश्वर (अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सम्पन्न), तलवर[3] (नगररक्षक, कोतवाल), माडम्बिय (मडम्ब के नायक), कौटुम्बिक (अनेक कुटुम्बों के आश्रयदाता राजसेवक), इभ्य (प्रचुर धन के स्वामी), श्रेष्ठी (जिनके मस्तक पर देवता की मूर्ति सहित सुवर्णपट्ट बँधा हो), सेनापति, सार्थवाह (सार्थ का नेता[4])।

७–गोरस, ८–जूस, ९–भक्ष्य (खंडखाद्य), १०–गुडपर्पटिका, ११–मूलफल, १२–हरीतक, १३–शाक, १४–रसालू, १५–सुरापान, १६–पानीय, १७–पानक, १८–छाछ से छौंका हुआ शाक।

१. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति (१–१०९४) में उत्तानमल्लकाकार, अवाङ्मुख-मल्लकाकार, सम्पुटमल्लकाकार, खंडमल्लकाकार आदि अनेक प्रकार के ग्राम बताये हैं।

२. देखिये—जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण शब्द-सूचियाँ, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५९, ३–४, संवत् २०११, पृ० २९५ आदि।

३. सन्तुष्टनरपतिप्रदत्तसौवर्णपट्टालंकृतशिरस्कचौरादिशुद्ध्यधिकारी, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-टीका, पृ० १२२.

४. सार्थवाह का लक्षणः—

गणिमं धरिमं मेज्जं पारिच्छं चैव दव्वजायं तु।
घेत्तूण लाभत्थं वच्चइ जो अन्नदेसं तु।
निवबहुमओ पसिद्धो दीणाणाहाणवच्छलो पंथे।
सो सत्थवाहनामं धणो व्व लोए समुव्वहइ॥

—टीका, पृ० २७३ अ।

दासों के प्रकार—दास (आमरण दास), प्रेष्य (जो किसी काम के लिये भेजे जा सकें), शिष्य, भृतक (जो वेतन लेकर काम करते हों), भाइल्लग (भागीदार), कर्मकर[1]।

त्योहारों के नाम—आवाह (विवाह के पूर्व ताम्बूल इत्यादि देना), विवाह, यज्ञ, (प्रतिदिन इष्टदेवता की पूजा), श्राद्ध, थालीपाक (गृहस्थ का धार्मिक कृत्य), चेलोपनयन (मुण्डन), सीमंतोन्नयन (गर्भस्थापन), मृतपिंडनिवेदन।

उत्सवों के नाम—इन्द्रमह, स्कन्दमह, रुद्रमह, शिवमह, वैश्रमणमह, मुकुन्दमह, नागमह, यक्षमह, भूतमह, कूपमह, तडागमह, नदीमह, ह्रदमह, पर्वतमह, वृक्षारोपणमह, चैत्यमह, स्तूपमह।

नट आदि के नाम—नट (बाजीगर), नर्तक, मल्ल (पहलवान), मौष्टिक (मुष्टियुद्ध करने वाले), विडम्बक (विदूषक), कहग (कथाकार), प्लवग (कूदने-फाँदने वाले), आख्यायक, लासक (रास गाने वाले), लंख (बाँस के ऊपर चढ़ कर खेल करने वाले), मंख (चित्र दिखा कर भिक्षा माँगने वाले), तूण बजाने वाले, वीणा बजाने वाले, कावण (बहँगी लेजाने वाले), मागध, जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले)।

यानों के नाम—शकट, रथ, यान (गाड़ी), जुग्ग (गोल्ल देश में प्रसिद्ध दो हाथ प्रमाण चौकोर वेदी से युक्त पालकी जिसे दो आदमी ढोकर ले जाते हों), गिल्ली (हाथी के ऊपर की अंबारी जिसमें बैठने से आदमी दिखाई नहीं देता[2]), थिल्ली (लाट देश में घोड़े की जीन को थिल्ली कहते है। कहीं दो खच्चरों की गाड़ी को थिल्ली कहा जाता है), शिबिका (शिखर के आकार की ढकी हुई पालकी), स्यन्दमानी (पुरुषप्रमाण लम्बी पालकी)।

अनर्थ के कारण—ग्रहदण्ड, ग्रहमुशल, ग्रहगर्जित (ग्रहों के सञ्चार से होने वाली आवाज), ग्रहयुद्ध, ग्रहसंघाटक (ग्रह की जोड़ी), ग्रहअपसव्यक (ग्रह का प्रतिकूल होना), अभ्र (बादल), अभ्रवृक्ष (बादलों का वृक्षाकार परिणत होना), सन्ध्या, गन्धर्वनगर (बादलों का देवताओं के नगर रूप में परिणत

---

१. निशीथचूर्णि (११.३६७६) में गर्भदास, क्रीतदास, अनृण (ऋण न दे सकने के कारण) दास, दुर्भिक्षदास, सापराधदास और रुद्धदास (कैदी) ये दासों के भेद बताये हैं।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका के अनुसार "डोली"।

होना), गर्जित, विद्युत् , उल्कापात, दिशादाह, निर्घात, (बिजली का गिरना), पांशुवृष्टि, यूपक (शुक्ल पक्ष के द्वितीया आदि तीन दिनों में चन्द्र की कला और सन्ध्या के प्रकाश का मिलन), यक्षदीप्तक, धूमिका (धुँआसा), महिका (कुहरा), रज-उद्धात (दिशाओं में धूल का फैल जाना), चन्द्रोपराग (चन्द्र-ग्रहण), सूर्योपराग (सूर्यग्रहण), चन्द्रपरिवेश, सूर्यपरिवेश, प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, उदकमत्स्य (इन्द्रधनुष का एक टुकड़ा), कपिहसित (आकाश में अकस्मात् भयंकर शब्द होना), प्राचीनवात, अप्राचीनवात, शुद्धवात, ग्रामदाह, नगरदाह आदि ।

कलह के प्रकार—डिम्ब (अपने देश में कलह), डमर (परराज्य द्वारा उपद्रव), कलह, बोल, खार (मात्सर्य), वैर, विरुद्धराज्य[1] ।

युद्ध के नाम—महायुद्ध, महासंग्राम, महाशस्त्रनिपतन, महापुरुषबाण, महारुधिरबाण, नागबाण, तामसबाण ।

रोगों के नाम—दुर्भूत (अशिव), कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडल रोग, शिरोवेदना, अक्षिवेदना, कर्णवेदना, नासिकावेदना, दन्तवेदना, नखवेदना, कास (खाँसी), श्वास, ज्वर, दाह, कच्छू (खुजली), खसर, कोढ़, अर्श, अजीर्ण, भगन्दर, इन्द्रग्रह, स्कन्दग्रह, नागग्रह, भूतग्रह, उद्वेग, एकाहिका (एक दिन छोड़ कर ज्वर आना), द्वयाहिका (दो दिन छोड़ कर ज्वर आना), त्र्याहिका, चतुर्थका (चौथिया), हृदयशूल, मस्तकशूल, पार्श्वशूल, कुक्षिशूल, योनिशूल, मारी (१११) ।

देवों के प्रकार—देव चार प्रकार के होते हैं-भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक । भवनवासी दस होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार (११४–१२०) । व्यन्तरों के अनेक प्रकार हैं—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, भुजगपति, महाकाय, गन्धर्वगण आदि (१२१) । ज्योतिष्क देवों का वर्णन सूत्र १२२ में है ।

पद्मवरवेदिका—द्वीप-समुद्रों में जम्बूद्वीप का वर्णन करते हुए उसके प्राकार के मध्यभाग में स्थित पद्मवरवेदिका का वर्णन किया गया है । वेदिका नेम (दहलीज), प्रतिष्ठान (नींव), खंभे, फलग (पटिये), संधि (सांधे), सूची (नली), कलेवर (मनुष्यप्रतिमा), कलेवरसंघाटक, रूपक (हस्त्यादीनां

---

१. बृहत्कल्पसूत्र और उसके भाष्य में इस नाम का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है ।

रूपकाणि, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, पृ० २३), रूपकसंघाटक, पक्ष (पख), पक्षबाहु (पखबाह), वंश (धरन) वंशकवेल्लुय (खपड़ा), पट्टिका (पटिया), अवघाटनी (छाजन) और उपरिपुंछनी (टाट) से शोभित है। इसके चारों ओर हेमजाल, किंकिणिजाल, मणिजाल, पद्मवरजाल लटक रहे हैं। इसके चारों ओर सुवर्णपत्र से मंडित तथा हार और अर्धहार से शोभित सुनहले झूमके दिखाई दे रहे हैं जो वायु से मन्द-मन्द हिलते हुए ध्वनि कर रहे हैं। पद्मवर-वेदिका के बीच घोड़े, हाथी, नर, किंनर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व और वृषभ के युग्म बने हुए हैं। यहाँ घोड़ों आदि की पंक्तियां तथा पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चंपकलता, वनलता, वासतीलता, अतिमुक्तकलता, कुन्दलता और श्यामलता चित्रित की हुई हैं। बीच-बीच में अक्षय स्वस्तिक बने हुए हैं। वेदिका के नीचे, ऊपर, और चारों ओर अति सुन्दर पुष्प शोभित हो रहे हैं (१२५)।

पद्मवरवेदिका से बाहर एक सुन्दर वनखंड है (१२६)। इसमें अनेक वापियाँ और पुष्करिणियाँ बनी हुई हैं। इनके सोपान नेम (दहलीज), प्रतिष्ठान (नींव) आदि से युक्त हैं और उनके सामने मणिमय खंभों पर विविध ताराओं से खचित और ईहामृग, वृषभ आदि से चित्रित, विद्याधरों के युगल से शोभित तोरण लटके हुए हैं। तोरणों के ऊपर आठ मंगल स्थापित हैं, विविध रंग की ध्वजाएँ लटकी हुई हैं तथा छत्र, पताका, घंटे, चामर, और कमल लगे हुए हैं। वनखंड मे आलिघर (आलि—एक वनस्पति, टीकाकार), मालिघर (मालि—एक वनस्पति, टीकाकार), कदलीघर, लताघर, अच्छणघर (आराम करने का घर), प्रेक्षणघर, स्नानघर, प्रसाधनघर, गर्भघर (भीतर का घर), मोहनघर, शालघर (बरामदे वाला घर), जालघर (खिड़कियों वाला घर), कुसुमघर, चित्रघर, गंधर्वघर (जहाँ गीत, नृत्य आदि का अभ्यास किया जाता है) और आदर्शघर (शीशमहल) बने हुए हैं। वनखंड में जातिमंडप, यूथिकामण्डप, मल्लिकामंडप, नवमालिकामंडप, वासतीमंडप, दधिवासुका (वनस्पतिविशेषः, टीकाकार), सूरिल्लि (वनस्पति, टीकाकार), तंबोलीमंडप, मृद्वीकामंडप, नागलतामंडप, अतिमुक्तकलतामंडप, अप्फोय (वनस्पति, टीकाकार) मंडप, मालुकामंडप और श्यामलतामंडप बने हुए हैं। इनमें बैठने के लिये हंसासन, क्रौंचासन, गरुडासन, उन्नत-आसन, प्रणतआसन, दीर्घासन, भद्रासन, पक्षासन, मकरासन, वृषभासन, सिंहासन, पद्मासन और दिशास्वस्तिक आसन बिछे हुए हैं (१२७)।

विजयद्वार—जम्बूद्वीप के विजय नामक द्वार का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसके शिखर सोने के बने हुए हैं जो ईहामृग, वृषभ आदि के चित्रों से शोभायमान हैं। यह नेम, प्रतिष्ठान, खंभे, देहली, इन्द्रकील, द्वारशाखा, उत्तरंग, कपाट, संधि, सूची, समुद्गक, अर्गला, अर्गलापाशक, आवर्तनपीठिका और उत्तरपार्श्वक से युक्त है। द्वारों के बन्द हो जाने पर घर में हवा प्रवेश नहीं कर सकती, द्वार के दोनों ओर भित्तिगुलिका (चौकी) और गोमाणसिय (बैठकें) बने हुए हैं। यह द्वार विविध रत्नों से खचित शालभंजिकाओं से शोभित है। द्वार के ऊपर-नीचे कूट (कमान), उत्सेध (शिखर), उल्लोक (छत), भौम (फर्श), पक्ष (पख), पक्षबाह (पखबाह), वंश (धरन), वंशकवेल्लुय (खपड़ा), पट्टिया (पटिया), अवघाटिनी (छाजन) और उपरिपुंछनी (टाट) दिखाई दे रहे हैं। द्वार के ऊपर अनेक तिलक और अर्धचन्द्र बने हैं और मणियों की मालाएँ टँगी हैं। दोनों ओर चंदन-कलश रखे हैं। इनमें सुगन्धित जल भरा है और लाल डोरा बँधा हुआ है। दोनों ओर दो दो नागदन्त (खूँटियाँ) लगी हैं जिनमें छोटी छोटी घंटियाँ और मालाएँ लटकी हुई हैं। एक नागदन्त के ऊपर अनेक नागदन्त हैं। इन पर सिक्कक (छींके) लटके हैं और इन सिक्कों में धूपघटिकाएँ रखी हैं जिनमें अगर आदि पदार्थ महक रहे हैं। द्वार के दोनों ओर दो-दो शालभंजिकाएँ हैं। ये रंग-बिरंगे वस्त्र और मालाएँ पहने हैं; इनका मध्य भाग मुष्टिग्राह्य है। इनके पीन पयोधर हैं और कृष्ण केश हैं। ये अपने बाँये हाथों से अशोक वृक्ष की शाखा पकड़े हैं, कटाक्षपात कर रही हैं, एक दूसरे को इस तरह देख रही हैं मानो खिजा रही हों। द्वार के दोनों ओर जालकटक है और घंटे लटक रहे हैं। दोनों ओर की बैठकों में वनपंक्तियाँ हैं जिनमें नाना वृक्ष लगे हैं (१२९)।[1]

विजयद्वार के दोनों ओर दो प्रकंटक (आसन) हैं और ऊपर प्रासादावतंसक नामक प्रासाद बने हुए हैं। इन प्रासादों में मणिपीठिकाएँ बिछी हुई हैं जो सिंहासनों से शोभित हैं। ये सिंहासन चक्कल, सिंह, पाद, पादपीठ, गात्र और संधियों से युक्त तथा ईहामृग, वृषभ आदि के चित्रों से शोभित हैं। सिंहासनों के आगे पाँव रखने के लिये पादपीठ हैं जो मसूरग (मुलायम गद्दी) और अत्यन्त कोमल सिंहकेसर (एक प्रकार का वस्त्र) से

---

१. यही वर्णन रायपसेणइय सूत्र (९८-१०४) में है।

शोभित हैं। इनके ऊपर रजस्त्राण बिछे हैं और फिर उन पर दुकूल बिछाये गये हैं। सिंहासन श्वेत वर्ण के विजयदूष्य से आच्छादित हैं। उनके बीचों बीच अंकुश (खूँटी) लगे हैं जिन पर मोतियों की एक बड़ी माला लटक रही है और इस माला के चारों ओर चार मालाएँ हैं। प्रासादावतंसक अष्ट मंगल आदि से शोभित हैं[1] (१३०)।

विजयद्वार के दोनों ओर दो-दो तोरण लगे हुए हैं। उनके सामने दो-दो शालभंजिकाएँ और नागदंत हैं; नागदन्तों में मालाएँ लटकी हैं। तोरणों के सामने हयसंघाटक, हयपंक्ति, पद्मलता आदि लताएँ चित्रित की हुई हैं तथा चन्दनकलश और झारियाँ रखी हुई हैं। फिर दो आदर्श (दर्पण), शुद्ध और श्वेत चावलों से भरे थाल, शुद्ध जल और फलों से भरी पात्री, औषधि आदि से पूर्ण सुप्रतिष्ठक तथा मनोगुलिका (आसन) और करंडक (पिटारे) रखे हुए हैं। फिर दो-दो हयकंठ (रत्नविशेष, टीकाकार) आदि रखे हैं जिनमें बहुत सी टोकरियाँ हैं जो पुष्पमाला, चूर्ण, वस्त्र और आभरणों से भरी हैं। फिर सिंहासन, छत्र, चामर, तेल, कोष्ठ आदि सुगंधित पदार्थ सजे हुए हैं[2] (१३१)।

सुधर्मा सभा—विजयद्वार की विजया राजधानी में विजय नामक देव रहता है (१३४-५)। विजय की सुधर्मा सभा[3] अनेक खंभों के ऊपर प्रतिष्ठित है और वेदिका से शोभित है। इसमें तोरण लगे हुए हैं और शालभंजिकाएँ दिखाई देती हैं। इसका फर्श मणि और रत्नों से खचित है। इसमें ईहामृग आदि के चित्र बने हैं और खंभों के ऊपर बनी हुई वेदिकाएँ विद्याधरों के युगल से शोभायमान हैं। यहाँ चंदनकलश रखे हुए हैं, मालाएँ और पताकाएँ टँगी हुई हैं तथा देवांगनाएँ नृत्य कर रही हैं (१३७)।

सिद्धायतन—सुधर्मा सभा के उत्तर-पूर्व में सिद्धायतन है। उसके बीच एक मणिपीठिका है जिसपर अनेक जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। इनके पीछे छत्र, चँवर और दंडधारी प्रतिमाएँ हैं। इनके आगे नाग, यक्ष, भूत और कुण्डधार

१. रायपसेणइय (४२-४३) में भी यही वर्णन है।

२. रायपसेणइय (१०६) में भी यही वर्णन है।

३. भरहुत की बौद्ध कला में सुधर्मा देवसभा का अंकन किया गया है—मोतीचन्द, आर्किटेक्चरल डेटा इन जैन केनोनिकल लिटरेचर, द जर्नल ऑफ द यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, १९४९, पृ० ७९.

(आशाधारी) प्रतिमाएँ हैं। इन प्रतिमाओं के आगे घंटे लटक रहे हैं तथा चन्दनकलश, भृङ्गार, आदर्श, थाल, पात्री, धूपदान आदि रखे हुए हैं (१३९)।

सिद्धायतन के उत्तर-पूर्व में एक उपपात-सभा है। वहाँ एक जलाशय के पास अभिषेक-सभा है। विजयदेव ने अपनी देवशय्या से उठ, अभिषेक-सभा में स्नान कर, दिव्य वस्त्रालंकार धारण किए। फिर व्यवसाय-सभा में पहुँच अपनी पुस्तक का स्वाध्याय किया (१४०)। फिर नंदा पुष्करिणी में जाकर हस्तपाद का प्रक्षालन किया तथा भृंगार में जल भर कर कमल-पुष्पों को तोड़ सिद्धायतन में प्रवेश किया। वहाँ उसने जिनप्रतिमाओं को झाड़-पोंछ कर गंधोदक से स्नान कराया, उन्हें पोंछा, उन पर गोशीर्ष चन्दन का लेप किया और फिर उन्हें देवदूष्य पहनाये। तत्पश्चात् उन पर पुष्प, माला, गंध आदि चढ़ाये और चावलों द्वारा अष्ट मंगल आदि बनाये। फिर पुष्पों की वर्षा की और धूपदान में दीप-धूप जलाकर जिन भगवान् की स्तुति की[1] (१४२)।

आगे निम्नलिखित विषयों का वर्णन है :—

उत्तरकुरु (१४७), जंबूवृक्ष (१५२), जम्बूद्वीप में चन्द्र, सूर्य आदि की संख्या (१५३), लवणसमुद्र (१५४–१७३), धातकीखंड (१७४), कालोदसमुद्र (१७५), पुष्करवरद्वीप (१७६), मानुषोत्तर पर्वत (१७८), पुष्करोद समुद्र, वरुणवर द्वीप व वरुणवर समुद्र (१८०), क्षीरवर द्वीप व क्षीरोद समुद्र (१८१), घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, क्षोदवर द्वीप व क्षोदवर समुद्र[2] (१८२), नन्दीश्वर द्वीप (१८३), नन्दीश्वरोद समुद्र (१८४), अरुण द्वीप, अरुणोद समुद्र, कुण्डल द्वीप, कुण्डल समुद्र, रुचक द्वीप, रुचक समुद्र इत्यादि (१८५), लवण आदि समुद्रों के जल का स्वाद (१८७), लवणादि समुद्रों में मत्स्य, कच्छप आदि की संख्या (१८८), चन्द्र-सूर्य आदि का परिवार (१९३–१९४), चंद्रादि विमानों का आकार और विस्तार (१९७), चन्द्रादि विमानों के वाहक (१९८), वैमानिक देव (२०७–२२३)।

चौथी प्रतिपत्ति :

इसमें बताया गया है कि संसारी जीव पाँच प्रकार के होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (२२४-२२५)।

---

१. प्रायः यही वर्णन रायपसेणइय (१२९-१३९) में भी मिलता है।

२. इस समुद्र में पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के देवों के पाये जाने का उल्लेख है।

पाँचवीं प्रतिपत्ति :

इसमें बताया है कि संसारी जीव छः प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। निगोद दो प्रकार के होते हैं—निगोद और निगोदजीव (२२८-२३९)।

छठी प्रतिपत्ति :

इसमें बताया है कि संसारी जीव सात प्रकार के होते हैं—नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य, मानुषी, देव और देवी (२४०)।

सातवीं प्रतिपत्ति :

इसमें बताया है कि संसारी जीव आठ प्रकार के होते हैं—प्रथम समय-नैरयिक, अप्रथम समय-नैरयिक, प्रथम समय-तिर्यंचयोनिक, अप्रथम समय-तिर्यंचयोनिक, प्रथम समय-मनुष्य, अप्रथम समय-मनुष्य, प्रथम समय-देव व अप्रथम समय-देव (२४१)।

आठवीं प्रतिपत्ति :

इसमें बताया है कि संसारी जीव नौ प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय।

नौवीं प्रतिपत्ति :

इसमें जीवों का सिद्ध-असिद्ध, सेन्द्रिय-अनिन्द्रिय, ज्ञानी-अज्ञानी, आहारक-अनाहारक, भाषक-अभाषक, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, परीत्त-अपरीत्त, पर्याप्तक-अपर्याप्तक, सूक्ष्म-बादर, संज्ञी-असंज्ञी, भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक, योग, वेद, दर्शन, संयत, असंयत, कषाय, ज्ञान, शरीर, काय, लेश्या, योनि, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा से वर्णन किया गया है।

प्रकरण ४

प्रज्ञापना

प्रज्ञापना पद

स्थान पद

अल्पबहुत्व पद

स्थिति पद

विशेष अथवा पर्याय पद

व्युत्क्रान्ति पद

उच्छ्वास पद

संज्ञी पद

योनि पद

चरमाचरम पद

भाषा पद

शरीर पद

परिणाम पद

कषाय पद

इन्द्रिय पद

प्रयोग पद

लेश्या पद

कायस्थिति पद

सम्यक्त्व पद

अन्तक्रिया पद

शरीर पद

क्रिया पद

कर्मप्रकृति पद

कर्मबन्ध पद

कर्मवेद पद
कर्मवेदबन्ध पद
कर्मवेदवेद पद
आहार पद
उपयोग पद
पश्यत्ता पद
संज्ञी पद
संयत पद
अवधि पद
परिचारणा पद
वेदना पद
समुद्घात पद

चतुर्थ प्रकरण

प्रज्ञापना

पन्नवणा अथवा प्रज्ञापना[1] जैन आगमों का चौथा उपांग है। इसमें ३४९ सूत्रों में निम्नलिखित ३६ पदों का प्रतिपादन है:—प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति, विशेष, व्युत्क्रान्ति, उच्छ्वास, संज्ञा, योनि, चरम, भाषा, शरीर, परिणाम, कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, सम्यक्त्व, अन्तक्रिया, अवगाहना-संस्थान, क्रिया, कर्म, कर्मबन्धक, कर्मवेदक, वेदबन्धक, वेदवेदक, आहार, उपयोग, पश्यत्ता—दर्शनता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचारणा, वेदना और समुद्घात। इन पदों का विस्तृत वर्णन गौतम इन्द्रभूति और महावीर के प्रश्नोत्तररूप में किया गया है। जैसे अंगों में भगवती सूत्र वैसे ही उपांगों में प्रज्ञापना सबसे बड़ा है। इस उपांग के कर्ता वाचकवंशीय पूर्वधारी आर्य श्यामाचार्य हैं जो सुधर्मा स्वामी की तेईसवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे और महावीरनिर्वाण के ३७६ वर्ष बाद मौजूद थे। इसके टीकाकार मलयगिरि हैं जिन्होंने हरिभद्रसूरिकृत विषम पदों के विवरणरूप लघु टीका के आधार से टीका लिखी है।[2] यह आगम समवायांग सूत्र का उपांग माना गया है, यद्यपि दोनों की विषयवस्तु में कोई

---

१. (अ) मलयगिरिविहित विवरण, रामचन्द्रकृत संस्कृत छाया व परमानन्दर्षिकृत स्तबक के साथ—धनपतसिंह, बनारस, सन् १८८४.

(आ) मलयगिरिकृत टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१८-१९१९.

(इ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४५.

(ई) मलयगिरिविरचित टीका के गुजराती अनुवाद के साथ—भगवानदास हर्षचंद्र, जैन सोसायटी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९१.

(उ) हरिभद्रविहित प्रदेशव्याख्यासहित—ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था तथा जैन पुस्तक प्रचारक संस्था, सन् १९४७-१९४९.

२. जयति हरिभद्रसूरिष्टीकाकृद्विवृतविषमभावार्थः।
यद्वचनवशादहमपि जातो लेशेन विवृतिकरः॥
—प्रज्ञापनाटीका, पृ० १४९.

समानता नहीं है। नंदिसूत्र में प्रज्ञापना की गणना अंगबाह्य आवश्यकव्यतिरिक्त उत्कालिक श्रुत में की गई है।

प्रज्ञापना पद :

प्रज्ञापना दो प्रकार की है—जीवप्रज्ञापना और अजीवप्रज्ञापना (सूत्र १)। अरूपी अजीवप्रज्ञापना दस प्रकार की है—धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय का प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, आकाशास्तिकाय, आकाशास्तिकाय का देश, आकाशास्तिकाय का प्रदेश और अद्धासमय (काल) (३)। रूपी अजीवप्रज्ञापना चार प्रकार की है—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणुपुद्गल (४)। एकेन्द्रिय संसारी जीवप्रज्ञापना पाँच प्रकार की है—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक (१०)। बादर पृथिवीकायिक अनेक प्रकार के हैं—शुद्ध पृथिवी, शर्करा (कंकर), वालुका (रेत), उपल (छोटे पत्थर), शिला, लवण, ऊष (खार), लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चाँदी, सुवर्ण, वज्ररत्न, हड़ताल, हिंगुल (सिंगरफ), मणसिल (मैनसिल), सासग (पारा), अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल (अभरख), अभ्रवालुका और मणि के विविध प्रकार—ये सब बादर पृथिवीकायिक हैं। गोमेध्यक, रुचक, अङ्क, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील, चंदनरत्न, गैरिक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकांत, सूर्यकांत[1] इत्यादि खरबादर पृथिवीकायिक हैं (१५)। बादर अप्कायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं—अवश्याय (ओस), हिम, महिका (कुहरा), करक (ओला), हरतनु (वनस्पति के ऊपर की पानी की बूँदें), शुद्धोदक, शीतोदक, उष्णोदक, क्षारोदक, खट्टा उदक, अम्लोदक, लवणोदक, वारुणोदक (मदिरा के स्वादवाला पानी), क्षीरोदक, घृतोदक, क्षोदोदक (ईख के रस जैसा पानी) और रसोदक (१६)। बादर तेजस्कायिक अनेक प्रकार के हैं—अङ्गार, ज्वाला, मुर्मुर (राख मे मिले हुए आग के कण), अर्चि (इधर-उधर उड़ती हुई ज्वाला), अलात (जलता हुआ काष्ठ), शुद्धाग्नि, उल्का, विद्युत्, अशनि (आकाश से गिरते हुए अग्निकण), निर्घात (बिजली का गिरना), रगड़ से उत्पन्न और सूर्यकान्तमणि से निकली हुई अग्नि (१७)। बादर वायुकायिक अनेक प्रकार के हैं—पूर्व से बहने वाली वायु, पश्चिम से बहने वाली वायु, दक्षिण वायु, उत्तर वायु, ऊर्ध्व वायु, अधो वायु, तिर्यक् वायु,

१. देखिए—उत्तराध्ययन (३६.७३-७६) भी।

विदिशा की वायु, वातोद्भ्राम (अनवस्थित वायु), वातोत्कलिका (समुद्र की भाँति वायु की तरंगें), वातमण्डली, उत्कलिकावात (बहुत सी तरंगों से मिश्रित वायु), मण्डलिकावात (मण्डलाकार वायु), गुंजावात (गूँजती हुई वायु), झंझावात (वृष्टिसहित), संवर्तक वायु, तनुवात, शुद्धवात (१८)।

प्रत्येकशरीर बादर वनस्पतिकायिक १२ प्रकार के हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म लता, वल्ली, पर्वग (पर्व वाले), तृण, वलय (केला आदि, जिनकी छाल गोलाकार हो), हरित, औषधि, जलरुह (जल में पैदा होनेवाली वनस्पति), कुहणा (भूमिस्फोट) (२२)।

वृक्ष दो प्रकार के होते है—एक बीजवाले व अनेक बीजवाले। एक बीजवालों में नींबू, आम, जामुन, कोशाम्र (जङ्गली आम), शाल, अङ्कोल, (पिश्ते का पेड़), पीलु, सेलु (श्लेष्मातक—लिसोड़ा), सल्लकी, मोचकी, मालुक, बकुल (मौलसिरी), पलाश (केसू या टेसू), करंज (करिंजा), पुत्रंजीवक (जियापोता), अरिष्ट (अरीठा), बिभीतक (बहेड़ा), हरितक (हरड), भिलावा, उंबेभरिका, क्षीरिणी, धातकी (धाय), प्रियाल, पूतिनिंबकरंज, सुह्ना (श्लक्ष्णा), सीसम, असन (बीजक), पुन्नाग (नागकेसर), नागवृक्ष, श्रीपर्णी, अशोक (३१-३२)। अनेक बीजवाले वृक्षों में अस्थिक, तिन्दुक (तेंदू), कपित्थक (कैथ), अम्बाडक, मातुलिङ्ग (बिजौरा), बिल्व (बेल), आम्रातक (आँवला), फणस (कटहल), दाडिम, अश्वत्थ (पीपल), उदुम्बर, वट, न्यग्रोध, नन्दिवृक्ष, पीपल, सयरी (शतावरी), प्लक्ष, काकोदुम्बरी, कुस्तुम्बरी (धनिया, पाइअसद्दमहण्णव), देवदाली, तिलक, लकुच (एक प्रकार का कटहल), छत्रौघ, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब[1] (२३)।

गुच्छ अनेक प्रकार के हैं— वाइंगणि (बैंगन), सल्यकी, शुण्डकी, कच्छुरी (कपिकच्छु, केवाँच–पाइअसद्दमहण्णव), जातुमणा (जपा), रूपी, आढ़की, नीली, तुलसी, मातुलिंगी, कुस्तुम्बरी (धनिया), पिप्पलिका (पीपल), अलसी, वल्ली,

१. दस भवनवासियों के दस चैत्यवृक्ष निम्न प्रकार से हैं—आसत्थ, सत्तिवन्न, सामलि, उम्बर, सिरीस, दहिवन्न, वंजुल, पलास, वप्प, कणियार (स्थानाङ्ग, पृ० ४६१ अ)। आठ व्यन्तरों के चैत्यवृक्ष निम्न प्रकार से हैं—कलम्ब (पिशाच), वट (यक्ष), तुलसी (भूत), कंडक (राक्षस), अशोक (किन्नर), चम्पा (किंपुरुष), नाग (भुजङ्ग—महोरग), तेंदुअ (गन्धर्व)।

काकमाची, बुच्चु (?), पटोलकन्दली, विउव्वा, वत्थुल, बदर (बेर), पत्तउर, सीयउर, जवसय (जवासा), निर्गुंडी, अत्थई, तलउडा, सन, पाण, कासमद्द, अग्घाडग (अपामार्ग, चिचड़ा—पाइअसद्दमहण्णव), श्यामा, सिंदुवार (सम्हालु), करमद्द (करौंदा), अद्दरूसग (अडूसा), करीर, ऐरावण, महित्थ, जाउलग, मालग, परिली, गजमारिणी, कुव्वकारिया, भंडी (मंजीठ), जीवन्ती, केतकी, गंज, पाटला (पाढल), दासि, अङ्कोल (२३)।

गुल्म अनेक प्रकार के होते हैं—सेरियक, नवमालिका, कोरंटक, बन्धुजीवक (दुपहरिया), मनोज्ञ, पिइय, पाण, कणेर, कुब्जक (सफेद गुलाब), सिंदुवार, जाती, मोगरा, जूही, मल्लिका, वासन्ती, वत्थुल, कत्थुल, सेवाल, ग्रन्थी, मृगदन्तिका, चम्पकजाति, नवणीइया, कुन्द, महाजाति (२३)।

लताएँ अनेक प्रकार की होती हैं—पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चंपकलता, चूतलता, वनलता, वासन्तीलता, अतिमुक्तकलता, कुन्दलता, श्यामलता (२३)।

वल्लियाँ अनेक प्रकार की होती हैं—पूसफली, कालिंगी (जङ्गली तरबूज की बेल), तुम्बी, त्रपुषी (ककड़ी), एलवालुंकी (चिर्भट, एक तरह की ककड़ी), घोषातकी, पण्डोला, पञ्चांगुलिका, नीली, कंगूया, कंडुइया, कटुइया, कङ्कोडी (ककरैल), कारियल्लई (करेला), कुयधाय, वागुलीया, पाववल्ली, देवदाली, आस्फोता, अतिमुक्तक, नागलता, कृष्णा, सूरवल्ली (सूरजमुखी की बेल), सङ्घट्टा, सुमणसा, जासुवण, कुविंदवल्ली, मृद्वीका (अंगूर की बेल), अम्बावल्ली, क्षीरविदारिका, जयन्ती, गोपाली, पाणी, मासावल्ली, गुञ्जावल्ली, वच्छाणी (वत्सादनी, गजपीपल), शशबिन्दु, गोत्रस्पर्शिका, गिरिकर्णिका, मालुका, अञ्जनकी, दधिपुष्पिका, काकणी, मोगली, अर्कबोंदि (२३)।

पर्वक (पर्व—गाँठ वाले)—इक्षु, इक्षुवाटिका, वीरण, इक्कड़, मास, सुण्ट, शर, वेत्र (बेंत), तिमिर, शतपोरक, नल (एक प्रकार का तृण), बाँस, वेलू (बाँस का प्रकार), कनक (बाँस का प्रकार), कर्कावंश, चापवंश, उदक, कुडक, विमत (अथवा विसय), कंडावेणू, कल्याण (२३)।

तृण—सेडिय, भंतिय, होंतिय, दर्भ, कुश, पव्वय, पोडइल, अर्जुन, आषाढक, रोहितांश, सुय, वेय, क्षीर, भुस, एरंड, कुरुविंद, करकर, मुट्ठ, विभंगु, मधुरतृण, क्षुरय, सिप्पिय, सुंकलीतृण (२३)।

वलय—ताल, तमाल, तक्कलि, तोयली, साली, सारकल्लाण, सरल (चीड़), जावती, केतकी, केला, धर्मवृक्ष, भुजवृक्ष (भोजपत्र वृक्ष), हिंगुवृक्ष, लवंगवृक्ष, पूगफली (सुपारी), खजूरी, नालिकेरी (नारियल) (२३)।

हरित—अज्जोरुह, वोडाण, हरितक, तंदुलेज्जग, वत्थुल, पोरग, मज्जारय, चिल्ली, पालक, दकपिप्पली (जलपीपल), दर्वी, स्वस्तिक, साय, मंडूकी, मूली, सरसों, अंबील, साएय, जियंतय (जीवंतक, मालवा में प्रसिद्ध जीवशाक), तुलसी, कृष्णा, उराल, फणिज्जक, अर्जक, भूजनक, चोरक, दमनक, मरवा, शतपुष्प, इंदीवर (२३)।

औषधियाँ—शालि, व्रीहि, गोधूम (गेहूँ), जौ, जवजव (एक प्रकार का जौ), कलाय (मटर), मसूर, तिल, मूँग, माष, (उड़द), निष्पाव, कुलथी, आलिसंद, सडिण (अरहर), पलिमंथ (चना), अलसी, कुसुंभ (कुसुंबा), कोद्रव (कोदों), कंगू, रालग, वरट्ट, साम, कोदूस (कोरदूषक), सन, सरसों, मूली के बीज (२३)।

जलरुह—उदक, अवक, पनक, सेवाल, कलंबुय, हद, कसेरुय (कसेरु), कच्छ, भाणी, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सुगंधित, पुंडरीक, महापुंडरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कल्हार, कोकनद, तामरस, बिस, बिसमृणाल, पुष्कर, स्थलज पुष्कर (२३)।

कुहण—आय, काय, कुहण, कुणक्क, दव्वहलिय, सप्फाय, सज्झाय, छत्रौक, वंसी, णहिय, कुरय (२३)।

साधारणशरीर बादर वनस्पतिकायिक जीव—अवक, पनक, सेवाल, रोहिणी, थीहू, थिभगा, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सिउंढी, मुसुंढि, रुरु, कुंडरिका, जीरु, क्षीरबिदारिका, किट्टी, हरिद्रा (हलदी), शृंगबेर (अदरक), आलू, मूली, कंबूया, कन्नुकड, महुपोवलइ (?), मधुशृंगी, नीरुह, सर्पसुगंध, छिन्नरुह, बीजरुह, पाढा, मृगवालुंकी, मधुररसा, राजवल्ली, पद्मा, माढरी, दंती, चंडी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी जीवक, ऋषभक, रेणुका, काकोलि, क्षीरकाकोली, भंगी, कृमिराशि, भद्रमुस्ता (मोथा), णंगलइ, पेलुगा, कृष्ण, पडल, हढ (जल वनस्पति), हरतनुक, लोयाणी, कृष्णकंद, वज्रकंद, सूरणकंद, खल्लूट[1] (२४)।

---

१. इन नामों के लिये जीवाजीवाभिगम (सूत्र २१) तथा उत्तराध्ययन (३६. ९६–९९) भी देखने चाहिये।

द्वीन्द्रिय जीव—पुलाकिमिय (गुदा में उत्पन्न कृमि), कुक्षिकृमि (पेट के कीड़े), गंडूयलग (गेंडुआ), गोलोम, णेउर, सोमंगलग, वंसीमुह, सूचिमुख, गोजलौका, जलौका, जालाउय, शंख, शंखनक (छोटे-शंख), घुल्ल, खुल्ल (क्षुद्र), गुलय, खंध, वराट (कौड़ी), शौक्तिक, मौक्तिक, कलुयावास, एकतः आवर्त, द्विधा आवर्त, नंदियावत्त, संबुक्क (शंबुक), मातृवाह, सीपी, चंदनक, समुद्रलिक्ष[1] (२७)।

त्रीन्द्रिय—औपयिक, रोहिणिय, कुंथू, पिपीलिका (चींटी), उद्दंसग (डांस), उद्देहिय (दीमक), उक्कलिया, उप्पाय, (उत्पाद), उप्पाड (उत्पाटक), तणाहार (तृणाहार), कट्ठाहार (काष्ठाहार), मालुका, पत्राहार, तणबेंटिय, पुप्फबेंटिय, फलबेंटिय, बीजबेंटिय, तेबुरणमिंजिय, तओसिमिंजिय, कप्पासट्ठिमिंजिय, हिल्लिय, झिल्लिय, झिंगिर, किंगिरिड, बाहुय, लहुय, सुभग, सौवस्तिक, सुयबेंट, इंदकायिक, इंदगोवय (इन्द्रगोप), तुरुतुंबग, कच्छलवाहग (अथवा कोत्थलवाहग), जूय (जूं), हालाहल, पिसुय, सयवाइय (शतपादिका), गोम्ही (कानखजूरा), हत्थिसौंड[2] (२८)।

चतुरिन्द्रिय—अंधिय, पत्तिय, मच्छिय, मशक (मच्छर), कीट, पतंग, ढंकुण (खटमल), कुक्कड, कुक्कुह, नंदावर्त, सिंगिरड (उत्तराध्ययन में भिंगिरीडी), कृष्णपत्र, नीलपत्र, लोहितपत्र, हारिद्रपत्र, शुक्लपत्र, चित्रपक्ष, विचित्रपक्ष, ओहंजलिय, जलचारिका, गंभीर, णीणिय, तंतव, अच्छिरोड, अक्षिवेध, सारंग, नेउर, दोल, भ्रमर, भरिली, जरुल, तोट्ट, बिच्छू, पत्रबिच्छू, छाणबिच्छू, जलबिच्छू, पियंगाल (अथवा सेइंगाल), कणग, गोमय-कीडा (गोबर के कीड़े)[3] (२९)।

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव (३०)।

तिर्यंच तीन प्रकार के होते हैं— जलचर, थलचर और नभचर (३२)। जलचर—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर और सुंसुमार। मगर—सण्हमच्छ (श्लक्ष्ण मत्स्य), खवल्लमत्स्य, जुंगमत्स्य, विज्झडियमत्स्य, हलिमत्स्य, मगरिमत्स्य (मगर-मच्छ), रोहितमत्स्य, हलीसागर, गागर, वड, वडगर, गब्भय, उसगार, तिमि,

---

१. देखिए—उत्तराध्ययन (३६. १२८-९) भी।
२. देखिए—उत्तराध्ययन (३६. १३७-९) भी।
३. देखिए—वही, ३६. १४६-८।

तिमिंगिल, णक्क (नाकू), तंदुलमत्स्य, कणिकामत्स्य, सालि, स्वस्तिकमत्स्य, लंभनमत्स्य, पताका, पताकातिपताका। कच्छप—अस्थिकच्छप, मांसकच्छप। ग्राह—दिली, वेढग (वेष्टक), मुद्धय (मूर्धज), पुलक, सीमाकार। मगर—सोंडमगर, मट्ठमगर (३३)।

थलचर जीव चार प्रकार के होते हैं—एकखुर, दोखुर, गंडीपद और सनख-पद (नखयुक्त पैरवाले)। एकखुर—अश्व, अश्वतर (खच्चर), घोड़ा, गर्दभ, गोरक्षर, कंदलग, श्रीकंदलग, आवर्तग। दो खुरवाले—ऊँट, गाय, गवय, रोझ, पसय, महिष, मृग, संबर, वराह, बकरा, भेड़, रुरु, शरभ, चमर, कुरंग, गोकर्ण। गंडीपद—हस्ती, हस्तीपूयणग, मंकुणहस्ती, खड्गी (गेंडे की जाति)। सनखपद—सिंह, व्याघ्र, द्वीपी, अच्छ (रीछ), तरक्ष, परस्सर (सरभाः, टीकाकार), गीदड़, बिडाल(बिलाड़ी), कुत्ता, कौलशुनक[1], कोकंतिय (लोमटिकाः, टीकाकार[2]), ससग (ससा), चित्तग, चिल्लग (३४)।

उरपरिसर्प चार प्रकार के हैं—अहि, अजगर, आसालिका, महोरग। अहि दो प्रकार के हैं—दर्वीकर (फणधारी साँप) और मुकुली (फणरहित)। दर्वीकर—आशीविष, दृष्टिविष, उग्रविष, भोगविष, त्वचाविष, लालाविष, उच्छ्वासविष, निःश्वासविष, कृष्णसर्प, श्वेतसर्प, काकोदर, दग्धपुष्प, कोलाह, मेलिमिंद, शेषेन्द्र। मुकुली—दिव्वाग, गोणस, कसाहीय, वइउल, चित्तली, मंडली, माली, अहि, अहिसलाग, वासपताका (३५)।

भुजपरिसर्प अनेक प्रकार के हैं—नकुल, सेह, सरड (शरट), शल्य, सरंठ, सार, खोर, घरोइल (गृहकोकिल—छिपकली), विस्संभर, मूषक, मंगुस, पयलाइल (प्रचलायित), क्षीरविरालिय, जोह, चतुष्पादिक (३५)।

नभचर चार प्रकार के होते हैं—चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्गकपक्षी और विततपक्षी। चर्मपक्षी—वग्गुली, जलोय, अडिल्ल, भारंड पक्षी, जीवंजीव, समुद्रवायस, कण्णत्तिय, पक्षीविरालिक। लोमपक्षी—ढंक, कंक, कुरल, वायस, चक्रवाक, हंस, कलहंस, राजहंस, पायहंस, आड, सेडी, बक (बगुला), बलाका (बगुलों की जाति), पारिप्लव, क्रौंच, सारस, मेसर, मसूर, मयूर, सप्तहस्त,

---

1. महाशूकर–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका।

2. लोमटकाः ये रात्रौ को को इत्येवं रवन्ति–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका, पृ० १२३ अ।

गहर, पुंडरीक, काक, कामिंजुय, वंजुलग, तीतर, वट्टग (बतक), लावक, कपोत कपिंजल, पारावत, चटक (चिड़िया), चास, कुक्कुड (मुर्गा) शुक, बर्ही (मयूर), मदनशलाका, कोयल, सेह, वरिल्लग (३५)[1] ।

मनुष्य तीन प्रकार के हैं—कर्मभूमक, अकर्मभूमक और अन्तरद्वीपक। अन्तरद्वीपक—एकोरुक, आभासिक, वैषाणिक, नांगोलिक, हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, शष्कुलीकर्ण, आदर्शमुख, मेंढमुख, अयोमुख, गोमुख, अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख, व्याघ्रमुख, अश्वकर्ण, हरिकर्ण, आकर्ण, कर्णप्रावरण, उल्कामुख, मेघमुख, विद्युन्मुख, विद्युद्दन्त, घनदंत, लष्टदंत, गूढदंत, शुद्धदंत (३६) ।

अकर्मभूमक तीस होते हैं—पाँच हैमवत, पाँच हिरण्यवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यकवर्ष, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु (३६) ।

कर्मभूमक पन्द्रह होते हैं—पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच महाविदेह । ये दो प्रकार के होते हैं—आर्य और म्लेच्छ । म्लेच्छ—शक, यवन, चिलात (किरात), शबर, बर्बर, मुरुंड, उड्ड (ओड्र), भडग, निण्णग, पक्कणिय, कुलक्ख, गोंड, सिंहल, पारस, गोध, कौंच, अंध, दमिल (द्रविड), चिल्लल, पुलिंद, हारोस, डोंब, बोक्कण, गंधहारग (?), बहलीक, अज्झल (जल्ल ?), रोमपास (?), बकुश, मलय, बंधुय, सूयलि, कोंकणग, मेय, पह्लव, मालव, मग्गर, आभासिय, अणक्ख, चीण, लासिक, खस, खासिय, नेहुर, मोंढ, डोंबिलग, लओस, पओस, केकय, अक्खाग, हूण, रोमक, रुरु, मरुय[2] आदि (३७) ।

---

१. जीवों के उक्त भेद-प्रभेदों का वर्णन जीवाजीवाभिगम (सूत्र १५, १७, २०,२१,२५,२६,२७,२८,२९,३०,३५,३६,३८,३९) में भी किया गया है । इन नामों में अनेक पाठभेद हैं और टीकाकार ने बहुत से शब्दों की व्याख्या न करके उन्हें केवल 'सम्प्रदायगम्य' कहा है । खोज करने से बहुत से शब्दों का पता लग सकता है ।

२. अनार्य जातियों की तालिका के लिये देखिए—प्रश्नव्याकरण, पृ० १३; भगवती, पृ० ५३ (पं० बेचरदास); उत्तराध्ययन-टीका, पृ० १६१ अ; प्रवचनसारोद्धार, पृ० ४४५ । इस तालिका में भी अशुद्ध पाठ हैं । देखिये—जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० ३५८-६६.

आर्य दो प्रकार के होते हैं--ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्त—अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव[1], वासुदेव, चारण और विद्याधर। अनृद्धिप्राप्त नौ प्रकार के होते हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य।

क्षेत्रार्य साढ़े पच्चीस (२५½) देश के माने गये हैं[2]—

जनपद	राजधानी
१ मगध	राजगृह
२ अंग	चम्पा
३ बंग	ताम्रलिप्ति
४ कलिंग	कांचनपुर
५ काशी	वाराणसी
६ कोशल	साकेत
७ कुरु	गजपुर
८ कुशावर्त	शौरिपुर
९ पांचाल	कांपिल्यपुर
१० जांगल	अहिच्छत्रा
११ सौराष्ट्र	द्वारवती
१२ विदेह	मिथिला
१३ वत्स	कौशांबी
१४ शांडिल्य	नंदिपुर
१५ मलय	भद्रिलपुर
१६ मत्स्य	वैराट
१७ वरणा	अच्छा

---

१. अरहंत, चक्रवर्ती और बलदेव के विषय में कहा गया है कि ये तुच्छ, दरिद्र, कृपण, भिक्षुक और ब्राह्मण कुलों में जन्म धारण नहीं करते; उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, क्षत्रिय, हरिवंश आदि विशुद्ध कुलों में ही उत्पन्न होते हैं—कल्पसूत्र, २५.

२. इन स्थानों की पहचान के लिये देखिए—जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० २५० आदि तथा भारत के प्राचीन जैन तीर्थ।

१८ दशार्ण	मृत्तिकावती
१९ चेदि	शुक्ति
२० सिन्धु-सौवीर	वीतिभय
२१ शूरसेन	मथुरा
२२ भंगि	पापा
२३ वट्टा (?)	मासपुरी (?)
२४ कुणाल	श्रावस्ती
२५ लाढ़	कोटिवर्ष
२५½ केकयी अर्ध	श्वेतिका[1]

जात्यार्य—अंबष्ठ,[2] कलिंद, विदेह,[3] वेदग, हरित, चुंचुण (या तुंतुण)[4]।
कुलार्य—उग्र,[5] भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव्य[6]।

---

१. महावीर के काल में साकेत के पूर्व में अंग-मगध, दक्षिण में कौशांबी, पश्चिम में स्थूणा और उत्तर में कुणाला तक जैन श्रमणों को विहार करने की अनुमति थी। तत्पश्चात् राजा सम्प्रति ने अपने भट आदि भेज कर २५½ देशों को जैन श्रमणों के विहार योग्य बनाया। देखिए—बृहत्कल्प-भाष्य, गा० ३२६२.

२. ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान को अम्बष्ठ कहा गया है, देखिए—मनुस्मृति तथा आचाराङ्गनिर्युक्ति (२०–२७)।

३. वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न सन्तान को वैदेह कहा गया है, देखिए—मनुस्मृति तथा आचाराङ्गनिर्युक्ति (२०–२७)।

४. उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य (३.१५) में इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरु, बुंबुनाल (?), उग्र, भोग, राजन्य आदि की गणना जाति-आर्य में की गई है। श्वपच, पाण, डोंब आदि को जैन ग्रन्थों में जाति-जुंगित कहा है।

५. क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान को उग्र कहा गया है, देखिए—मनुस्मृति तथा आचाराङ्ग-निर्युक्ति।

६. तत्त्वार्थभाष्य (३.१५) में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की गणना कुल-आर्य में की गई है।

कर्मार्य—दौष्यिक (कपड़े बेचने वाले), सौत्रिक (सूत बेचने वाले), कार्पासिक (कपास बेचने वाले), सूत्रवैकालिक, भांडवैकालिक, कोलालिय (कुम्हार), नरवाहनिक (पालकी आदि उठाने वाले)[१] ।

शिल्पार्य—तुन्नाग (रफ़ू करने वाले), तन्तुवाय (बुनने वाले), पट्टकार (पटवा), देयडा (दृतिकार, मशक बनाने वाले), वरुट्ट (पिंछी बनाने वाले), छब्विय (चटाई आदि बुनने वाले), काष्ठपादुकाकार (लकड़ी की पादुका बनाने वाले), मुंजपादुकाकार, छत्रकार, वज्झार (वाहन बनाने वाले), पोत्थकार (पूँछ के बालों से झाड़ू आदि बनाने वाले, अथवा मिट्टी के पुतले बनाने वाले), लेप्यकार, चित्रकार, शंखकार, दंतकार, भांडकार, जिज्झगार (?), सेल्लगार (भाला बनाने वाले), कोडिगार (कौड़ियों की माला आदि बनाने वाले)[२] ।

भाषार्य—अर्धमागधी भाषा बोलने वाले ।

ब्राह्मी लिपि लिखने के प्रकार—ब्राह्मी,[३] यवनानी, दोसापुरिया,

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र (पृ० १३६ अ) में तृणहारक, काष्ठहारक और पत्रहारक की भी गणना की गई है। तत्त्वार्थभाष्य (३.१५) में यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, कृषि, लिपि, वाणिज्य, योनिपोषण से आजीविका चलानेवालों को कर्म-आर्य में गिना है। उत्तरकालवर्ती जैन ग्रन्थों में मयूर-पोषक, नट, मछुए, धोबी आदि को कर्म-जुंगित कहा है।

२. अनुयोगद्वार सूत्र में कुम्भकार, चित्तगार, णंतिक्क (कपड़ा सीने वाला) कम्मगार, कासव (नाई) की पाँच मूल शिल्पकारों में गणना की गई है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृ० १९३) में नव नारु में कुम्भार, पटेल, सुनार, सूपकार, गन्धर्व, नाई, माली, काछी, तंबोली, तथा नव कारु में चमार, कोल्हू आदि चलाने वाला, गांछी, छींपी, कसारा, दर्जी, गुआर (ग्वाला), भील और धीवर की गणना की गई है। उत्तरकालवर्ती जैन ग्रन्थों में चमार, धोबी और नाई आदि को शिल्प-जुंगित कहा है।

३. जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव ने अपने दाहिने हाथ से यह लिपि अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाई थी, इसलिए इसका नाम ब्राह्मी पड़ा (आवश्यकचूर्णि, पृ० १५६)। भगवती सूत्र (पृ० ७) में 'णमो बंभीए लिवीए' कहकर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है। इससे मालूम होता है कि जैन आगम पहले इसी लिपि में लिखे गये थे।

खरोष्ट्री[1], पुक्खरसारिया, भोगवती, पहराइया, अंतक्खरिया (अंताक्षरी), अक्खरपुट्ठिया, वैनयिकी, निह्नविकी, अंकलिपि, गणितलिपि, गान्धर्वलिपि, आदर्शलिपि, माहेश्वरी, दोमिलिपि (द्राविडी), पौलिन्दी[2]।

ज्ञानार्थ पाँच प्रकार के हैं—आभिनिबोधिक, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

इस लिपि में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, और ळ को छोड़कर ४६ मूलाक्षर (माउयक्खर) बताये गये हैं (समवायांग, पृ० ५७ अ)। ईसवी सन् के पूर्व ५००–३०० तक भारत की समस्त लिपियाँ ब्राह्मी के नाम से कही जाती थीं (मुनि पुण्यविजय, भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखनकला)।

१. यह लिपि ईसवी सन् के पूर्व ५वीं शताब्दी में अरमईक लिपि में से निकली है (मुनि पुण्यविजय, वही, पृ० ८)। ललितविस्तर (पृ० १२५ आदि) में ६४ लिपियों का उल्लेख है जिनमें ब्राह्मी और खरोष्ट्री ये दो मुख्य लिपियाँ स्वीकार की गई हैं। ब्राह्मी बाँयें से दाँयें और खरोष्ट्री दाँयें से बाँयें लिखी जाती थी। खरोष्ट्री लिपि लगभग ईसवी सन् के पूर्व ५०० में गन्धार देश में प्रचलित थी। आगे चलकर इस लिपि का स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया। इसी लिपि में से आजकल के नागरी लिपि के अक्षरों का विकास हुआ है। अशोक के लेख इसी लिपि में लिखे गये थे। देखिए—डा० गौरीशंकर ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १७–३६.

२. समवायांग सूत्र (पृ० ३१ अ) में १८ लिपियों में उच्चत्तरिआ और भोगवइया लिपियों का उल्लेख है। विशेषावश्यकभाष्य की टीका (पृ० ४६४) में निम्नलिखित लिपियाँ गिनाई गई हैं—हंस, भूत, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, तुरुक्की, कीरी, द्राविडी, सिंधवीय, मालवी, नटी, नागरी, लाट, पारसी, अनिमित्ती, चाणक्यी, मूलदेवी। और भी देखिए—लावण्यसमयगणि, विमलप्रबन्ध; लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय, कल्पसूत्र-टीका। चाणक्यी, मूलदेवी, अंक, नागरी तथा शून्य, रेखा, औषधि, सहदेवी आदि लिपियों के लिए देखिए—मुनि पुण्यविजय, वही पृ० ६; अगरचन्द नाहटा, जैन आगमों में उल्लिखित भारतीय लिपियाँ एवं 'इच्छा लिपि', नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५७, अंक ४, सं० २००९.

दर्शन-आर्य—सराग दर्शन, वीतराग दर्शन। सराग दर्शन—निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि, धर्मरुचि। वीतराग दर्शन—उपशांतकषाय, क्षीणकषाय।

चारित्रार्य—सराग चारित्र, वीतराग चारित्र। सराग चारित्र—सूक्ष्मसंपराय, बादरसंपराय। वीतराग चारित्र—उपशांतकषाय, क्षीणकषाय। अथवा चारित्रार्य पाँच होते हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात चारित्र (३७)।

देव चार प्रकार के होते हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक। भवनवासी—असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार। व्यंतर—किंनर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच। ज्योतिषी—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा। वैमानिक—कल्पोपग, कल्पोपपन्न। कल्पोपग—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतव, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत। कल्पातीत—ग्रैवेयक, अनुत्तरोपपातिक। ग्रैवेयक नौ होते हैं। अनुत्तरोपपातिक पाँच हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि (३८)।

स्थान पद :

इसमें पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, नैरयिक, तिर्यंच, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, वैमानिक और सिद्ध जीवों के वासस्थान का वर्णन है (३९-५४)।

अल्पबहुत्व पद :

इसमें दिशा, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परीत्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भव, अस्तिकाय, चरम, जीव, क्षेत्र, बन्ध, पुद्गल और महादण्डक—इन २७ द्वारों की अपेक्षा से जीवों का वर्णन है (५५-९३)।

स्थिति पद :

इसमें नैरयिक, भवनवासी, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वि-त्रि-चतुर पंचेन्द्रिय, मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिषी, और वैमानिक जीवों की स्थिति का वर्णन है (९४–१०२)।

विशेष अथवा पर्याय पद :

इसमें जीवपर्याय का वर्णन करते हुए अजीवपर्याय में अरूपी अजीव और रूपी अजीव का वर्णन किया है तथा अरूपी अजीव में धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय-देश, धर्मास्तिकायप्रदेश, अधर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायदेश, अधर्मास्तिकाय-प्रदेश, आकाशास्तिकाय, आकाशास्तिकायदेश आकाशास्तिकायप्रदेश, अद्धासमय तथा रूपी अजीव में स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणुपुद्गल का वर्णन किया है (१०३–१२१)।

व्युत्क्रान्ति पद :

बारह मुहूर्त और चौबीस मुहूर्त का उपपात और उद्वर्तन (मरण) संबंधी विरहकाल क्या है, यहाँ जीव सान्तर उत्पन्न होता है अथवा निरन्तर, एक समय में कितने जीव उत्पन्न होते हैं और कितने मरते हैं, कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं, मर कर कहाँ जाते हैं, परभव की आयु कब बँधती है, आयुबन्धसम्बन्धी आठ आकर्ष कौन से हैं—इन आठ द्वारों से जीव का वर्णन किया गया है (१२२–१४५)।

उच्छ्वास पद :

इस पद में नैरयिक आदि के उच्छ्वास ग्रहण करने और छोड़ने के काल का वर्णन है (१४६)।

संज्ञी पद :

इसमें आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, माया, लोभ और ओघ संज्ञाओं के आश्रय से जीवों का वर्णन है (१४७–१४९)।

योनि पद :

इस पद में शीत, उष्ण, शीतोष्ण, सचित्त, अचित्त, मिश्र, संवृत, विवृत, संवृत-विवृत, कूर्मोन्नत, शंखावर्त और वंशीपत्र योनियों के आश्रय से जीवों का वर्णन किया है (१५०–१५३)।

चरमाचरम पद :

इस पद में चरम, अचरम आदि पदों के आश्रय से रत्नप्रभा आदि पृथिवियों, स्वर्ग, परमाणुपुद्गल, जीव आदि का वर्णन है (१५४–१६०)।

भाषा पद :

इस पद[1] में बतलाया है कि सत्य भाषा दस प्रकार की है—जनपदसत्य, संयतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, अपेक्षासत्य, व्यवहारसत्य, योगसत्य व उपमासत्य। मृषा भाषा दस प्रकार की होती है—क्रोधनिश्रित, माननिश्रित, मायानिश्रित, लोभनिश्रित, प्रेमनिश्रित, द्वेषनिश्रित, हास्यनिश्रित, भयनिश्रित, आख्यायिकानिश्रित व उपघातनिश्रित। सत्यमृषा भाषा दस प्रकार की है—उत्पन्नमिश्रित, विगतमिश्रित, उत्पन्नविगतमिश्रित, जीवमिश्रित, अजीवमिश्रित, जीवाजीवमिश्रित, अनन्तमिश्रित, प्रत्येकमिश्रित, अद्धामिश्रित व अद्धाद्धमिश्रित। असत्यामृषा भाषा बारह प्रकार की है—आमंत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, पृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छालोमा (इच्छानुकूल), अनभिगृहीता, अभिगृहीता, संशयकरणी, व्याकृता व अव्याकृता। वचन सोलह प्रकार के होते हैं—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन, स्त्रीवचन, पुरुषवचन, नपुंसकवचन, अध्यात्मवचन, उपनीतवचन, अपनीतवचन, उपनीतापनीतवचन, अपनीतोपनीतवचन, अतीतवचन, प्रत्युत्पन्नवचन, अनागतवचन, प्रत्यक्षवचन व परोक्षवचन (१६१–१७५)।

शरीर पद :

इसमे औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरों की अपेक्षा से जीवों का वर्णन है (१७६–१८०)।

परिणाम पद :

जीवपरिणाम दस प्रकार का है—गतिपरिणाम, इन्द्रियपरिणाम, कषायपरिणाम, लेश्यापरिणाम, योगपरिणाम, उपयोगपरिणाम, ज्ञानपरिणाम, दर्शनपरिणाम, चारित्रपरिणाम, और वेदपरिणाम (१–३)। अजीवपरिणाम दस प्रकार का होता है—बंधनपरिणाम, गतिपरिणाम, संस्थानपरिणाम, भेदपरिणाम, वर्णपरिणाम, गंधपरिणाम, रसपरिणाम, स्पर्शपरिणाम, अगुरुलघुपरिणाम व शब्दपरिणाम (१८१–१८५)।

कषाय पद :

कषाय पद चार प्रकार के होते हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध की उत्पत्ति चार प्रकार से होती है—क्षेत्र, वस्तु, शरीर व उपधि। क्रोध चार

---

१. इस पद का विवेचन उपाध्याय यशोविजय जी ने किया है जिसका गुजराती भावार्थ पण्डित भगवानदास हर्षचन्द्र ने प्रज्ञापनासूत्र, द्वितीय खण्ड, पृ० ८१८–३० में दिया है।

प्रकार का होता है— अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन (१८६–१९०)।

इन्द्रिय पद :

पहले उद्देशक में श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के आश्रय से जीवों का वर्णन किया गया है (१–२२)। दूसरे उद्देशक में इन्द्रियोपचय, निर्वर्तना (इन्द्रियों की उत्पत्ति), निर्वर्तना के असंख्यात समय, लब्धि, उपयोग का काल, अल्पबहुत्व में विशेषाधिक उपयोग का काल, अवग्रह, अपाय, ईहा, व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह, अतीत, बद्ध और पुरस्कृत द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के आश्रय से जीवों का वर्णन है (१९१–२०१)।

प्रयोग पद :

प्रयोग पन्द्रह प्रकार के होते हैं—सत्यमनःप्रयोग, असत्यमनःप्रयोग, सत्यमृषामनःप्रयोग, असत्यमृषामनःप्रयोग; इसी प्रकार वचनप्रयोग के चार भेद; औदारिकशरीरकायप्रयोग, औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोग, वैक्रियकशरीरकायप्रयोग, वैक्रियकमिश्रशरीरकायप्रयोग, आहारकशरीरकायप्रयोग, आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग तथा तैजसकार्मणशरीरकायप्रयोग (१–५)। गतिप्रपात के पाँच भेद हैं—प्रयोगगति, ततगति, बंधनछेदनगति, उपपातगति और विहायगति (२०२–२०७)।

लेश्या पद :

इसके पहले उद्देशक में समकर्म, समवर्ण, समलेश्या, समवेदना, समक्रिया और समआयु नामक अधिकारों का वर्णन है। दूसरे उद्देशक में कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या के आश्रय से जीवों का वर्णन किया गया है। तीसरे उद्देशक में लेश्यासम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। चौथे उद्देशक में परिणाम, वर्ण, रस, गंध, शुद्ध, अप्रशस्त, संक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाढ़, वर्गणा, स्थान और अल्पबहुत्व नाम के अधिकारों का वर्णन है। साथ ही लेश्याओं के वर्ण और स्वाद का भी वर्णन है। पाँचवें उद्देशक में लेश्या का परिणाम बताया गया है। छठे उद्देशक में किसके कितनी लेश्याएँ होती हैं, इस विषय का वर्णन है[1] (२०८–२३१)।

---

1. उत्तराध्ययन में भी ३४वें अध्ययन में लेश्याओं का वर्णन है।

कायस्थिति पद :

इसमें जीव, गति, इन्द्रिय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परित्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भवसिद्धिक, अस्तिकाय और चरम के आश्रय से कायस्थिति का वर्णन है (२३२–२५३)।

सम्यक्त्व पद :

इसमें सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यङ्मिथ्यादृष्टि के भेद से जीवों का वर्णन है (२५४)।

अंतक्रिया पद :

इसमें जीवों की अन्तक्रिया—कर्मनाश द्वारा मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। यहाँ पर चक्रवर्ती के सेनापतिरत्न, गाहापतिरत्न, वर्धकिरत्न, पुरोहितरत्न व स्त्रीरत्न का तथा कांदर्पिक, चरक, परिव्राजक, किल्विषक, आजीविक और आभियोगिक तापसों का उल्लेख है (२५५-२६६)।

शरीर पद :

इस पद में विधि (शरीर के भेद), संस्थान (शरीर का आकार), शरीर का प्रमाण, शरीर के पुद्गलों का चय, शरीरों का पारस्परिक संबंध, शरीरों का द्रव्य, प्रदेश और द्रव्य-प्रदेशों द्वारा अल्पबहुत्व तथा शरीर की अवगाहना का अल्पबहुत्व—इन अधिकारों का वर्णन है (२६७-२७८)।

क्रिया पद :

इसमें कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी व प्राणातिपातिकी—इन पाँच क्रियाओं के आश्रय से जीवों का वर्णन किया गया है (२७९-२८७)।

कर्मप्रकृति पद :

इसके पहले उद्देशक में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय—इन आठ कर्मों के आश्रय से जीवों का वर्णन है (१-१२)। दूसरे उद्देशक में इन कर्मों की उत्तरप्रकृतियों का वर्णन है (२८८–२९८)।

कर्मबंध पद :

इसमें ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को बाँधते हुए जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बाँधता है—इसका विचार किया गया है (२९९)।

कर्मवेद पद :

इसमें ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को बाँधते हुए जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है—इसका विचार है (३००)।

कर्मवेदबन्ध पद :

इस पद में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का वेदन करते हुए जीव कितनी कर्म-प्रकृतियों को बाँधता है—इसका विचार है (३०१)।

कर्मवेदवेद पद :

प्रस्तुत पद में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का वेदन करते हुए जीव कितनी कर्म-प्रकृतियों का वेदन करता है—इसका विचार किया गया है (३०२)।

आहार पद :

इसके पहले उद्देशक में सचित्ताहारी आहारार्थी कितने काल तक आहार करता है, किसका आहार करता है, क्या सर्वात्मप्रदेशों द्वारा आहार करता है, कितना भाग आहार करता है, क्या सर्व पुद्गलों का आहार करता है, किस रूप से उसका परिणमन होता है, क्या एकेन्द्रिय शरीर आदि का आहार करता है, लोमाहार और मनोभक्षी क्या है—आदि की व्याख्या है (१–९)। दूसरे उद्देशक में आहार, भव्य, संज्ञी, लेश्या, दृष्टि, संयत, कषाय, ज्ञान, योग, उपयोग, वेद, शरीर और पर्याप्ति—इन तेरह अधिकारों का वर्णन है (३०३–३११)।

उपयोग पद :

उपयोग दो प्रकार के होते है—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग। साकार उपयोग आठ होते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान व विभंगज्ञान। अनाकार उपयोग चार होते हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन (३१२)।

पश्यत्ता पद :

पश्यत्ता (पासणया) अर्थात् त्रैकालिक अथवा स्पष्ट दर्शनरूप ज्ञान। पश्यत्ता दो प्रकार की है—साकारपासणया, अनाकारपासणया। साकारपासणया के छः भेद हैं—श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान। अनाकारपासणया के तीन भेद हैं—चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन (३१३–४)।

संज्ञी पद :

इसमें संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी के आश्रय से जीवों का वर्णन है (३१५)।

संयत पद :

इसमें संयत, असंयत और संयतासंयत के आश्रय से जीवों का वर्णन है (३१६)।

अवधि पद :

इसमें विषय, संस्थान, अभ्यंतरावधि, बाह्यावधि, देशावधि, क्षय-अवधि, वृद्धि-अवधि, प्रतिपाती और अप्रतिपाती—इन द्वारों की व्याख्या है (३१७–३१९)।

परिचारणा पद (प्रवीचार पद) :

इस पद में अनन्तरागत आहारक (उत्पत्ति के समय तुरन्त ही आहार करने वाला), आहार विषयक आभोग और अनाभोग, आहाररूप से ग्रहण किये हुए पुद्गलों को नहीं जानना, अध्यवसायों का कथन, सम्यक्त्व की प्राप्ति, काय, स्पर्श, रूप, शब्द और मनके संबंध में परिचारणा—विषयोपभोग, उनका अल्प-बहुत्व—इन अधिकारो का वर्णन है (३२०–३२७)।

वेदना पद :

इसमे शीत, उष्ण, शीतोष्ण; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव; शारीरिक, मानसिक, शारीरिक-मानसिक; साता, असाता, साता-असाता; दुःखा, सुखा, अदुःख-सुखा; आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी; निदा (चित्त लगा कर), अनिदा नामक वेदनाओं के आश्रय से जीवों का वर्णन है (३२८–९)।

समुद्घात पद :

इस पद में वेदना, कषाय, मरण, वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवलिसमुद्घात की अपेक्षा से जीवों का वर्णन है। यहाँ केवलिसमुद्घात का विस्तार से वर्णन किया गया है (३२९-३४९)।

प्रकरण ५

सूर्यप्रज्ञप्ति व चंद्रप्रज्ञप्ति

पंचम प्रकरण

सूर्यप्रज्ञप्ति व चन्द्रप्रज्ञप्ति

सूर्यप्रज्ञप्ति[1] जैन आगमों का पाँचवाँ उपांग है। इस पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति लिखी थी जो अनुपलब्ध है। मलयगिरि ने इस उपांग पर विशद टीका लिखी है जिससे ग्रन्थ को समझने में काफी सहायता मिलती है। सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति आदि का १०८ सूत्रों मे विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें बीस प्राभृत हैं—

सूर्य के मण्डलों की गतिसंख्या, सूर्य का तिर्यक् गमन, प्रकाश्य क्षेत्र का परिमाण, प्रकाशसंस्थान, लेश्याप्रतिघात, प्रकाश का अवस्थान, सूर्यावारक, उदय-संस्थिति, पौरुषीच्छाया का प्रमाण, योग का स्वरूप, संवत्सरों का आदि अन्त, संवत्सर के भेद, चन्द्रमा की वृद्धि और ह्रास, ज्योत्स्ना का प्रमाण, शीघ्रगति और मन्दगति का निर्णय, ज्योत्स्ना का लक्षण, च्यवन और उपपात, चन्द्र-सूर्य आदि का उच्चत्व-मान, चन्द्र-सूर्य का परिमाण, और चन्द्र आदि का अनुभाव। बीच-बीच मे ग्रन्थकार ने इस विषय की अन्य मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। इन प्राभृतों का वर्णन गौतम इन्द्रभूति और महावीर के प्रश्नोत्तरों के रूप में किया गया है।

प्रथम प्राभृत :

प्रथम प्राभृत में आठ अध्याय (प्राभृत-प्राभृत) हैं :—१. दिन और रात्रि के मुहूर्तों का वर्णन (८–११)। २. अर्धमण्डल की व्यवस्था का वर्णन—दो सूर्यों[2] में से दक्षिण दिशा का सूर्य दक्षिणार्ध मंडल का, और उत्तर दिशा

---

१. (अ) मलयगिरिविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१९.
(आ) रोमन लिपि में मूल—J. F. Kohl, Stuttgart, 1937.
(इ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलक ऋषि, हैदराबाद, वी० सं २४४५.

२. भास्कर ने अपने सिद्धान्तशिरोमणि और ब्रह्मगुप्त ने अपने स्फुटसिद्धान्त में जैनों की दो सूर्य और दो चन्द्र की मान्यता का खंडन किया है। लेकिन

का सूर्य उत्तरार्ध मंडल का परिभ्रमण करता है (१२–१३)। ३. इस जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं, एक भरत क्षेत्र में, दूसरा ऐरावत क्षेत्र में—ये सूर्य ३० मुहूर्त्त में एक अर्धमण्डल का और ६० मुहूर्त्त में समस्त मण्डल का चक्कर लगाते हैं[1] (१४)। ४. परिभ्रमण करते हुए दोनों सूर्यों में परस्पर कितना अन्तर रहता है (१५)? ५. कितने द्वीप-समुद्रों का अवगाहन करके सूर्य परिभ्रमण करता है[2] (१६–१७)? ६. एक-एक रात-दिन में एक-एक सूर्य कितने क्षेत्र में परिभ्रमण करता है (१८)? ७. मण्डलों की रचना (१९)। ८. मण्डलों का विस्तार (२०)।

डॉ० थीबो ने जरनल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (जिल्द ४९, पृ० १०७ आदि, १८१ आदि) में 'ऑन द सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में बताया है कि ग्रीक लोगों के भारतवर्ष में आगमन के पूर्व उक्त सिद्धान्त सर्वमान्य था। भारतीय ज्योतिष के अति प्राचीन ज्योतिष-वेदांग ग्रंथ की मान्यताओं के साथ आपने सूर्यप्रज्ञप्ति के सिद्धान्तों की समानता बताई है। इसकी निर्युक्ति की कुछ गाथाओं के व्यवच्छिन्न हो जाने के कारण टीकाकार ने उनकी व्याख्या नहीं की (टीका, पृ० १५ अ)।

१. जब सूर्य दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्व दिशाओं में घूमता है तो मेरु के दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्ववर्ती प्रदेशों में दिन होता है।

२. ब्राह्मण पुराणों की भाँति जैनों ने भी इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र स्वीकार किये हैं। इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बीच में मेरु पर्वत अवस्थित है। पहले जम्बूद्वीप है, उसके बाद लवणसमुद्र, फिर धातकी खंड, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप—इस प्रकार मेरु असंख्यात द्वीप-समुद्रों से घिरा है। जम्बूद्वीप के दक्षिणभाग में भारतवर्ष और उत्तरभाग में ऐरावतवर्ष है, तथा मेरु पर्वत के पूर्व और पश्चिम में स्थित विदेह, पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह—इन दो भागों में बँट गया है। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र मेरु पर्वत के चारों ओर भ्रमण करते हैं। जैन मान्यता के अनुसार जब सूर्य जम्बूद्वीप में १८० योजन से अधिक प्रवेश कर परिभ्रमण करता है तो अधिक से अधिक १८ मुहूर्त्त का दिन और कम से कम १२ मुहूर्त्त की रात होती है।

द्वितीय प्राभृत :

दूसरे प्राभृत में तीन अध्याय हैं—१. सूर्य के उदय और अस्त का वर्णन[1] (२१)। २. सूर्य के एक मण्डल से दूसरे मण्डल में गमन करने का वर्णन (२२)। ३. सूर्य एक मुहूर्त्त में कितने क्षेत्र में परिभ्रमण करता है, इसका वर्णन (२३)। इन अध्यायों में अन्य मतों का उल्लेख करते हुए स्वमत का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीयादि प्राभृत :

तीसरे प्राभृत में चन्द्र-सूर्य द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले द्वीप-समुद्रों का वर्णन है। इस संबंध में बारह मतान्तरों का उल्लेख किया गया है (२४)। चौथे प्राभृत में चन्द्र-सूर्य के संस्थान—आकार का वर्णन है। इस संबंध में सोलह मतान्तरों का उल्लेख है (२५)। पाँचवें प्राभृत में सूर्य की लेश्याओं का वर्णन है (२६)। छठे प्राभृत में सूर्य के ओज का वर्णन है, अर्थात् सूर्य सदा एक रूप में अवस्थित रहता है अथवा प्रतिक्षण बदलता रहता है—यह बताया गया है। जैन मान्यता के अनुसार जम्बूद्वीप में प्रतिवर्ष केवल ३० मुहूर्त्त तक सूर्य का प्रकाश अवस्थित रहता है, बाकी समय में अनवस्थित रहता है (२७)। सातवाँ प्राभृत वरण-प्राभृत है—सूर्य अपने प्रकाश द्वारा मेरु आदि पर्वतों को ही प्रकाशित करता है अथवा अन्य प्रदेशों को भी (२८)? आठवाँ प्राभृत उदय-संस्थिति प्राभृत है—जो

---

१. यहाँ ग्रंथकार ने तीर्थिकों के अनेक मतों का उलेख किया है। कुछ लोगों का मानना है कि सूर्य पूर्व दिशा में उदय होकर आकाश में चला जाता है। यह कोई विमान, रथ या देवता नहीं है बल्कि गोलाकार किरणों का समूह मात्र है जो संध्या समय नष्ट हो जाता है। कुछ लोग सूर्य को देवता स्वीकार करते हैं जो स्वभाव से आकाश में उत्पन्न होता है और संध्या के समय आकाश में अदृश्य हो जाता है। दूसरे लोग सूर्य को सदा स्थित रहने वाला देवता स्वीकार करते हैं जो प्रातःकाल पूर्व में उदित होकर संध्या समय पश्चिम में पहुँच जाता है, और फिर वहाँ से अधोलोक को प्रकाशित करता हुआ नीचे की ओर लौट आता है। टीकाकार के अनुसार, पृथ्वी को गोल स्वीकार करनेवालों को ही यह मत मान्य हो सकता है, जैनों को नहीं, क्योंकि वे पृथ्वी को गोलाकार न मानकर असंख्यात द्वीप-समुद्रों से घिरी स्वीकार करते हैं।

सूर्य पूर्व-दक्षिण में उदित होता है वह मेरु के दक्षिण में स्थित भरत आदि क्षेत्रों को प्रकाशित करता है, तथा पश्चिम-उत्तर में उदित होनेवाला सूर्य मेरु के उत्तर में स्थित ऐरावत आदि क्षेत्रों को प्रकाशित करता है (२९)। नौवें प्राभृत में बताया गया है कि सूर्य के उदय और अस्त के समय ५९ पुरुषप्रमाण छाया दिखाई देती है (३०-३१)। इन प्राभृतों में अनेक मतान्तरों का उल्लेख है।

दशम प्राभृत :

दसवें प्राभृत में २२ अध्याय हैं जिनमें निम्न विषयों का वर्णन है—नक्षत्रों में आवलिकाओं का क्रम; मुहूर्त की संख्या; पूर्व, पश्चात् और उभय भाग; नक्षत्रों का योग; नक्षत्रों के कुल; किन नक्षत्रों का चन्द्र के साथ योग होने पर पूर्णमासी और अमावस होती है; चन्द्रयोग की अपेक्षा पूर्णमासी और अमावस का होना; नक्षत्रों का आकार; नक्षत्रों में ताराओं की संख्या; कौन से नक्षत्रों के अस्त होने से दिन और रात होते है; चन्द्र के परिभ्रमण करने का मार्ग; नक्षत्रों के देवता—अभिजित् नक्षत्र का ब्रह्म, श्रवण नक्षत्र का विष्णु, धनिष्ठा का वसुदेव, भरणी का यम, कृतिका का अग्नि आदि; नक्षत्रों के मुहूर्तों के नाम; दिन और रात्रि के नाम; तिथियों के भेद (३२-४९)।

सोलहवें अध्याय में नक्षत्रों के गोत्रों का उल्लेख है—मोग्गल्लायण (अभिजित्), संखायण (श्रवण), अग्गभाव (धनिष्ठा), कण्णलायन (शतभिषज), जोउकण्णिय (पुव्वापोट्ठवता), धणंजय (उत्तरापोट्ठवता), पुस्सायण (रेवती), अस्सायण (अश्विनी), भग्गवेस (भरिणी), अग्गिवेस (कृत्तिका), गौतम (रोहिणी), भारद्वाय (संस्थान), लोहिच्चायण (आर्द्रा), वासिट्ठ (पुनर्वसु), उमज्जायण (पुष्य), मंडव्वायण (अश्लेषा), पिंगायण (महानक्षत्र), गोवल्लायण (पूर्वाफाल्गुनी), काश्यप (उत्तराफाल्गुनी), कोसिय (हस्त), दब्भिय (चित्रा), चामरच्छायन (स्वाति), सुंगायण (विशाखा), गोलव्वायण (अनुराधा), तिगिच्छायण (ज्येष्ठा), कच्चायण (मूल), वज्झियायण (पूर्वाषाढ़), वग्घावच्च (उत्तराषाढ़[1]) (५०)।

---

१. स्थानांग (पृ० ३९९ अ) में सात मूल गोत्रों का उल्लेख है—काश्यप, गौतम, वत्स, कुत्स, कौशिक, मण्डव, वाशिष्ठ। इनके अवान्तर भेद इस प्रकार हैं:—

काश्यप—कासव, संडेल्ल, गोल्ल, वाल, मुंजइण, पव्वपेच्छइण, वरिसकण्ह।

सत्रहवें अध्याय में नक्षत्र-भोजन का वर्णन है अर्थात् कौनसे नक्षत्र में कौनसा भोजन लाभकारी होता है—यह बताया है। उदाहरण के लिए कृत्तिका नक्षत्र में दही, रोहिणी में चमस (वसभ—वृषभ ?) का मांस, संस्थान में मृग का मांस, आर्द्रा में नवनीत, पुनर्वसु में घृत, पुष्य में दूध, आश्लेषा में द्वीपक का मांस, महानक्षत्र में कसोइ (एक खाद्य), पूर्वाफाल्गुनी में मेंढ़क का मांस, उत्तराफाल्गुनी में नखवाले पशुओं का मांस, हस्त में वत्थाणी (सिंघाड़ा), चित्रा में मूँग का सूप, स्वाति में फल, विशाखा में असित्तिया (?), अनुराधा में मिस्साकूर, ज्येष्ठा में लट्ठिअ (?), पूर्वाषाढ़ में आमलगशरीर, उत्तराषाढ़ में बल (बिल्ल—बेल ?) आभिजित् में पुष्प, श्रवण में खीर, शतभिषज में तुवर (तुंबर—तूँबड़ा), पूर्वपुट्ठवय में करेला, उत्तरापुट्ठवय में वराह का मांस, रेवती में जलचर का मांस अश्विनी में तीतर का मांस तथा भरणी में तिल और तंदुल खाने से कार्य की सिद्धि होती है[1] (५१)।

अठारहवें अध्याय में सूर्य और चन्द्र के परिभ्रमण का वर्णन है। इसमें बताया गया है कि सूर्य और चन्द्र किस नक्षत्र के योग में कितना परिभ्रमण

गौतम—गोयम, गग्ग, भारद्द, अंगिरस, सक्कराभ, भक्खराभ, उदग्गत्ताभ।

वत्स—वच्छ, अग्गेय, मित्तिय, सामिलिणो, सेलतता, अट्ठिसेण, वीयकण्ह।

कुत्स—कोच्छ, मोग्गलायण, पिंगलायण, कोडीण, मंडलिणो, हारित, सोमय।

कौशिक—कोसिय, कच्चायण, सालंकायण, णोलिकायण, पक्खिकायण, अग्गिच्च, लोहिय।

मंडव—मंडव, अरिट्ठ, समुत, तेल, एलावच्च, कंडिल्ल, खारायण।

वाशिष्ठ—वासिट्ठ, उंजायण, जेरकण्ह, वग्घावच्च, कोडिन्न, सण्हो, पारासर।

१. संभव है, यहाँ लोक में प्रचलित मांस-भक्षण की दृष्टि से यह सूत्र कहा गया हो। वैसे जैन सूत्रों में मांस-सेवन के उल्लेख पाये जाते हैं—देखिए, जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १९८–२०४. श्री अमोलकऋषि ने चन्द्रप्रज्ञप्ति के अनुवाद में मांसवाचक पदार्थों का अर्थ बदल कर शाकवाचक अर्थ किया है। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चमस की जगह वसभ, कसोइ की जगह कसारि, असित्तिया की जगह आतिसिया, बल की जगह बिल्ल, तुवर की जगह तुंबर और तल की जगह तिल पाठ दिया हुआ है।

करते हैं। उन्नीसवें अध्याय में बारह महीनों के लौकिक और लोकोत्तर नाम गिनाये हैं। बीसवें अध्याय में नक्षत्रों के संवत्सरों का उल्लेख है। संवत्सर पाँच होते हैं—नक्षत्र संवत्सर, युग संवत्सर, प्रमाण संवत्सर, लक्षण संवत्सर और शनैश्चर संवत्सर। इक्कीसवें अध्याय में नक्षत्र के द्वारों का वर्णन है। बाइसवें अध्याय में नक्षत्रों की सीमा, विष्कंभ आदि का प्रतिपादन किया गया है (५२–७०)।

एकादशादि प्राभृत :

ग्यारहवें प्राभृत में संवत्सरों के आदि-अन्त का वर्णन है (७१)। बारहवें प्राभृत में नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य और अभिवर्धित—इन पाँच संवत्सरों का वर्णन है (७२–७८)। तेरहवें प्राभृत में चन्द्रमा की वृद्धि-हानि का वर्णन है (७९–८१)। चौदहवें प्राभृत मे ज्योत्स्ना का वर्णन है (८२)। पन्द्रहवें प्राभृत में चन्द्र-सूर्य आदि की गति के तारतम्य का उल्लेख है (८३–८६)। सोलहवें प्राभृत में ज्योत्स्ना का लक्षण प्रतिपादित किया गया है (८७)। सत्रहवें प्राभृत में चन्द्र आदि के च्यवन और उपपात का वर्णन है (८८)। अठारहवें प्राभृत मे चन्द्र-सूर्य आदि की (भूमि से) ऊँचाई का प्रतिपादन है (८९–९९)। उन्नीसवें प्राभृत मे सर्वलोक में चन्द्र-सूर्य की संख्या का प्रतिपादन है (१००–१०३)। बीसवें प्राभृत में चन्द्र आदि के अनुभाव का वर्णन है। यहाँ ८८ महाग्रहों का उल्लेख है (१०४–१०८)।

उपलब्ध चन्द्रप्रज्ञप्ति :

चन्द्रप्रज्ञप्ति जैन आगमों का सातवाँ उपांग है। इसे उवासगदसाओ का उपांग माना गया है। मलयगिरि ने इस पर टीका लिखी है। श्री अमोलकऋषि ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है जो हैदराबाद से प्रकाशित हुआ है। नाम से मालूम होता है कि चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्र के परिभ्रमण का वर्णन रहा होगा तथा सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य के परिभ्रमण का। वर्तमान में उपलब्ध चंद्रप्रज्ञप्ति व सूर्यप्रज्ञप्ति का विषय बिल्कुल समान है अथवा मिला हुआ है। ठाणांग सूत्र (४.१) में चंदपन्नत्ति, सूरपन्नत्ति, जंबुद्दीवपन्नत्ति और दीवसागरपन्नत्ति को अङ्गबाह्य श्रुत में गिना गया है।

प्रकरण ६

जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति

पहला वक्षस्कार
दूसरा वक्षस्कार
तीसरा वक्षस्कार
चौथा वक्षस्कार
पाँचवाँ वक्षस्कार
छठा वक्षस्कार
सातवाँ वक्षस्कार

षष्ठ प्रकरण

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

जंबूद्दीवपन्नत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)[1] जैन आगमों का छठा उपांग है। इस पर मलयगिरि ने टीका लिखी थी लेकिन वह कालदोष से नष्ट हो गई। तत्पश्चात् बादशाह अकबर के गुरु हीरविजयसूरि के शिष्य शान्तिचन्द्र वाचक ने अपने गुरु की आज्ञा से प्रमेयरत्नमंजूषा नाम की टीका लिखी। यह ग्रन्थ दो भागों मे प्रकाशित हुआ है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में चार और उत्तरार्ध में तीन वक्षस्कार हैं। तीसरे वक्षस्कार मे भारतवर्ष और राजा भरत का वर्णन है। यह ग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा का उपांग माना जाता है। गौतम इन्द्रभूति और महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। अनेक स्थानों पर त्रुटित होने के कारण उसकी पूर्ति जीवाजीवाभिगम आदि के पाठों से की गई है[2]।

पहला वक्षस्कार :

मिथिला नगरी में राजा जितशत्रु राज्य करता था। धारिणी उसकी रानी थी। एक बार नगरी के मणिभद्र नामक चैत्य में महावीर का समवसरण हुआ। उस समय उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम इन्द्रभूति ने जंबूद्वीप के विषय मे प्रश्न किये जिनका उचित उत्तर महावीर ने दिया (१–३)।

जम्बूद्वीप में स्थित पद्मवरवेदिका एक वनखण्ड से घिरी है। वनखण्ड के बीच में अनेक पुष्करिणियां, वापिकाएँ, मंडप, गृह और पृथिवीशिलापट्टक हैं जहाँ अनेक व्यन्तर देव और देवियाँ क्रीडा करते हैं। जम्बूद्वीप के विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के चार द्वार हैं (४–८)।

---

१. (अ) शान्तिचन्द्रविहित वृत्तिसहित—देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई, सन् १९२०; धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८५.
   (आ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६.

२. अत्र च कालदोषेण त्रुटितं सम्भाव्यते, तेनात्र स्थानाशून्यार्थं जीवाभिगमादिभ्यो लिख्यते, टीका–पृ० ११७ अ।

जम्बूद्वीप मे हिमवान् (हिमालय) पर्वत के दक्षिण में भरत क्षेत्र (भारतवर्ष) है। यह अनेक स्थाणु, कंटक, विषम स्थान, दुर्गम स्थान, पर्वत, प्रपात, झरने, गर्त (गड्ढे), गुफाएँ, नदियाँ, तालाब, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लताएँ, वल्लियाँ, अटवियाँ, श्वापद, तृण आदि से संपन्न है। इसमें अनेक तस्कर, पाखंडी, कृपण और वनीपक (याचक) रहते थे। यहाँ अनेक डिम्ब (स्वदेश में होने वाले विप्लव) और डमर (राज्योपद्रव) होते थे, दुर्भिक्ष और दुष्काल पड़ते थे, तथा ईति (मूषक आदि का धान्य को खा लेना), मारी, रोग आदि नाना क्लेशों से यह क्षेत्र व्याप्त था। भरत क्षेत्र पूर्व-पश्चिम मे फैला हुआ, उत्तर-दक्षिण में विस्तृत, उत्तर में पर्यंक के समान और दक्षिण में धनुष के पृष्ठभाग के समान है। तीन ओर से यह लवणसमुद्र से घिरा है, तथा गंगा-सिंधु और वैताढ्य पर्वत के कारण इसके छः विभाग हो गये हैं। इसका विस्तार ५२६ ६/१९ योजन है (१०)। वैताढ्य पर्वत के दक्षिण में दक्षिणार्ध भारतवर्ष है जहाँ बहुत से मनुष्य रहते हैं (११)। वैताढ्य पर्वत के दोनों ओर दो पद्मवरवेदिकाएँ हैं जो वनखंडों से वेष्टित हैं। इस पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दो गुफाएँ हैं—तमिस्सगुहा और खंडप्पवायगुहा। इनमें दो देव रहते है। वैताढ्य पर्वत के दोनों ओर विद्याधर-श्रेणियाँ हैं जहाँ विद्याधर निवास करते हैं। आभियोग-श्रेणियों मे अनेक देवी-देवता रहते हैं (१२)। वैताढ्य पर्वत पर एक सिद्धायतन है। इसमें अनेक जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं (१३)। आगे दक्षिणार्ध भरतकूट का वर्णन (१४), उत्तरार्ध भरत का वर्णन (१५-१६) एवं ऋषभकूट का वर्णन है (१७)।

दूसरा वक्षस्कार :

काल दो प्रकार के होते है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी के छः भेद हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुष्षमा, दुष्षमा-सुषमा, दुष्षमा, दुष्षमा-दुष्षमा। उत्सर्पिणी के भी छः भेद हैं—दुष्षमा-दुष्षमा, दुष्षमा, दुष्षमा-सुषमा, सुषमा-दुष्षमा, सुषमा, सुषमा-सुषमा। इसी प्रसंग में आगे बताया है—

प्रश्न—मुहूर्त्त में कितने उच्छ्वास होते हैं ?
उत्तर—असंख्यात समय = १ आवलि
संख्यात आवलि = १ उच्छ्वास

संख्यात आवलि = १ निःश्वास

१ उच्छ्वास-निःश्वास = १ प्राण

७ प्राण = १ स्तोक

७ स्तोक = १ लव

७७ लव = १ मुहूर्त्त

इस प्रकार १ मुहूर्त्त में ७७ × ४९ = ३७७३ उच्छ्वास होते हैं।

३० मुहूर्त = १ अहोरात्र

१५ अहोरात्र = १ पक्ष

२ पक्ष = १ मास

२ मास = १ ऋतु

३ ऋतु = २ अयन

२ अयन = १ संवत्सर

५ संवत्सर = १ युग

२० युग = १ वर्षशत

१० वर्षशत = १ वर्षसहस्र

१०० वर्षसहस्र = १ वर्षशतसहस्र

८४ वर्षशतसहस्र = १ पूर्वांग

८४ पूर्वांगशतसहस्र = १ पूर्व

८४ पूर्वशतसहस्र = १ त्रुटितांग

८४ त्रुटितांगशतसहस्र = १ त्रुटित

८४ त्रुटितशतसहस्र = १ अडडांग

८४ अडडांगशतसहस्र = १ अडड

८४ अडडशतसहस्र = १ अववांग

८४ अववांगशतसहस्र = १ अवव

८४ अववशतसहस्र = १ हूहुकांग

८४ हूहुकांगशतसहस्र = १ हूहुक

८४ हूहुकशतसहस्र = १ उत्पलांग

८४ उत्पलांगशतसहस्र = १ उत्पल

८४ उत्पलशतसहस्र = १ पद्मांग

८४ पद्मांगशतसहस्र = १ पद्म

८४ पद्मशतसहस्र = १ नलिनांग

८४ नलिनांगशतसहस्र = १ नलिन

८४ नलिनशतसहस्र = १ अस्तिनीपूरांग

८४ अस्तिनीपूरांगशतसहस्र = १ अस्तिनीपूर

८४ अस्तिनीपूरशतसहस्र = १ अयुतांग

८४ अयुतांगशतसहस्र = १ अयुत

८४ अयुतशतसहस्र = १ नयुतांग

८४ नयुतांगशतसहस्र = १ नयुत

८४ नयुतशतसहस्र = १ प्रयुतांग

८४ प्रयुतांगशतसहस्र = १ प्रयुत

८४ प्रयुतशतसहस्र = १ चूलिकांग

८४ चूलिकांगशतसहस्र = १ चूलिका

८४ चूलिकाशतसहस्र = १ शीर्षप्रहेलिकांग

८४ शीर्षप्रहेलिकांग = १ शीर्षप्रहेलिका[1]

(सूत्र १८)।

इसके बाद सागरोपम और पल्योपम का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि चार सागरोपम कोडाकोडि का सुषमा-सुषमा काल होता है। इस काल में भारतवर्ष मे दस प्रकार के कल्पवृक्ष बताये गये हैं—मत्तांग, भृतांग, त्रुटितांग, दीपशिखा, ज्योतिषिक, चित्रांग, चित्ररस, मणिअंग, गेहागार और अणिगण। इन कल्पवृक्षों से इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है (१९-२०)। आगे इस काल के पुरुष और स्त्रियों का वर्णन (२१), उनके आहार और निवासस्थान का वर्णन (२२-२४) एवं उनकी भवस्थिति का वर्णन है (२५)।

सुषमा नामक दूसरे काल का वर्णन (२६) करते हुए सुषमा-दुष्षमा नामक तीसरे काल का वर्णन किया गया है (२७)। इस काल में सुमति, प्रतिश्रुति, सीमंकर, सीमधर, क्षेमंकर, क्षेमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, प्रसेनजित्, मरुदेव, नाभि और वृषभ नाम के पन्द्रह कुलकर हुए। इनमें से १ से ५ कुलकरों ने हक्कार (हाकार) दंडनीति, ६ से १०

---

१. यहाँ टीकाकार ने शीर्षप्रहेलिका की संख्या बताते हुए वाचनाभेद के कारण सूत्रपाठ में भेद बताया है। ज्योतिष्करण्ड में शीर्षप्रहेलिका का प्रमाण भिन्न है।

कुलकरों ने मक्कार (मत करो) दण्डनीति और ११ से १५ कुलकरों ने धिक्कार नाम की दण्डनीति का प्रचार किया[1] (२८-२९) ।

नाभि कुलकर की मरुदेवी भार्या के गर्भ से ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ कोशल के निवासी थे। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मवरचक्रवर्ती कहे जाते थे। उन्होंने पुरुषों की ७२ कलाओं, स्त्रियों की ६४ कलाओं[2] तथा अनेक शिल्पों का उपदेश दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पुत्रों का राज्याभिषेक किया। फिर हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य आदि को त्याग कर पालकी (सवारी विशेष) से विनीता राजधानी के मध्य में होकर सिद्धार्थवन उद्यान मे पहुँचे। वहाँ उन्होंने समस्त आभरण और अलंकार उतार दिये, केशों का लोंच किया और एक देवदूष्य को धारण कर श्रमणधर्म मे दीक्षा ग्रहण की (३०) ।

ऋषभ एक वर्ष तक चीवरधारी रहे। उसके बाद उन्होंने वस्त्र का सर्वथा त्याग कर दिया। तपस्वी जीवन मे उन्हें अनेक उपसर्ग सहन करने पड़े लेकिन वे सबको शान्त भाव से सहते गये। उन्होंने पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन किया, तथा वे शान्त, निरुपलेप और निरालंबन भाव से अप्रतिहत गति को प्राप्त हुए। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसंबंधी समस्त प्रतिबंधो का उन्होंने त्याग कर

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति (१-१३-३६७) में धिक्दंड और वाक्दंड का उल्लेख है। स्थानांग (३-७७) में सात प्रकार की दंडनीति बताई गई है— हक्कार, मक्कार, धिक्कार, परिभाषा, मंडलबंध, चारक, छविच्छेद।

2. नृत्य, औचित्य, चित्र, वादित्र, मंत्र, तंत्र, ज्ञान, विज्ञान, दंभ, जलस्तंभ, गीतमान, तालमान, मेघवृष्टि, फलाकृष्टि, आरामरोपण, आकारगोपन, धर्मविचार, शकुनसार, क्रियाकल्प, संस्कृतजल्प, प्रासादनीति, धर्मरीति, वर्णिकावृद्धि, स्वर्णसिद्धि, सुरभितैलकरण, लीलासंचरण, हयगज-परीक्षण, पुरुषस्त्री-लक्षण, हेमरत्नभेद, अष्टादशलिपिपरिच्छेद, तत्कालबुद्धि, वास्तुसिद्धि, कामविक्रिया, वैद्यकक्रिया, कुंभभ्रम, सारिश्रम, अंजनयोग, चूर्णयोग, हस्तलाघव, वचनपाटव, भोज्यविधि, वाणिज्यविधि, मुखमंडन, शालिखंडन, कथाकथन, पुष्पग्रन्थन, वक्रोक्ति, काव्यशक्ति, स्फारविधिवेष, सर्वभाषाविशेष, अभिधाज्ञान, भूषणपरिधान, भृत्योपचार, गृहाचार, व्याकरण, परनिराकरण, रंधन, केशबंधन, वीणानाद, वितंडावाद, अंकविचार, लोकव्यवहार, अंत्याक्षरिका, प्रश्नप्रहेलिका।

दिया। वर्षा ऋतु को छोड़कर हेमंत और ग्रीष्म में वे गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात व्यतीत करते हुए सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान तथा सम्पत्ति-विपत्ति में समभाव रखते हुए विहार करने लगे। विहार करते-करते वे पुरिमताल नगर के शकटमुख उद्यान में आये और वहाँ न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान में लीन हो गये। इस समय उन्हें केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हुई और वे केवली, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहे जाने लगे। श्रमण निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथिनियों को पाँच महाव्रत और छः जीवनिकायों का उपदेश देते हुए वे अपने गणधरों तथा श्रमण-श्रमणियों—आर्य-आर्यिकाओं के साथ विहार करने लगे (३१)। कालांतर में अनेक श्रमणों के साथ अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर घोर तपश्चरण कर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। ऋषभदेव के निर्वाण का समाचार पाकर इन्द्र आदि देवों ने गोशीर्ष चन्दन की चिता बनाई। क्षीरोद समुद्र के जल से तीर्थङ्कर के शरीर को स्नान कराया, चन्दन का अनुलेप किया और उसे वस्त्रालंकार से विभूषित किया। फिर उसे शिबिका में रख चिता पर स्थापित किया। अग्निकुमार देवों ने चिता में आग दी, वायुकुमार देवों ने आग को प्रज्वलित किया और शरीर के भस्म हो जाने पर मेघकुमार देवों ने उसे जलवृष्टि द्वारा शान्त किया[1]। उसके बाद देवों ने तीर्थंकर की अस्थियों पर चैत्य-स्तूप स्थापित किये। इन्द्र आदि देवों ने आठ दिन तक परिनिर्वाण महोत्सव मनाया। तत्पश्चात् अपनी-अपनी सुधर्मा सभाओं के चैत्य स्तम्भों में गोलाकार भाजनों में तीर्थंकर की अस्थियों को स्थापित कर वे उनकी पूजा-अर्चना द्वारा समय यापन करने लगे (३३)।

दुष्षमा-सुषमा नामक चौथे काल में अरहंत, चक्रवर्ती और दशार वंशों में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव और ९ वासुदेव उत्पन्न हुए।

दुष्षमा नामक पाँचवें काल में कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक १०० वर्ष से कुछ अधिक आयु होगी। इस काल के पिछले तिहाई

---

१. रामायण (६. १०१, ११४ आदि) में कहा है कि रावण की मृत्यु होने पर सुवर्ण की शिबिका बनाई गई, मृतक को क्षौम वस्त्र पहनाये गये, रंग-बिरंगी पताकाएँ लगाई गईं और फिर बाजे-गाजे के साथ अर्थी निकाली गई। आग्नेय दिशा में चिता के पास एक वेदी निर्मित की गई और वहाँ एक बकरे का वध किया गया। तत्पश्चात चिता पर खील बिखेर कर उसमें आग लगा दी गई। प्रेतवाहन के लिये दूर्वा और जल से मिश्रित तिल भूमि पर बिखेरे गये। इसके बाद मृतक को जल-तर्पण कर नर-नारी अपने घर लौट गये। और भी देखिए—महाभारत १. १२४, १२६.

भाग में गणधर्म और चारित्रधर्म का नाश हो जायेगा (३५)। दुष्षमा-दुष्षमा नामक छटे काल में भयंकर वायु बहेगी, दिशाएँ धूम्र और धूलि से भर जायेंगी, चन्द्रमा में शीतलता और सूर्य में उष्णता शेष न रहेगी, मेघों से अग्नि और पत्थरों की वर्षा होगी जिससे मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पति आदि सब नष्ट हो जायेंगे, केवल एक वैताढ्य पर्वत बाकी बचेगा। इस काल के मनुष्य दीन, हीन तथा कूट, कपट, कलह, वध और वैर में संलग्न रहा करेंगे, वे चेष्टाविहीन और निस्तेज हो जायेंगे। अधिक से अधिक २० वर्ष की उनकी आयु होगी, घरों के अभाव में वे बिलों में रहा करेंगे तथा मांस, मत्स्य और मृत शरीर आदि भक्षण कर काल यापन करेंगे (३६)। आगे उत्सर्पिणी के छः कालों का वर्णन है (३७–४०)[1]।

तीसरा वक्षस्कार :

विनीता राजधानी में भरत चक्रवर्ती राज्य करता था। उसकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। आयुधशाला के अध्यक्ष से चक्ररत्न की उत्पत्ति सुनकर भरत चक्रवर्ती अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह तुरत अपने सिंहासन से उठा, एकशाटिक उत्तरासंग धारण कर, हाथ जोड़, चक्ररत्न की ओर सात-आठ पग चला और बाँयें घुटने को मोड़ तथा दाहिने को भूमि पर लगा चक्ररत्न को प्रणाम किया। तत्पश्चात् उसने अपने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाकर विनीता नगरी को साफ और स्वच्छ करने का आदेश दिया। भरत ने स्नानघर में प्रवेश कर सुगन्धित जल से स्नान किया और वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो बाहर निकला। फिर अनेक गणनायक, दण्डनायक, दूत, सन्धिपाल आदि से वेष्टित हो बाजे-गाजे के साथ आयुधशाला की ओर चला। उसके पीछे-पीछे देश-विदेश की अनेक दासियाँ चंदन-कलश, भृङ्गार, दर्पण, वातकरक (जलशून्य घड़े), रत्न-करण्डक, वस्त्र, आभरण, सिंहासन, छत्र, चमर, ताड़ के पंखे, धूपदान आदि लेकर चल रही थीं। आयुधशाला में पहुँचकर भरत ने चक्ररत्न को प्रणाम किया, रुएँदार पींछी से उसे झाड़ा-पोंछा, जलधारा से स्नान कराया, चन्दन का अनुलेप किया, फिर गन्ध, माल्य आदि से उसकी अर्चना की। उसके बाद चक्ररत्न के सामने चावलों के द्वारा आठ मंगल बनाये, पुष्पों की वर्षा की और धूप जलाई। फिर चक्ररत्न को प्रणाम कर भरत आयुधशाला

---

1. देखिये—लोकप्रकाश २८ वाँ सर्ग और उसके आगे; त्रिलोकसार, ७७९—८६७; जगदीशचन्द्र जैन, स्याद्वादमंजरी, परिशिष्ट, पृ० ३५७–३५९.

के बाहर आया। उसने अठारह श्रेणी प्रश्रेणी[1] को बुलाकर नगरी में आठ दिन के उत्सव की घोषणा की और सब जगह कहला दिया कि इन दिनों में व्यापारियों आदि से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जायगा, राजपुरुष किसी के घर में जबर्दस्ती प्रवेश न कर सकेंगे, किसी को अनुचित दण्ड नहीं दिया जायेगा और लोगों का ऋण माफ कर दिया जायेगा (४३)।

उत्सव समाप्त होने के बाद चक्ररत्न ने विनीता से गंगा के दक्षिण तट पर पूर्व दिशा में स्थित मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया। यह देखकर भरत चक्रवर्ती चातुरंगिणी सेना से सज्जित हो, हस्तिरत्न पर सवार होकर गंगा के दक्षिण तट के प्रदेशों को जीतता हुआ, चक्ररत्न के पीछे-पीछे चलकर मागध तीर्थ में आया और वहाँ अपना पड़ाव डाल दिया। हस्तिरत्न से उतर कर भरत ने पोषधशाला में प्रवेश किया और वहाँ दर्भ के संथारे पर बैठ मागधतीर्थ-कुमार नामक देव की आराधना करने लगा। फिर भरत ने बाहर की उपस्थान-शाला में आकर कौटुम्बिक पुरुष को अश्वरथ तैयार करने का आदेश दिया (४४)।

चार घंटे वाले अश्वरथ पर सवार होकर अपने दलबल सहित भरत चक्रवर्ती ने चक्ररत्न का अनुगमन करते हुए लवणसमुद्र में प्रवेश किया। वहाँ पहुँचकर उसने मगधतीर्थाधिपति देव के भवन में एक बाण मारा जिससे देव अपने सिंहासन से तिलमिला कर उठा। बाण पर लिखे हुए भरत चक्रवर्ती के नाम को पढ़कर देव को पता चला कि भारतवर्ष में भरत नामक चक्रवर्ती का जन्म हुआ है। उसने तुरंत ही भरत के पास पहुँचकर उसे बधाई दी और निवेदन किया—देवानुप्रिय का मैं आज्ञाकारी सेवक हूँ, मेरे योग्य सेवा का आदेश दें। उसके बाद देव का आदर-सत्कार स्वीकार करके भरत चक्रवर्ती ने अपने रथ को भारतवर्ष की ओर लौटा दिया और विजयस्कन्धावार निवेश में पहुँच मगध-तीर्थाधिपति देव के सन्मान में आठ दिन के उत्सव की घोषणा की। उत्सव समाप्त होने पर चक्ररत्न ने वरदाम तीर्थ की ओर प्रस्थान किया (४५)।

---

१. कुंभार, पट्टइल्ल (पटेल), सुवर्णकार, सूपकार (रसोइया), गान्धर्व, काश्यप (नाई), मालाकार (माली), कच्छकर (काछी ?), तंबोली; चमार, यन्त्रपीडक (कोल्हू आदि चलाने वाला), गंछिअ (गांछी), छिंपाय (छींपी), कंसकार (कसेरा), सीवग (सीनेवाला), गुआर (ग्वाला), भिल्ल, धीवर।

वरदाम तीर्थ में भरत चक्रवर्ती ने वरदामतीर्थकुमार देव की और प्रभास तीर्थ में प्रभासतीर्थकुमार देव की सिद्धि प्राप्त की (४६–४९)। इसी प्रकार सिन्धुदेवी, वैताढ्यगिरिकुमार और कृतमाल[1] देव को सिद्ध किया (५०–५१)।

तत्पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने अपने सुषेण नामक सेनापति को सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित निष्कुट प्रदेश को जीतने के लिये भेजा। सुषेण महापराक्रमी और अनेक म्लेच्छ भाषाओं का पंडित था। वह अपने हाथी पर बैठकर सिन्धु नदी के किनारे पहुँचा और वहाँ से चमड़े की नाव द्वारा नदी में प्रवेश कर उसने सिंहल, बर्बर, अंगलोक, चिलायलोक (चिलाय अर्थात् किरात), यवनद्वीप, आरबक, रोमक, अलसंड (एलेक्जेण्ड्रिया), तथा पिक्खुर, कालमुख और जोनक (यवन) नामक म्लेच्छों तथा उत्तर वैताढ्य में रहने वाली म्लेच्छ जाति, और दक्षिण-पश्चिम से लेकर सिन्धुसागर तक के प्रदेश तथा सर्वप्रवर कच्छ देश को जीत लिया। सुषेण के विजयी होने पर अनेक जनपद और नगर आदि के स्वामी सेनापति की सेवा में अनेक आभरण, भूषण, रत्न, वस्त्र तथा अन्य बहुमूल्य भेंट लेकर उपस्थित हुए (५२)। तत्पश्चात् सुषेण सेनापति ने तिमिसगुहा के दक्षिण द्वार के कपाटों का उद्घाटन किया (५३)।

इसके बाद भरत चक्रवर्ती अपने मणिरत्नको लेकर तिमिसगुहा के दक्षिण द्वार के पास गया और भित्ति के ऊपर काकणिरत्न[2] से उसने ४९ मण्डल बनाये (५४)।

उत्तरार्ध भरत में आपात नाम के किरात रहते थे। वे अनेक भवन, शयन, यान, वाहन, तथा दास, दासी, गो, महिष आदि से संपन्न थे। एक बार अपने देश में अकाल गर्जन, असमय में विद्युत् की चमक और वृक्षों का फलना-फूलना

---

१. जैन परंपरा के अनुसार राजा कूणिक भी दिग्विजय के लिये तिमिसगुहा में गया था, लेकिन कृतमाल देव से आहत होकर वह छठे नरक में गया। देखिए—आवश्यकचूर्णि, २, पृ० १७७.

२. ४ मधुरतृणफल = १ श्वेतसर्षप
१६ श्वेतसर्षप = १ धान्यमाषफल
२ धान्यमाषफल = १ गुंजा
५ गुंजा = १ कर्ममाषक
१६ कर्ममाषक = १ सुवर्ण
१८ सुवर्ण = १ काकणीरत्न—टीका.

तथा आकाश में देवताओं का नृत्य देखकर वे बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा कि शीघ्र ही कोई आपत्ति आनेवाली है। इतने में तिमिसगुहा के उत्तर द्वार से बाहर निकल कर भरत चक्रवर्ती अपनी सेना सहित वहाँ आ पहुँचा। दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ और किरातों ने भरत की सेना को मार भगाया (५६)। अपनी सेना की पराजय देखकर सुषेण सेनापति अश्वरत्न पर आरूढ़ हो और असिरत्न को हाथ में ले किरातों की ओर बढ़ा और उसने शत्रुसेना को युद्ध में हरा दिया (५७)। किरात सिन्धु नदी के किनारे बालुका के संस्तारक पर ऊर्ध्वमुख करके वस्त्र रहित हो लेट गये और अष्टम भक्त से अपने कुलदेवता मेघमुख नामक नागकुमारों की आराधना करने लगे। इससे नागकुमारों के आसन कम्पायमान हुए और वे शीघ्र ही किरातों के पास आ कर उपस्थित हुए। अपने कुलदेवताओं को देख किरातों ने उन्हें प्रणाम किया और जय-विजय से बधाई दी। उन्होंने कुलदेवताओं से निवेदन किया—हे देवानुप्रियो! यह कौन दुष्ट हमारे देश पर चढ़ आया है, आप लोग इसे शीघ्र ही भगा दें। नागकुमारों ने उत्तर दिया—यह भरत नामक चक्रवर्ती है जो किसी भी देव, दानव, किन्नर किंपुरुष, महोरग या गंधर्व से नहीं जीता जा सकता और न किसी शस्त्र, अग्नि, मंत्र आदि से ही इसकी कोई हानि की जा सकती है, फिर भी तुम लोगों के हितार्थ वहाँ पहुँच कर हम कुछ उपद्रव करेंगे। इतना कह कर नागकुमार विजयस्कंधावार निवेश में आकर मूसलाधार वर्षा करने लगे (५८)। लेकिन भरत ने वर्षा की कोई परवाह न की और अपने चर्मरत्न पर सवार हो, छत्ररत्न से वर्षा को रोक मणिरत्न के प्रकाश में सात रात्रियाँ व्यतीत कर दीं (५९-६०)।

देवों को जब इस उपद्रव का पता लगा तो वे मेघमुख नागकुमारों को डाँट-डपट कर कहने लगे—क्या तुम नहीं जानते कि भरत चक्रवर्ती अजेय है, फिर भी तुम लोग वर्षा द्वारा उपद्रव कर रहे हो? यह सुनकर नागकुमार भयभीत हो गये और उन्होंने किरातों के पास पहुँच कर उन्हें सब हाल सुनाया। तत्पश्चात् किरात लोग आर्द्र वस्त्र धारण कर, श्रेष्ठ रत्नों को ग्रहण कर भरत की शरण में पहुँचे और अपराधों की क्षमा माँगने लगे। रत्नों को ग्रहण कर भरत ने किरातों को अभयदानपूर्वक सुख से रहने की अनुमति प्रदान की (६१)।

तत्पश्चात् भरत ने क्षुद्रहिमवंत पर्वत के पास पहुँच क्षुद्रहिमवंतगिरिकुमार की आराधना कर उसे सिद्ध किया (६२)। फिर ऋषभकूट पर्वत पर पहुँच वहाँ काकणिरत्न से पर्वत की भित्ति पर अपना नाम अंकित किया। उसके बाद

वह वैताढ्य पर्वत की ओर लौट गया (६३)। यहाँ पहुँच कर भरत ने नमि और विनमि नामक विद्याधर राजाओं को सिद्ध किया। विनमि ने भरत चक्रवर्ती को स्त्रीरत्न और नमि ने रत्न, कटक और बाहुबंद भेंट में दिये (६४)।

तत्पश्चात् भरत ने गंगादेवी की सिद्धि की, खंडप्रपातगुफा में पहुँच नृतमालक देवता को सिद्ध किया और गंगा के पूर्व में स्थित निष्कुट प्रदेश को जीता। सुषेण सेनापति ने खंडगप्रपातगुफा के कपाटों का उद्घाटन किया। यहाँ भी भरत ने काकणिरत्न से मंडल बनाये (६५)।

इसके बाद भरत ने गंगा के पश्चिम तट पर विजय स्कंधावार निवेश स्थापित कर निधिरत्न[1] की सिद्धि की। इस समय चक्ररत्न अपनी यात्रा समाप्त कर विनीता राजधानी की ओर लौट पड़ा। भरत चक्रवर्ती भी दिग्विजय करने के पश्चात् हस्तिरत्न पर सवार हो उसके पीछे-पीछे चला। हाथी के आगे आठ मंगल, पूर्णकलश, भृङ्गार, छत्र, पताका और दंड आदि स्थापित किये गये। फिर चक्ररत्न, छत्ररत्न, चर्मरत्न, दंडरत्न, असिरत्न, मणिरत्न, काकणिरत्न और फिर नव निधियाँ रखी गई। उसके बाद अनेक राजा, सेनापतिरत्न, गृहपतिरत्न, वर्द्धकिरत्न, पुरोहितरत्न और स्त्रीरत्न चल रहे थे। फिर बत्तीस प्रकार के नाटकों के पात्र तथा सूपकार, अठारह श्रेणी-प्रश्रेणी और उनके पीछे घोड़े, हाथी और अनेक पदाति चल रहे थे। तत्पश्चात् अनेक राजा, ईश्वर आदि थे और उनके पीछे असि, यष्टि, कुंत आदि के वहन करनेवाले तथा दंडी, मुंडी, शिखंडी आदि हँसते, नाचते और गाते हुए चले जा रहे थे। भरत चक्रवर्ती के आगे-आगे बड़े अश्व, अश्वधारी, दोनो ओर हाथी, हाथी-सवार और पीछे-पीछे रथसमूह चल रहे थे। अनेक कामार्थी, भोगार्थी, लाभार्थी आदि भरत की स्तुति करते हुए जा रहे थे। अपने भवन में पहुँच कर भरत चक्रवर्ती ने सेनापतिरत्न, गृहपतिरत्न, वर्द्धकिरत्न और पुरोहितरत्न का सत्कार किया, सूपकारों, अठारह श्रेणी-प्रश्रेणी तथा राजा आदि को सम्मानित किया तथा अनेक ऋतुकल्याणिकाओं, जनपदकल्याणिकाओं और विविध नाटकों से वेष्टित स्त्रीरत्न के साथ आनन्दपूर्वक जीवन यापन करने लगे (६७)।

एक दिन भरत ने अपने सेनापति आदि को बुलाकर महाराज्याभिषेक रचाने का आदेश दिया। अभिषेकमण्डप मे अभिषेक-आसन सजाया गया। इसके

---

१. नैसर्प, पांडुक, पिंगलक, सर्वरत्न, महापद्म, काल, महाकाल, माणवक और शंख—ये नौ निधि कहलाते हैं।

ऊपर भरत चक्रवर्ती पूर्व की ओर मुख करके आसीन हुए। मांडलिक राजाओं ने भरत की प्रदक्षिणा कर जय विजय से उन्हें बधाई दी, सेनापति, पुरोहित, सूपकार, श्रेणी-प्रश्रेणी आदि ने उनका अभिषेक किया तथा उन्हें हार और मुकुट आदि बहुमूल्य आभूषण पहनाये। नगरी में आनन्द-मंगल मनाया जाने लगा (६८)।

एक बार की बात है। भरत चक्रवर्ती अपने आदर्शगृह में सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय उन्हें केवलज्ञान हुआ। भरत ने उसी समय आभरण और अलंकारों का त्याग कर पंचमुष्टि लोच किया और राज्य छोड़ कर अष्टापद पर्वत पर प्रस्थान किया। यहाँ उन्होंने निर्वाण पद पाया (७०)।

चौथा वक्षस्कार :

इसमें निम्न विषय हैं:—क्षुद्रहिमवत् पर्वत का वर्णन (७२), इस पर्वत के बीच पद्म नामका एक सरोवर (७३)। गंगा, सिन्धु, रोहितास्या नदियों का वर्णन (७४), क्षुद्रहिमवत् पर्वत पर ग्यारह कूटों का वर्णन (७५), हैमवत क्षेत्र का वर्णन (७६), इस क्षेत्र मे शब्दापाती नामक वैताढ्य का वर्णन (७७), महाहिमवत् पर्वत और उस पर्वत के महापद्म नामक सरोवर का वर्णन (७८–७९), हरिवर्ष का वर्णन (८२), निषध पर्वत और उस पर्वत के तिगिंछ नामक सरोवर का वर्णन (८३–८४), महाविदेह क्षेत्र और गन्धमादन नामक पर्वत का वर्णन (८५–८६), उत्तरकुरु में यमक पर्वत (८७–८८), जम्बूवृक्ष का वर्णन (९०), महाविदेह में मालवंत पर्वत (९१), महाविदेह में कच्छ नामक विजय का वर्णन (९३), चित्रकूट का वर्णन (९४), शेष विजयों का वर्णन (९५), देवकुरु का वर्णन (९९), मेरुपर्वत का वर्णन (१०३), नंदनवन, सौमनसवन आदि का वर्णन (१०४–१०६), नीलपर्वत का वर्णन (११०), रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रों का वर्णन (१११)।

पाँचवाँ वक्षस्कार :

इसमें आठ दिक्कुमारियों द्वारा तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाने का उल्लेख है। ये देवियाँ चार अंगुल छोड़ कर तीर्थंकर के नाभिनाल को काटती हैं और फिर गड्ढा खोदकर उसे दबा देती हैं। उस गड्ढे के ऊपर दूब बोती है और कदली के पेड़ लगाती है। इस कदलीगृह में निर्मित चतुःशाला में एक सिंहासन स्थापित किया जाता है। तीर्थंकर और उनकी माता को इस सिंहासन पर बैठाकर उन्हें स्नान कराया जाता है और फिर उन्हें वस्त्रालंकार से विभूषित किया जाता है। गोशीर्षचन्दन की लकड़ियाँ जलाकर भूतिकर्म किया जाता है, नजर से रक्षा करने के लिए रक्षापोटली बाँधी जाती है और फिर

बालक की दीर्घायु कामना के लिए दो गोल पत्थरों के टुकड़े तीर्थंकर के कानों में बजाये जाते हैं (११२–११४) ।

इन्द्र तीर्थंकर के जन्म का समाचार पाकर अपने सेनापति नैगमेषी[1] को बुलाकर सुधर्मा सभा में घोषणा करने को कहता है और पालक विमान सज्ज करने का आदेश देता है (११५–११६) । इन्द्र का परिवारसहित आगमन होता है और वह पांडुक वन में अभिषेक-शिला पर तीर्थंकर को अभिषेक के लिए ले जाता है (११७) । ईशानेन्द्र आदि देवों का आगमन होता है एवं जलधारा से बालक का अभिषेक किया जाता है (११८–१२२) । बालक को माँ के पास वापिस पहुँचा दिया जाता है (१२३) ।

छठा वक्षस्कार :

जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र (वर्ष) हैं—भरत, ऐरावत, हैमवत, हिरण्यवत, हरि, रम्यक और महाविदेह । जम्बूद्वीप में तीन तीर्थ हैं—मागध, वरदाम और प्रभास (१२५) ।

सातवाँ वक्षस्कार :

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र और १७६ महाग्रह प्रकाश करते हैं (१२६) । आगे सूर्यमण्डलों की संख्या आदि (१३०–१३२), एक मुहूर्त में गमन (१३३), दिन और रात्रि का मान (१३४), सूर्य के आतप का क्षेत्र (१३५), सूर्य की दूरी आदि (१३६–१३८), सूर्य का ऊर्ध्व और तिर्यक् ताप (१३९–१४०), चन्द्रमण्डलों की संख्यादि (१४३– (१४७), एक मुहूर्त में चन्द्र की गति (१४८), नक्षत्र-मंडल आदि (१४९) पर प्रकाश डाला गया है एवं सूर्य के उदयास्त के संबंध में कुछ मिथ्या धारणाएँ बताई गई हैं (१५०) ।

संवत्सर पाँच होते हैं—नक्षत्र, युग, प्रमाण, लक्षण व शनैश्चर । इन सबके अवान्तर भेदों का उल्लेख किया गया है (१५१) । संवत्सर के मास, पक्ष आदि का उल्लेख करते हुए बताया है कि करण ११ होते हैं (१५२–३) । आगे

---

1. मथुरा में नैगमेष की मूर्तियाँ मिली हैं । कल्पसूत्र (२.२६) में भी हरिणैगमेषी का उल्लेख है । यहाँ उसने देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर महावीर का हरण किया था ।

संवत्सराधिकार (१५४), नक्षत्राधिकार (१५५–५६), नक्षत्रों के देवता (१५७–१५८), नक्षत्रों के गोत्र और आकार (१५९), नक्षत्र, चन्द्र और सूर्य का योगकाल (१६०), नक्षत्रों के कुल आदि (१६१), वर्षाकाल आदि मे नक्षत्रों का योग (१६२), चन्द्र, सूर्य और तारामंडल का परिवार (१६२–१६४), नक्षत्रों का आभ्यन्तर संस्थान-विस्तार (१६५), चन्द्र आदि विमानों को वहन करने वाले देवी-देवता (१६६), चन्द्र, सूर्य, ग्रह और नक्षत्रों की गति की तुलना (१६७–१६९), ज्योतिष्केन्द्रों की अग्रमहिषियों और देवों की स्थिति (१७०), नक्षत्रों के अधिष्ठाता (१७१), चन्द्र आदि का अल्पबहुत्व और जिन आदि की संख्या (१७२–१७३) और जम्बूद्वीप का विस्तार आदि का उल्लेख है (१७४–१७६) ।

प्रकरण ७

निरयावलिका

निरयावलिया
कप्पवडिंसिया
पुप्फिया
पुप्फचूला
वण्हिदसा

सप्तम प्रकरण

निरयावलिका

निरयावलिया अथवा निरयावलिका[1] श्रुतस्कन्ध में पाँच उपाङ्ग समाविष्ट हैं:— १. निरयावलिया अथवा कप्पिया (कल्पिका), २. कप्पवडंसिया (कल्पावतंसिका), ३. पुप्फिया (पुष्पिका), ४. पुप्फचूलिया (पुष्पचूलिका) और ५. वण्हिदसा (वृष्णिदशा)। प्रो० विन्टरनित्ज का कथन है कि मूलतः ये पाँचों उपाङ्ग निरयावलि सूत्र के ही नाम से कहे जाते थे, लेकिन आगे चलकर उपाङ्गों की संख्या का अङ्गों की संख्या के साथ साम्य करने के लिये इन्हें अलग-अलग गिना जाने लगा। निरयावलिया सूत्र पर चन्द्रसूरि ने टीका लिखी है।

निरयावलिया :

राजगृह नगर में गुणशिल नाम का एक चैत्य था। वहाँ महावीर के शिष्य आर्य सुधर्मा नामक गणधर विहार करते हुए आये। अपने शिष्य आर्य जम्बू के प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने निरयावलिया आदि उपाङ्गों का

---

१. (अ) चन्द्रसूरिकृत वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९२२.
(आ) वृत्ति तथा गुजराती विवेचन के साथ—आगमसंग्रह, बनारस, सन् १८८५.
(इ) प्रस्तावना आदि के साथ—P. L. Vaidya, Poona, 1932; A. S, Gopani and V. J. Chokshi, Ahmedabad, 1934.
(ई) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४५.
(उ) मूल व टीका के गुजराती अर्थ के साथ—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९९०.
(ऊ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६०.

प्रतिपादन किया। निरयावलिया सूत्र में दस अध्ययन हैं जिनमें काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेणकण्ह और महासेणकण्ह[१] का वर्णन है।

चम्पा नगरी में श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसकी रानी चेलना से कूणिक का जन्म हुआ। श्रेणिक की दूसरी रानी काली थी। उससे काल नामक राजकुमार का जन्म हुआ। एक बार की बात है, काल ने कूणिक पर चढ़ाई कर दी और दोनों भाइयों में रथमुशल संग्राम[२] होने लगा। उस समय महावीर अपने श्रमणों के साथ चम्पा नगरी में विहार कर रहे थे। काली ने महावीर के समीप जाकर प्रश्न किया कि भगवन्! काल की जय होगी या पराजय? महावीर ने उत्तर दिया—काल कूणिक के साथ रथमुशल संग्राम करता हुआ वैशाली के राजा चेटक द्वारा मृत्यु को प्राप्त होगा और अब तुम उसे न देख सकोगी।

राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसकी नंदा रानी से अभयकुमार[३] का जन्म हुआ था। एक बार की बात है, श्रेणिक की रानी चेल्लणा को अपने पति के उदर के मांस को तलकर सुरा आदि के साथ भक्षण करने का दोहद[४] उत्पन्न हुआ और दोहद पूर्ण न होने के कारण वह रुग्ण और उदास रहने लगी। रानी की अंगपरिचारिकाओं ने यह समाचार राजा को सुनाया। राजा ने

---

१. अन्तगडदसाओ (७, पृ० ४३) में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पिउसेणकृष्णा, महासेणकृष्णा—ये श्रेणिक की पत्नियों के नाम गिनाये हैं।

२. जैन सूत्रों में महाशिलाकंटक और रथमुशल नामक दो महासंग्रामों का उल्लेख मिलता है। इन युद्धों में लाखों आदमी मारे गये थे। देखिए—भगवती, ७. ९. ५७६–८; आवश्यकचूर्णि, २, पृ० १७४.

३. अभयकुमार राजा श्रेणिक का एक कुशल मन्त्री था। उसकी बुद्धिमत्ता की अनेक कथाएँ आवश्यकचूर्णि आदि जैन ग्रन्थों में दी हुई हैं। आज भी काठियावाड़ में अभयकुमार के नाम से अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं।

४. शिशु के गर्भ में आने के दो-तीन महीने पश्चात् गर्भवती स्त्रियों को अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती हैं जिसे दोहद (दो हृदय) कहा जाता है। देखिए—सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, अध्याय ३; महावग्ग, १०. २. ५, पृ० ३४३; पेन्जर, कथासरित्सागर, एपेन्डिक्स ३, पृ० २२१–८; जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २३९–४०.

चेल्लणा के पास पहुँच उससे चिन्ता का कारण पूछा। पहले तो रानी ने कुछ उत्तर नहीं दिया, लेकिन कई बार पूछे जाने पर उसने बताया कि स्वामी! मुझ अभागिन को आपके उदर का मांस भक्षण करने का दोहद हुआ है। राजा ने चेल्लणा को प्रिय और मनोज्ञ वचनों द्वारा आश्वासन दिया और कहा कि वह दोहद पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा।

एक दिन राजा श्रेणिक चिन्ता में मग्न अपनी उपस्थानशाला में बैठा हुआ था कि वहाँ अभयकुमार आ पहुँचा। अभयकुमार के पूछने पर राजा ने उसे सब हाल कह दिया।

अभयकुमार ने एक विश्वासपात्र नौकर को बुलाकर उससे वधस्थान से कुछ ताजा मांस—रुधिर और उदर-प्रदेश का मांस—लाने को कहा। तत्पश्चात् उसने राजा को एकान्त मे सीधा लिटाकर उसके उदर पर लाये हुए मांस और रुधिर को रख उसे ढक दिया। प्रासाद के ऊपर बैठी हुई चेल्लणा यह सब देखती रही। अभयकुमार ने उदर के मास को छोटे-छोटे टुकड़ों मे काटने का बहाना किया और राजा कुछ देर तक झूठ-मूठ ही मूर्च्छा मे पड़ा रहा। इस प्रकार अभयकुमार की बुद्धिमत्ता से रानी का दोहद पूर्ण हुआ।

फिर भी रानी संतुष्ट न थी। वह सोचा करती कि इस बालक के गर्भ में आने पर उसे अपने पति का मांस-भक्षण करने का दोहद उत्पन्न हुआ है, इसलिये इस अमंगलकारी गर्भ को गिरा देना ही श्रेयस्कर होगा। गर्भपात करने के लिये रानी ने बहुत से उपाय भी किये, लेकिन कुछ न हुआ।

धीरे-धीरे नौ महीने बीत गये और चेल्लणा ने पुत्र का प्रसव किया। रानी ने सोचा कि इस बालक के गर्भ में आने पर मुझे अपने पति का मांस-भक्षण करने की इच्छा हुई थी। इसलिये अवश्य ही यह बालक कुल का विध्वंसक होना चाहिये। यह सोचकर उसने अपनी दासी के हाथ नवजात शिशु को एक कूड़ी पर फिंकवा दिया। राजा श्रेणिक को जब इसका पता चला तो उसने कूड़ी पर से शिशु को उठवा मँगाया और चेल्लणा को बहुत डाँटा-डपटा। कूड़ी पर पड़े हुए शिशु की उँगली मे कुक्कुट की पूँछ से चोट लग गई थी, परिणामतः उसकी उँगली कुछ छोटी रह गई इसलिये उसका नाम कूणिक रखा गया।[1]

---

१. कूणिक अशोकचन्द्र, वज्जिविदेहपुत्त अथवा विदेहपुत्त नामों से भी प्रसिद्ध था। कहते हैं कि जब कूणिक को असोगवणिया नाम के उद्यान में फेंक दिया गया तो वह उद्यान चमक उठा और इसलिये

कूणिक की उँगली के पक जाने से उसमें से बार-बार खून और पीब बहता जिससे वह बहुत रोता था। अपने पुत्र की वेदना को शान्त करने के लिये श्रेणिक उसकी उँगली को मुँह में रख उसका खून और पीब चूस लेता जिससे बालक चुप हो जाता था।

बड़ा होने पर कूणिक ने सोचा कि राजा श्रेणिक के जीते हुए मैं राजा नहीं बन सकता इसलिये क्यों न इसे गिरफ्तार कर मैं अपना राज्याभिषेक करूँ। एक दिन, कूणिक ने काल आदि दस राजकुमारों को बुलाकर उनके समक्ष यह प्रस्ताव रखा, और उनकी अनुमति प्राप्त कर उसने राजा को शृंखला में बाँध बड़े ठाठ से अपना राज्याभिषेक किया।

इस प्रकार कूणिक राज्यपद पर आसीन हो गया। एक दिन वह अपनी माँ के पाद-वंदन के लिये गया। माँ को चिन्तित देख उसने कहा—देखो माँ ! मैं अब राजा बन गया हूँ, फिर भी तुम प्रसन्न नहीं हो ? माँ ने उत्तर दिया—हे पुत्र ! तू ने अत्यंत स्नेह करनेवाले अपने पिता को बाँधकर कारागृह में डाल दिया है, फिर भला मैं कैसे सुखी हो सकती हूँ ? तत्पश्चात् रानी ने गर्भ से लेकर उसके जन्मतक की सब बातें उससे कहीं। यह सुनकर कूणिक को बहुत पश्चात्ताप हुआ और वह तुरत ही परशु हाथ में ले उससे राजा के बंधन काटने के लिये कारागृह की ओर चला। श्रेणिक ने दूर से देखा कि कूणिक परशु हाथ में लिये आ रहा है। उसने सोचा कि अब यह दुष्ट मुझे जीता न छोड़ेगा। यह सोच कर उसने तालपुट[1] विष खाकर अपने प्राणों का अन्त कर दिया।[2]

कुछ दिनों बाद कूणिक ने राजगृह छोड़ दिया और चंपा में आकर रहने लगा। वहाँ कूणिक का छोटा भाई वेहल्लकुमार रहता था। उसे राजा श्रेणिक

कूणिक का नाम अशोकचन्द्र रखा गया। कूणिक की माता चेल्लणा विदेह की रहनेवाली थी, इसलिये कूणिक विदेहपुत्र भी कहा जाता था।

१. तत्काल प्राणनाशक विष। जेणंतरेण ताला संपुडिज्जंति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं (दशवैकालिकचूर्णि, ८, २९२)। स्थानांग सूत्र (पृ० ३५५ अ) में छः प्रकार का विषपरिणाम बताया है—दष्ट, भुक्त, निपतित, मांसानुसारी, शोणितानुसारी, सहस्रानुपाती।

२. इस संबंध में दूसरी परंपरा के लिए देखिए—आवश्यकचूर्णि, २, पृ० १७१.

ने अपने जीते हुए ही सेचनक नामक गंधहस्ती और अठारह लड़ियों का हार[1] सौंप दिया था। वेहल्ल अपनी रानियों के साथ हाथी पर सवार होकर गंगा में स्नान करने जाया करता। वह हाथी, किसी रानी को सूँड़ से अपनी पीठ पर बैठाकर, किसी को कंधे पर बैठाकर, किसी को सूँड़ से ऊपर उछालकर, किसी को अपने दाँतों में पकड़ कर, और किसी के ऊपर जल की वर्षा कर क्रीड़ा किया करता था। राजा कूणिक की रानी पद्मावती को यह देखकर बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने कूणिक से कहा कि यदि हमारे पास सेचनक हस्ती नहीं है तो हमारा सारा राज्य ही व्यर्थ है। रानी के बार-बार आग्रह करने पर एक दिन कूणिक ने वेहल्लकुमार से सेचनक गंधहस्ती और हार माँगा। वेहल्ल ने उत्तर भेजा—यदि तुम मुझे अपना आधा राज्य देने को तैयार हो तो मैं हाथी और हार दे सकता हूँ। लेकिन कूणिक आधा राज्य देने के लिए तैयार न हुआ।

वेहल्लकुमार ने सोचा कि न जाने कूणिक क्या कर बैठे, इसलिये वह हाथी और हार को लेकर वैशाली के राजा अपने नाना चेटक के पास चला गया। कूणिक को जब इस बात का पता चला तो उसे बहुत बुरा लगा। उसने चेटक के पास दूत भेजा कि वेहल्ल को हाथी और हार के साथ वापिस भेज दो। चेटक ने दूत से कहला भेजा—जैसा मेरा नाती कूणिक है वैसा ही वेहल्ल भी है, इसलिए मैं पक्षपात नहीं कर सकता। राजा श्रेणिक ने अपनी जीवितावस्था में ही हाथी और हार का बँटवारा कर दिया था, ऐसी हालत में यदि कूणिक आधा राज्य देने को तैयार हो तो उसे हाथी और हार मिल सकते हैं। राजदूत ने वापिस लौटकर कूणिक से सब समाचार कहा। कूणिक ने दूसरी बार दूत भेजा। चेटक ने फिर वही उत्तर देकर उसे लौटा दिया। इस बार कूणिक को बहुत क्रोध आया। उसने दूत से कहा कि तुम चेटक के पादपीठ को बाँयें पैर से अतिक्रमण कर भाले के ऊपर यह पत्र रखकर देना और कहना कि या तो तीनों चीजें वापिस लौटा दो, नहीं तो युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। कूणिक का यह व्यवहार चेटक को बहुत बुरा लगा और उसने दूत को अपमानित कर पिछले द्वार से बाहर निकाल दिया।

कूणिक ने काल आदि कुमारों को बुलाकर उन्हें युद्ध के लिये तैयार हो जाने का आदेश दिया। काल आदि कुमारों को साथ लेकर कूणिक चातुरंगिणी सेना से सज्जित हो अंग जनपद को पारकर विदेह जनपद होता हुआ वैशाली नगरी

---

१. सेचनक गंधहस्ती और हार की उत्पत्ति के लिये देखिये—वही, पृ० १००; उत्तराध्ययनचूर्णि, १, ३४.

में पहुँचा। उधर चेटक ने काशी के नौ मल्लकी और कोशल के नौ लिच्छवी—इस प्रकार १८ गणराजाओं को बुलाकर मंत्रणा की। सबने मिलकर निश्चय किया कि कूणिक को हाथी और हार लौटाना ठीक नहीं और न शरणागत वेहल्ल-कुमार को वापिस भेजना ही उचित है। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। कूणिक ने गरुडव्यूह रचा और वह रथमुशल संग्राम करने लगा। चेटक ने शकटव्यूह रचा और वह भी रथमुशल संग्राम में संलग्न हो गया। इस युद्ध में कालकुमार मारा गया[१]।

दूसरे अध्ययन में सुकाल, तीसरे में महाकाल, चौथे में कण्ह, पाँचवें में सुकण्ह, छठे में महाकण्ह, सातवें में वीरकण्ह, आठवें में रामकण्ह, नौवें में पिउसेणकण्ह और दसवें अध्ययन में महासेणकण्ह की कथा है।

कप्पवडिंसिया :

इसमें निम्नलिखित दस अध्ययन हैं:—पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द, पउमसेण, पउमगुम्म, नलिणिगुम्म, आणंद व नंदण।

चंपा नगरी में कूणिक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। राजा श्रेणिक की दूसरी रानी का नाम काली था। उसके काल नामक पुत्र था। काल की पत्नी का नाम पद्मावती था। उसके पद्मकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। पद्मकुमार ने महावीर से श्रमणदीक्षा ग्रहण की। मरकर वह स्वर्ग में गया।

शेष अध्ययनों मे महापद्म, भद्र, सुभद्र आदि कुमारों का वर्णन है।

पुप्फिया :

पुप्फिया में दस अध्ययन हैं:—चंद, सूर, सुक्क, बहुपुत्तिय[२], पुन्नभद्द, माणिभद्द, दत्त, सिव, बल और अणाढिय।

पहला अध्ययन—राजगृह में श्रेणिक राजा राज्य करता था। एक बार महावीर राजगृह में पधारे। ज्योतिषेन्द्र चन्द्र ने उन्हें अपने अवधिज्ञान से देखा।

---

१. इस संबंध में आवश्यकचूर्णि (२. १६७–१७३) भी देखनी चाहिए।

२. इन अध्ययनों में काफी गड़बड़ी मालूम होती है। स्थानांग के टीकाकार अभयदेव के अनुसार बहुपुत्रिका के स्थान पर प्रभावती का अध्ययन होना चाहिये।

वह अपने यानविमान में बैठकर उनके दर्शनार्थ आया। यहाँ चन्द्र के पूर्वभव का वर्णन है।

दूसरे अध्ययन में चन्द्र की जगह सूर्य का वर्णन है।

तीसरे अध्ययन में शुक्र महाग्रह का वर्णन है। इसमें सोमिल ब्राह्मण की कथा इस प्रकार है:—

वाराणसी नगरी में सोमिल नाम का ब्राह्मण रहता था। वह ऋग्वेद आदि शास्त्रों का पंडित था। एक बार नगरी के अंबसाल वन में पार्श्वनाथ पधारे। सोमिल उनके दर्शन के लिये गया और उनका उपदेश श्रवण कर श्रावक हो गया।

कालान्तर में सोमिल के विचारों में परिवर्तन हुआ और वह मिथ्यात्वी बन गया। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मैं उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मैंने व्रतों का पालन किया है, वेदों का अध्ययन किया है, पत्नी ग्रहण की है, पुत्रोत्पत्ति की है, ऋद्धियों का सम्मान किया है, पशुओं का वध किया है, यज्ञ किये हैं, दक्षिणा दी है, अतिथियों की पूजा की है, अग्निहोम किया है, उपवास किये हैं। ऐसी हालत में मुझे आम, मातुलिंग (बिजौरा), बेल, कपित्थ (कैथ), चिंचा (इमली) आदि के बाग लगाने चाहिये। वृक्षों का आरोपण करने के पश्चात् उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—मैं क्यों न अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुंब का भार सौंप तथा अपने मित्र और बंधुजनों की अनुमति प्राप्त कर, तापसों के योग्य लोहे की कड़ाही और कलछी तथा तांबे के पात्र लेकर गंगातटवासी वानप्रस्थ तपस्वियों[1] की भाँति विहार करूँ। तत्पश्चात् वह दिशाप्रोक्षित तापसों से दीक्षा लेकर छट्ठम-छट्ठ तप स्वीकार करता हुआ भुजाएं ऊपर उठाकर सूर्याभिमुख हो आतापन भूमि में तपश्चरण करने लगा। पहले छट्ठम तप के पारणा के दिन वह आतापन भूमि से चल वल्कल के वस्त्र धारण कर अपनी कुटी में आया और अपनी टोकरी लेकर पूर्व दिशा की ओर चला। यहाँ उसने सोम महाराज की पूजा की और कंद, मूल, फल आदि से टोकरी भर वह अपनी कुटी में आया। वहाँ उसने वेदी को लीप-पोतकर शुद्ध किया और फिर दर्भ और कलश को लेकर गंगा-स्नान के लिये गया। इसके बाद आचमन कर, देवता और पितरों को जलांजलि दे तथा दर्भ और पानी का कलश हाथ में ले अपनी कुटी में

---

१. यहाँ होत्तिय, पोत्तिय, कोत्तिय, जन्नई आदि वानप्रस्थ साधुओं का उल्लेख है।

आया। दर्भ, कुश और बालुका से उसने वेदी बनाई, मंथनकाष्ठ द्वारा अरणि को घिसकर अग्नि पैदा की और उसमें समिधकाष्ठ डालकर उसे प्रज्वलित किया। अग्नि की दाहिनी ओर उसने सात वस्तुएँ स्थापित कीं—सकथ (एक उपकरण), वल्कल, अग्निपात्र, शय्या (सिज्ज), कमण्डल, दण्ड और सातवीं में अपने आप को। फिर मधु, घी और चावलों द्वारा अग्नि में होम किया और चरु (बलि) पकाकर अग्निदेवता की पूजा की। उसके बाद अतिथियों को भोजन कराकर उसने स्वयं भोजन किया। इसी प्रकार उसने दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण और उत्तर में वैश्रमण की पूजा की।

फिर एक दिन उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—मैं वल्कल के वस्त्र पहन, पात्र (कढिण) और टोकरी (सेकाइय) ले काष्ठमुद्रा से मुँह बाँध उत्तर दिशा की ओर महाप्रस्थान कर अभिग्रह धारण करूँगा कि जल, थल, दुर्ग, निम्न पर्वत, विषम पर्वत, गर्त अथवा गुफा में गिरकर या स्खलित होकर मै फिर न उठूँगा। यह सोचकर वह एक अशोक वृक्ष के नीचे गया, पात्र और टोकरी एक ओर रखे और उस स्थान को झाड़-पोंछकर वहाँ वेदी बनाई। फिर दर्भ और कलश हाथ में ले गंगा-स्नान करने गया। वहाँ से लौटकर अशोक वृक्ष के नीचे बालुका पर दर्भ और संश्लेष द्रव्य द्वारा वेदिका तैयार की, फिर अग्नि पैदा कर उसकी पूजा की और काष्ठमुद्रा से मुँह बाँध शान्तभाव से बैठ गया। इसी प्रकार सोमिल ने सप्तपर्ण, वट और उदुंबर वृक्षों के नीचे बैठकर अपना व्रत पूर्ण किया।

चौथे अध्ययन में बताया है कि वाराणसी (बनारस) नगरी में भद्र नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसकी भार्या का नाम सुभद्रा था। सुभद्रा वन्ध्या होने के कारण बहुत दुःखी रहा करती थी। वह सोचा करती कि वे माताएँ कितनी धन्य हैं जिन्होंने अपनी कोख से सन्तान को जन्म दिया है, जो स्तन-दुग्ध की लोभी और मधुर आलाप करने वाली अपनी सन्तान को अपना दूध पिलाती हैं, और उसे अपने हाथों से उठा अपनी गोदी में बैठाकर उसकी तोतली बोली श्रवण करती हैं।

एक बार की बात है, सुव्रता नाम की आर्या समिति और गुप्ति पूर्वक विहार करती हुई बनारस में आई और उसने भिक्षा के लिए सुभद्रा के घर प्रवेश किया। सुभद्रा ने सुव्रता का विपुल अशन-पान आदि से सत्कार किया। तत्पश्चात् उसने आर्यिका से सन्तानोत्पत्ति के लिए कोई विद्या, मन्त्र, वमन, विरेचन, वस्तिकर्म, औषधि आदि माँगी। आर्यिका ने उत्तर दिया कि श्रमण निर्ग्रन्थियाँ

ऐसी बातें सुनती तक नहीं, उनका उपदेश देना या उनकी विधि बताना तो दूर रहा। वे तो सिर्फ केवली भगवान् का कहा हुआ उपदेश देती हैं। आर्यिका के उपदेश से प्रभावित हो सुभद्रा श्रमणोपासिका बन गई। कुछ दिनों के बाद अपने पति की अनुमति प्राप्त कर, समस्त आभरण आदि का त्याग कर और पञ्चमुष्टि द्वारा केशों का लोच कर[1] सुभद्रा ने सुव्रता के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण की।

आर्यिका होते हुए भी सुभद्रा का मोह शिशुओं मे अधिक था। कभी वह बच्चों को उबटन लगाती, उनका शृङ्गार करती, उन्हें भोजन खिलाती, उन्हें गोदी मे बैठाती और उनके साथ विविध क्रीडा करती। सुव्रता ने सुभद्रा को समझाया कि देखो, साध्वी के लिये यह उचित नहीं, लेकिन उसने कोई ध्यान नहीं दिया। इस पर अन्य श्रमणियाँ भी सुभद्रा की अवगणना करने लगीं।

सुभद्रा को यह अच्छा न लगा और वह किसी अलग उपाश्रय में जाकर रहने लगी। कई वर्षों तक वह श्रमणधर्म का पालन करती रही। उसके बाद सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग कर स्वर्ग में उत्पन्न हुई।

स्वर्ग से च्युत होकर वह विभेल संनिवेश में एक ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुई। उसका नाम सोमा रखा गया। युवावस्था प्राप्त करने पर अपने भानजे के साथ उसका विवाह हो गया। उसके बहुत से पुत्र और पुत्रियाँ हुई। ये सब नाचते-कूदते, दौड़ते-भागते, हँसते-रोते, एक दूसरे को मारते-पीटते, रोते-चिल्लाते, और खाना माँगते; उनके शरीर गन्दे और मैले तथा मल-मूत्र में सने रहते। यह देख कर सोमा बहुत तंग आ गई। उसने सोचा कि वन्ध्या माताएँ कितनी धन्य हैं जो निश्चिन्त जीवन व्यतीत करती हैं। यह सोचकर उसने फिर से श्रमण-धर्म मे दीक्षा ग्रहण कर ली।

पाँचवें अध्ययन मे पूर्णभद्र, छठे मे माणिभद्र, सातवें में दत्त, आठवें में शिव गृहपति, नौवें में बल और दसवें मे अणाढिय गृहपति का वर्णन है।

पुप्फचूला :

इस उपाङ्ग में भी दस अध्ययन हैं :—सिरि, हिरि, धिति, कित्ति, बुद्धि, लच्छी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी।

वण्हिदसा :

इस उपाङ्ग में बारह अध्ययन हैं :—निसढ, माअनि, वह, वण्ह, पगता, जुत्ती, दसरह, दढरह, महाधणू, सत्तधणू, दसधणू, सयधणू।

---

१. राजीमती ने भी केशलोंच करके आर्यिका के व्रत ग्रहण किये थे। देखिए— उत्तराध्ययन का रथनेमीय अध्ययन।

पहला अध्ययन—द्वारवती (द्वारका) नगरी के उत्तर-पूर्व में रैवतक नाम का पर्वत था। यह पर्वत ऊँचा था, अनेक वृक्ष और लता आदि से मण्डित था, हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस आदि पक्षी यहाँ निवास करते थे, देवगण क्रीडा किया करते थे तथा दशार्ण राजाओं को यह अत्यन्त प्रिय था। इस पर्वत के पास ही नन्दन वन था जहाँ सब ऋतुओं के फूल खिलते थे। इस वन में सुरप्रिय[1] नाम का एक यक्ष रहता था। उसकी लोग पूजा-उपासना किया करते थे।

द्वारवती नगरी में कृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। वे समुद्रविजयप्रमुख दस दशार्ण राजा, बलदेवप्रमुख पाँच महावीर, उग्रसेनप्रमुख राजा, प्रद्युम्नप्रमुख कुमार, शंबप्रमुख योद्धा, वीरसेनप्रमुख वीर, रुक्मिणीप्रमुख रानियों तथा अनङ्गसेना आदि गणिकाओं से घिरे रहते थे। द्वारवती में बलदेव नाम का राजा रहता था। उसकी रानी का नाम रेवती था। उसने निसढकुमार को जन्म दिया।

उस समय अरिष्टनेमि द्वारवती मे पधारे। उनका आगमन सुन कृष्ण ने अपने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाकर सामुदानिक भेरी[2] द्वारा अरिष्टनेमि के आगमन की सूचना नगरवासियों को देने का आदेश दिया। भेरी की घोषणा सुन अनेक राजा, ईश्वर, सार्थवाह आदि कृष्ण की सेवा मे उपस्थित हो जय-विजय से उन्हें बधाई देने लगे। उसके बाद कृष्ण वासुदेव हाथी पर सवार हो अपने दलबल सहित भगवान् की वन्दना करने चले। निसढकुमार ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये। इसके बाद निसढ के पूर्वभव का वर्णन है।

रोहीडय (रोहतक, पञ्जाब) नगर मे महाबल नाम का राजा राज्य करता था। उसके वीरङ्गय नाम का पुत्र था। एक बार सिद्धार्थ आचार्य उस नगर में आये और मणिदत्त नाम के यक्षायतन मे ठहर गये। वीरङ्गय ने सिद्धार्थ के पास श्रमणदीक्षा ग्रहण की और कालान्तर में सल्लेखना द्वारा शरीर त्याग कर स्वर्ग प्राप्त किया। वहाँ से च्युत होकर उसने द्वारवती मे बलदेव राजा और रेवती रानी के घर जन्म लिया। कालान्तर में उसने निर्वाण प्राप्त किया।

इसी प्रकार शेष ग्यारह अध्ययन समझने चाहिये।

---

१. सुरप्रिय यक्ष की कथा के लिए देखिए—आवश्यकचूर्णि, पृ० ८७ आदि।

२. बृहत्कल्पभाष्य (पीठिका, गा० ३५६) में कृष्ण की चार भेरियों का उल्लेख है :—कोमुइया, सङ्गामिया, दुब्भूइया और असिवोवसमणी।

मू ल सू त्र

प्रकरण १

उ त्त रा ध्य य न

मूलसूत्रों की संख्या
मूलसूत्रों का क्रम
प्रथम मूलसूत्र
विनय
परीषह
चतुरंगीय
असंस्कृत
अकाममरणीय
क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय
औरभ्रीय
कापिलीय
नमिप्रव्रज्या
द्रुमपत्रक
बहुश्रुतपूजा
हरिकेशीय
चित्तसंभूतीय
इषुकारीय
सभिक्षु
ब्रह्मचर्य समाधि
पापश्रमणीय
संयतीय
मृगापुत्रीय
महानिर्ग्रन्थीय
समुद्रपालीय
रथनेमीय

केशि-गौतमीय
प्रवचनमाता
यज्ञीय
सामाचारी
खलुंकीय
मोक्षमार्गीय
सम्यक्त्व-पराक्रम
तपोमार्गगति
चरणविधि
प्रमादस्थान
कर्मप्रकृति
लेश्या
अनगार
जीवाजीवविभक्ति

प्रथम प्रकरण

उत्तराध्ययन

बारह उपाङ्गों की भाँति मूलसूत्रों का उल्लेख भी प्राचीन आगम ग्रन्थों में नहीं पाया जाता[1]। ये ग्रन्थ मूलसूत्र क्यों कहे जाते थे, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं मिलता। जर्मन विद्वान् जार्ल शार्पेन्टियर के कथनानुसार ये महावीर के कहे हुए सूत्र थे, इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। लेकिन यह कथन ठीक नहीं मालूम होता। मूलसूत्रों में गिना जाने वाला दशवैकालिक सूत्र शय्यंभवसूरि प्रणीत माना जाता है। डा० शुब्रिङ्ग का कथन है कि इन ग्रन्थों में साधु-जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश होने के कारण इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है। फ्रान्स के विद्वान् प्रो० गेरीनो के अनुसार इन सूत्रों पर अनेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गई हैं, इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है[2]।

मूलसूत्रों की संख्या :

आगमों की संख्या में मतभेद पाये जाने का उल्लेख बारह उपाङ्गों के प्रकरण में किया जा चुका है। मूलसूत्रों की संख्या में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक—इन तीन सूत्रों को ही मूलसूत्र मानते हैं, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में नहीं गिनते। इनके अनुसार पिण्डनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति के आधार से[3] और ओघ-

---

१. सबसे प्रथम भावप्रभसूरि ने जैनधर्मवरस्तोत्र (श्लोक ३०) की टीका (पृ० ९४) में निम्नलिखित मूलसूत्रों का उल्लेख किया है : अथ उत्तराध्ययन १, आवश्यक २, पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति ३, दशवैकालिक ४, इति चत्वारि मूलसूत्राणि।—प्रो० एच० आर० कापड़िया, हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृ० ४३ (फुटनोट)।

२. जैनतत्त्वप्रकाश (पृ० २१८) में कहा गया है कि ये ग्रन्थ सम्यक्त्व की जड़ को दृढ़ बनाते हैं और सम्यक्त्व में वृद्धि करते हैं, इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है।—वही, पृ० ४३.

३. भावस्सुवगारित्ता एत्थं दव्वेसणाइ अहिगारो।
तीइ पुण अत्थजुत्ती वत्तव्वा पिंडनिज्जुत्ती॥ २३९॥
—हरिभद्रसूरि-वृत्ति, पृ० १२७-८.

निर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति के आधार से[1] लिखी गई है। प्रोफेसर विंटरनित्स आदि विद्वानों ने उक्त तीन मूलसूत्रों में पिंडनिर्युक्ति को सम्मिलित कर मूलसूत्रों की संख्या चार मानी है। कुछ लोग पिंडनिर्युक्ति के साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र स्वीकार करते हैं। कहीं पर पक्खियसुत्त की गणना मूलसूत्रों में की गई है।

मूलसूत्रों का क्रम :

मूलसूत्रों की संख्या की भाँति इनके क्रम में भी गड़बड़ी हुई मालूम होती है। मूलसूत्रों के निम्नलिखित क्रम उल्लेखनीय हैं :—

(१) उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक।

(२) उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिंडनिर्युक्ति।

(३) उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिंडनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति।

(४) उत्तराध्ययन, आवश्यक, पिंडनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति, दशवैकालिक।

जैन आगमों में मूलसूत्रों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। विशेषकर उत्तराध्ययन और दशवैकालिक भाषा और विषय की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन हैं। इन सूत्रों की तुलना सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन बौद्ध सूत्रों से की गई है। पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति में साधुओं के आचार-विचार का विस्तृत वर्णन होने के कारण इनसे साधु-संस्था के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। मूलसूत्रों के निम्नलिखित परिचय से उनके महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रथम मूलसूत्र :

उत्तरज्झयण— उत्तराध्ययन[2] जैन आगमों का प्रथम मूलसूत्र है।

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ६६५; मलयगिरि-टीका, पृ० ३४१.

२. (अ) अंग्रेजी प्रस्तावना आदि के साथ—Jarl Charpentier, Upsala, 1922.

(आ) अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S. B. E. Series, Vol. 45, Oxford, 1895; Motilal Banarsidass, Delhi, 1964.

(इ) लक्ष्मीवल्लभविहित वृत्तिसहित—आगमसंग्रह, कलकत्ता, वि० सं० १९३६.

(ई) जयकीर्तिकृत टीकासहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९०९.

(उ) शान्तिसूरिविहित शिष्यहिता टीकासहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१६–१७.

(ऊ) भावविजयविरचित वृत्तिसहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७४; विनयभक्तिसुन्दरचरण ग्रन्थमाला, बेणप, वी० सं० २४६७–२४८५.

(ऋ) कमलसंयमकृत टीका के साथ—यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् १९२७.

(ए) नेमिचन्द्रविहित सुखबोधा वृत्तिसहित—आत्मवल्लभ ग्रन्थावली, वलाद, अहमदाबाद, सन् १९३७.

(ऐ) गुजराती अर्थ एवं कथाओं के साथ (अध्ययन १–१५)—जैन प्राच्य विद्याभवन, अहमदाबाद, सन् १९५४.

(ओ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६; रतनलाल डोशी, सैलाना, वी० सं० २४८९; घेवरचन्द्र बांठिया, बीकानेर, वि० सं० २०१०.

(औ) मूल—R. D. Vadekar and N. V. Vaidya, Poona, 1954; शान्तिलाल व० शेठ, ब्यावर, वि० सं० २०१०; हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३८; जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९११.

(अं) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५९–१९६१.

(अः) गुजराती अनुवाद एवं टिप्पणियां के साथ (अध्ययन १–१८)—गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, सन् १९५२.

(क) हिन्दी टीकासहित—उपाध्याय आत्मारामजी, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, सन् १९३९–४२.

(ख) हिन्दी अनुवाद—मुनि सौभाग्यचन्द्र (सन्तबाल), श्वे० स्था० जैन कोन्फरेंस, बम्बई, वि० सं० १९९२.

(ग) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैनसाहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९३८.

(घ) चूर्णि के साथ, रतलाम, सन् १९३३.

(ङ) गुजराती अनुवाद, संतबाल, अहमदाबाद.

(च) टीका, जयन्तविजय, आगरा, सन् १९२३.

लायमन के अनुसार यह सूत्र उत्तर—बाद का होने से अर्थात् अंग ग्रन्थों की अपेक्षा उत्तर काल का रचा हुआ होने के कारण उत्तराध्ययन कहा जाता है। लेकिन इस ग्रन्थ के टीका-ग्रन्थों से मालूम होता है कि महावीर ने अपने अन्तिम चौमासे में जो बिना पूछे हुए ३६ प्रश्नों के उत्तर दिये, उनके इस ग्रन्थ में संगृहीत होने के कारण इसका नाम उत्तराध्ययन पड़ा।[1]

भद्रबाहु की उत्तराध्ययन-निर्युक्ति (४) के अनुसार इस ग्रन्थ के ३६ अध्ययनों में से कुछ अंग-ग्रन्थों से लिए गए हैं, कुछ जिनभाषित हैं, कुछ प्रत्येक-बुद्धों द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ संवादरूप में कहे गये हैं[2]। वादिवेताल शान्तिसूरि के अनुसार उत्तराध्ययन सूत्र का परीषह नामक दूसरा अध्ययन, दृष्टिवाद से लिया गया है, द्रुमपुष्पिका नामक दसवाँ अध्ययन महावीर ने प्ररूपित किया है, कापिलीय नामक आठवाँ अध्ययन प्रत्येकबुद्ध कपिल ने प्रतिपादित किया है तथा केशिगौतमीय नामक तेईसवाँ अध्ययन संवादरूप में प्रतिपादित किया गया है[3]।

भद्रबाहु ने इस ग्रन्थ पर निर्युक्ति लिखी है और जिनदासगणि महत्तर ने चूर्णि लिखी है। वादिवेताल शान्तिसूरि (मृत्यु सन् १०४०) ने शिष्यहिता टीका और नेमिचन्द्र ने शान्तिसूरि की टीका के आधार से सुखबोधा (सन् १०७३ में समाप्त) टीका लिखी है। इसी प्रकार लक्ष्मीवल्लभ, जयकीर्ति, कमलसंयम, भावविजय, मुनि जयन्तविजय आदि विद्वानों ने समय-समय पर टीकाएँ लिखी हैं। जार्ल शार्पेन्टियर ने अंग्रेजी प्रस्तावना सहित मूलपाठ का संशोधन किया है। डाक्टर जेकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट' में अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है। गुजराती में गोपालदास जीवाभाई पटेल ने 'महावीरस्वामीनो अन्तिम उपदेश' नाम से उत्तराध्ययन का छायानुवाद किया है।

१. इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीय सम्मए ॥ उत्तराध्ययन, ३६.२६८.

२. अंगप्पभवा जिणभासिया पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥

३. उत्तराध्ययनसूत्र-टीका, पृ० ५; उत्तराध्ययन के ३६ अध्यायों के नाम समवायांग सूत्र में उल्लिखित उत्तराध्ययन के ३६ अध्यायों के नाम से कुछ भिन्न हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के भाषा और विषय की दृष्टि से प्राचीन होने की विस्तृत चर्चा शार्पेन्टियर, जेकोबी और विन्टरनित्स आदि विद्वानों ने की है। इस ग्रन्थ के अनेक स्थानों की तुलना बौद्धों के सुत्तनिपात, जातक, और धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थों से की जा सकती है। उदाहरण के लिए, राजा नमि को बौद्ध ग्रन्थों मे प्रत्येकबुद्ध मानकर उसकी कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है। हरिकेश मुनि की कथा प्रकारान्तर से मातंग जातक में कही गई है। इसी प्रकार चित्तसम्भूत कथा की तुलना चित्तसम्भूत जातक की कथा से, और इषुकार कथा की तुलना हत्थिपाल जातक में वर्णित कथा से की जा सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे वर्णित चार प्रत्येकबुद्धों की कथा कुम्भकार जातक में कही गई है। मृगापुत्र की कथा भी बौद्ध साहित्य में आती है। इस ग्रन्थ के अनेक सुभाषित और संवादों के पढ़ने से प्राचीन बौद्ध सूत्रों की याद आ जाती है[1]।

विनय :

जो गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला हो, गुरु के समीप रहता हो, गुरु के इंगित और मनोभाव को जानता हो उसे विनीत कहते हैं (२)। साधु को विनयी होना चाहिए क्योंकि विनय से शील की प्राप्ति होती है। विनयी साधु को अपने गच्छ और गण आदि द्वारा अपमानित नहीं होना पड़ता (७)। जैसे मरियल घोड़े को बार-बार कोड़े लगाने की जरूरत होती है, वैसे मुमुक्षु को बार-बार गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करनी चाहिए। जैसे अच्छी नस्ल का घोड़ा चाबुक देखते ही ठीक रास्ते पर चलने लगता है, उसी प्रकार गुरु के आशय को समझ मुमुक्षु को पापकर्म का त्याग कर देना चाहिए (१२)। अपनी आत्मा का दमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा को ही बड़ी कठिनता से वश मे किया जा सकता है। जिसने अपनी आत्मा को वश में कर लिया वह इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है[2] (१५)। वाणी अथवा कर्म से प्रकट रूप में अथवा गुप्त रूप से गुरुजनों के विरुद्ध किसी प्रकार की चेष्टा न करनी चाहिए (१७)। लुहारों की शालाओं में, घरों मे, दो घरों के बीच की जगह में और बड़े रास्तों पर कभी किसी स्त्री के साथ खड़ा न हो और

१. देखिए—विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४६७–८.

२. तुलना—अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥ धम्मपद १२.४.

न उससे सम्भाषण ही करे (२६)। भिक्षा के समय साधु को दाता के न बहुत दूर और न बहुत पास ही खड़े होना चाहिए। उसे ऐसे स्थान पर खड़े होना चाहिए जहाँ दूसरे श्रमण उसे देख न सकें और जहाँ दूसरों को लाँघ कर न जाना पड़े (३३)। यदि कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जायँ तो उन्हें प्रेमपूर्वक प्रसन्न करे। हाथ जोड़ कर उनकी क्रोधाग्नि को शान्त करे और उन्हें विश्वास दिलाए कि फिर वह कभी वैसा काम न करेगा (४१)।

परीषह :

परीषहों को जानकर, जीतकर और उनका पराभव करके, भिक्षाटन को जाते समय यदि भिक्षु को परीषहों का सामना भी करना पड़ जाय तो वह अपने संयम का नाश नहीं करता। श्रमण भगवान् काश्यपगोत्रीय महावीर ने २२ परीषह बताये हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, अचेल (वस्त्र रहित होना), अरति (अप्रीति), स्त्री, चर्या (गमन), निषद्या (बैठना), शय्या, आक्रोश (कठोर वचन), वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल (मल), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और दर्शन।

तप के कारण बाहु, जंघा आदि काकजंघा के समान कृश क्यों न हो जायँ और भले ही शरीर की नस-नस दिखाई देने लगे[1] फिर भी भोजन-पान की मात्रा को जाननेवाला भिक्षु संयम में दीनवृत्ति नहीं करता (३)। तृषा से पीड़ित होने पर भी अनाचार से भयभीत, संयम की लज्जा रखने वाला भिक्षु शीत जल की जगह उष्ण जल का ही सेवन करे (४)। शीत वायु से रक्षा करने वाला कोई घर नहीं, और न शरीर की रक्षा करने वाला कोई वस्त्र ही है, फिर भी भिक्षु कभी आग में तापने का विचार मन में नहीं लाता (७)। गर्मी से व्याकुल संयमी साधु स्नान की इच्छा न करे, न अपने शरीर पर जल का

---

१. तुलना—पाद और जंघा जिनके सूख गये हैं, पेट कमर से लग गया है, हड्डी-पसली निकल आई है, कमर की हड्डियाँ रुद्राक्ष की माला की तरह एक-एक करके गिनी जा सकती हैं, छाती गंगा की तरंगों के समान मालूम होती है, भुजाएँ सूखे हुए सर्पों के समान लटक गई हैं, सिर कांप रहा है, बदन मुरझाया हुआ है, आँखें अन्दर को गड़ गई हैं। बड़ी कठिनता से चला जाता है, बैठकर उठा नहीं जाता और बोलने के लिए जबान नहीं खुलती—अनुत्तरोववाइयदसाओ, पृ० ६६; थेरगाथा ५८०, ९८२–८३, ९८५, १०५४–६ भी देखना चाहिए।

छिड़काव करे और न पंखे से हवा ही करे (९)। यदि डांस-मच्छर मांस और रक्त का भक्षण करते हों तो न उन्हें मारे, न उड़ाये, न उन्हें किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये और न उनके प्रति मन में किसी तरह का द्वेष रखे, बल्कि उनकी उपेक्षा ही करे (११)। मेरे वस्त्र जीर्ण हो गये है इससे मैं कुछ ही दिनों में अचेल (वस्त्र रहित) हो जाऊँगा, अथवा मेरे इन वस्त्रों को देखकर कोई मुझे नए वस्त्र देगा, इस बात की चिन्ता साधु कभी न करे[1] (१२)। जिसने यह जान लिया है कि स्त्रियाँ मनुष्यों की आसक्ति का कारण है, उसका साधुत्व सफल हुआ समझना चाहिए (१६)। कठोर, दारुण अथवा दुःखोत्पादक वचन सुन कर भिक्षु मौन धारण करे और ऐसे वचनों को मन में स्थान न दे (२५)। यदि संयमशील और इन्द्रियजयी भिक्षु को कभी कोई मारे तो उसे विचार करना चाहिए कि जीव का कभी नाश नहीं होता (२७)। भिक्षु चिकित्सा कराने की इच्छा न करे, बल्कि समभाव से रहे, इसी से उसका साधुत्व स्थिर रह सकता है (३३)। कर्मक्षय का इच्छुक साधु आर्यधर्म का पालन करता हुआ मृत्यु-पर्यंत मल को धारण करे[2] (३७)।

चतुरंगीय :

चार वस्तुएँ इस संसार में दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति (धर्म का श्रवण), श्रद्धा व संयम धारण करने की शक्ति (१)। मनुष्य-शरीर पाकर भी धर्म का श्रवण दुर्लभ है। धर्म को श्रवण कर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को प्राप्त करता है (८)। कदाचित् धर्मश्रवण का अवसर भी मिल जाय तो उस पर श्रद्धा होना बहुत कठिन है, क्योंकि न्यायमार्ग का श्रवण करके भी बहुत से जीव भ्रष्ट हो जाते हैं (९)। मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम पालन की शक्ति प्राप्त होना दुर्लभ है। बहुत से जीव संयम में रुचि रखते हुए भी उसका आचरण नहीं कर सकते (१०)।

असंस्कृत :

टूटा हुआ जीवन-तन्तु फिर से नहीं जुड़ सकता, इसलिए हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद मत कर। जरा से ग्रस्त पुरुष का कोई शरण नहीं है, फिर प्रमादी, हिंसक और अयत्नशील जीव किसकी शरण जाएंगे (१) ? प्रमादी

---

१. इससे मालूम होता है कि जैन संघ में जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकार के साधु होते थे। देखिए—आचारांग, ६. ३. १८२; जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २०, २१२–१३.

२. संभवतः मलधारी हेमचन्द्र नाम पड़ने का यही कारण हो।

जीव इस लोक में या परलोक में शरण प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे दीपक के बुझ जाने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार अनंत मोह के कारण मनुष्य न्यायमार्ग को देखकर भी नहीं देखता (५)। सुप्तों में जाग्रत्, बुद्धिमान् और आशुप्रज्ञावाला साधक जीवन का विश्वास न करे। काल रौद्र है, शरीर निर्बल है, इसलिए साधक को सदा भारुंड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरना चाहिए (६)। मन्द-मन्द स्पर्श बहुत आकर्षक होते हैं, इसलिए उनकी ओर अपने मन को न जाने दे। क्रोध को रोके, मान को दूर करे, माया का सेवन न करे और लोभ को त्याग दे (१२)।

अकाममरणीय :

मरण-समय में जीवों की दो स्थितियाँ होती हैं—अकाम मरण और सकाम मरण (२)। सद्-असद् विवेक से शून्य मूर्खों का मरण अकाम मरण होता है, यह बार-बार होता है। पण्डितों का मरण सकाम मरण होता है, यह केवल एक ही बार होता है (३)। काम-भोगों में आसक्त होकर जो असत्य कर्म करता है वह सोचता है कि परलोक तो मैंने देखा नहीं, लेकिन कामभोगों का सुख तो प्रत्यक्ष है (५)। बहुत काल से धारण किया चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटी, मुंडन आदि चिह्न दुश्शील साधु की रक्षा नहीं करते।

क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय :

माता, पिता, पुत्रवधू, भ्राता, भार्या, पुत्र आदि कोई भी अपने संचित कर्मों द्वारा पीड़ित मेरी रक्षा नहीं कर सकता (३)। बंध-मोक्ष की बातें करने वाले और मोक्षप्राप्ति के लिए आचरण न करने वाले केवल बातों की शक्ति से अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं (१०)।

औरभ्रीय :

कोई अपने अतिथि के लिये किसी भेड़े को चावल और जौ खिलाकर पुष्ट बनाता है। भोजन करके वह भेड़ा हृष्ट-पुष्ट और विपुल देहधारी बन जाता है। मालूम होता है, वह अतिथि के आने की प्रतीक्षा में हो। जब तक अतिथि नहीं आता तब तक वह प्राण धारण करता है, परन्तु अतिथि के आते ही लोग उसे मार कर खा जाते हैं। जैसे भेड़ा अतिथि के आगमन की प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार अधर्मी जीव नरक गति की प्रतीक्षा करता रहता है (१–७)। जैसे एक काकिणी (रुपये का अस्सीवाँ भाग) के लिए किसी मनुष्य ने हजारों मुद्राएँ खो दीं, अथवा किसी राजा ने अपथ्य आम खाकर अपना सारा राज्य

गवाँ दिया (उसी प्रकार अपने क्षणिक सुख के लिए जीव अपना समस्त भव बिगाड़ लेता है) (११)। कामभोग कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान हैं। ऐसी हालत में आयु के अल्प होने पर क्यों न कल्याणमार्ग को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाय (२४) ?

कापिलीय :

अनित्य, क्षणभंगुर और दुःखों से परिपूर्ण इस संसार में ऐसा कौन सा कर्म करूँ, जिससे मैं दुर्गति को प्राप्त न होऊँ (१) ? पूर्व संयोगों को त्याग कर किसी भी वस्तु में राग न करे। पुत्र-कलत्र आदि में राग न करे। ऐसा भिक्षु सभी दोषों से छूट जाता है (२)। जो लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या और अंगविद्या का उपयोग करते हैं[1], वे श्रमण नहीं कहे जाते—ऐसा आचार्यों ने कहा है (१३)। ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। दो मासा सोना माँगने की इच्छा एक करोड़ से भी पूरी नहीं होती (१७)।

---

१. १४ पूर्वग्रन्थों में गिने जाने वाले विद्यानुवाद नामक पूर्व में विद्याओं का उल्लेख किया गया है। भगवती सूत्र में कहा है कि गोशाल आठ महानिमित्त में कुशल था। पंचकल्प-चूर्णि के उल्लेख से पता लगता है कि आर्य कालक के शिष्य श्रमण-धर्म में स्थिर नहीं रह पाते थे, इसलिए अपने शिष्यों को संयम में स्थिर रखने के हेतु कालक निमित्तविद्या सीखने के लिए आजीविकों के पास गए। भद्रबाहु भी नैमित्तिक माने गये हैं जो मन्त्रविद्या में निष्णात थे। उन्होंने किसी व्यन्तर से संघ की रक्षा करने के लिए उपसर्गहरस्तोत्र की रचना की थी। आर्य खपुट भी मन्त्रविद्या के ज्ञाता थे। औपपातिक सूत्र में महावीर के शिष्यों को आकाशगामिनी आदि अनेक विद्याओं से सम्पन्न बताया गया है। देखिए—जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३३९-४०। स्थानांग (८. ६०८) में भौम (भूकंप), उत्पात (खून की वृष्टि), स्वप्न, अन्तरीक्ष, अंग (आँख आदि का फरकना), स्वर, लक्षण और व्यञ्जन (तिल, मस्सा आदि)—ये आठ महानिमित्त बताये गये हैं। केश, दन्त, नख, ललाट, कण्ठ आदि को देखकर शुभ-अशुभ का पता लगाना लक्षणविद्या है। स्वप्नविद्या द्वारा स्वप्न के शुभ-अशुभ का ज्ञान होता है। स्वप्न के लिए देखिए—भगवती सूत्र, १६–६; सुश्रुत, शारीरस्थान ३३। सिर, आंख, ओठ, बाहु आदि के स्फुरण से शुभ-अशुभ का पता लगाना अंगविद्या है। 'अंगविद्या' का सम्पादन मुनि श्री पुण्यविजयजी ने किया है।

नमिप्रव्रज्या :

पूर्व भव का स्मरण करके नमि राजा को बोध प्राप्त हुआ और वे अपने पुत्र को राज्य सौंपकर अभिनिष्क्रमण करने की तैयारी करने लगे। मिथिला नगरी, अपनी सेना, अन्तःपुर और अपने सगे-सम्बन्धियों को छोड़ वे एकान्त में चले गये। उस समय नगरी मे बड़ा कोलाहल मच गया। इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर वहाँ उपस्थित हुआ और राजर्षि से प्रश्न करने लगा—

इन्द्र—हे आर्य! क्या कारण है कि मिथिला नगरी कोलाहल से व्याप्त है और उसके प्रासादों और घरों मे दारुण शब्द सुनाई दे रहे हैं?

नमि—मिथिला में शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र-पुष्पों से आच्छादित तथा बहुत से लोगों के लिए लाभदायक एक चैत्य वृक्ष है। वह वृक्ष वायु से कम्पित हो रहा है, इसलिए अशरण होकर आर्त्त और दुःखी पक्षी क्रन्दन कर रहे हैं।

इन्द्र—वायु से प्रदीप्त अग्नि इस घर को भस्म कर रही है। हे भगवन्! आप का अन्तःपुर जल रहा है, आप क्यों उधर दृष्टिपात नहीं करते?

नमि—हम सुख से रहते हैं, सुख से जीते हैं, हमारा यहाँ कुछ भी नहीं है। मिथिला नगरी के जलने पर मेरा कुछ नहीं जलता[1]। जिसने पुत्र-कलत्र का त्याग कर दिया है और जो सासारिक व्यापारों से दूर है, उस भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय अथवा अप्रिय नहीं होती।

इन्द्र—हे क्षत्रिय! प्राकार (किला), गोपुर, अट्टालिकाएँ, खाई (उस्सूलग) और शतघ्नी बनवा कर प्रव्रज्या ग्रहण करना।

नमि—श्रद्धारूपी नगर, तप और संवररूपी अर्गला (मूसल), क्षमारूपी प्राकार, तीन गुप्तिरूपी अट्टालिका खाई-शतघ्नी, पराक्रमरूपी धनुष, ईर्या (विवेकपूर्वक गमन) रूपी प्रत्यञ्चा और धैर्यरूपी धनुष की मूठ बना कर सत्य के द्वारा उसे बाँधना चाहिए, क्योंकि तपरूपी बाण द्वारा कर्मरूपी कवच को भेदकर मुनि संग्राम में विजयी होकर इस संसार से छूट जाता है।

---

१. तुलना कीजिए—महाजनक जातक (५३९) तथा महाभारत, शान्तिपर्व (१२.१७८) से। प्रोफेसर विन्टरनित्स ने इस तरह के आख्यानों को श्रमण काव्य-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ बताया है : देखिए—सम प्रोब्लम्स आफ इंडियन लिटरेचर, पृ० २१ आदि।

इन्द्र—हे क्षत्रिय ! चोर, डाकू, (लोमहर—प्राण अपहरण करने वाला), गिरहकट और तस्करों से अपनी नगरी की रक्षा करके फिर प्रव्रज्या ग्रहण करना।

नमि—कितनी ही बार मनुष्य निरर्थक ही दण्ड देते हैं जिससे निरपराधी मारा जाता है और अपराधी छूट जाता है।

इन्द्र—हे क्षत्रिय ! जिन राजाओं ने तुझे नमस्कार नहीं किया, उन्हें अपने वश में करने के बाद प्रव्रजित होना।

नमि—दुर्जय युद्ध में दस लाख सुभटों को जीतने की अपेक्षा एक अपनी आत्मा को जीतना सबसे बड़ी जय है। आत्मा को अपने साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाह्य युद्धों से कुछ नहीं होता। अपनी आत्मा को जीतकर ही वास्तविक सुख प्राप्त किया जा सकता है।

इन्द्र—हे क्षत्रिय ! विपुल यज्ञों को रचाकर, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन करा कर, दान देकर तथा भोगों का उपभोग करने के बाद प्रव्रज्या ग्रहण करना।

नमि—जो प्रति मास दस-दस लाख गायों का दान करता है उसकी अपेक्षा कुछ भी न देने वाला संयमी श्रेयस्कर है।

इन्द्र—हे क्षत्रिय ! चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, काँसा, दूष्य, वाहन और कोष में वृद्धि करने के बाद प्रव्रजित होना।

नमि—कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी लोभी के लिए पर्याप्त नहीं, क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं।

यह सुनकर इन्द्र अपने वास्तविक रूप को धारण कर नमि राजर्षि की स्तुति करने लगा और फिर उन्हे नमस्कार कर अन्तर्धान हो गया (१–६२)।

द्रुमपत्रक :

जैसे पीला पड़ा हुआ वृक्ष का पत्ता समय व्यतीत होने पर झड़ कर गिर पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य जीवन भी क्षणभंगुर है, इसलिए हे गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न कर (१)। जैसे कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस की बिन्दु क्षणस्थायी है, वैसे ही मनुष्य जीवन भी क्षणभंगुर है, इसलिए हे गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न कर (२)। मनुष्य-भव दुर्लभ है जो जीवों को बहुत काल के पश्चात् प्राप्त होता है। कर्मों का विपाक घोर होता है, इसलिए हे गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न कर (३)। जीव पंचेन्द्रियों की पूर्णता प्राप्त कर सकता है

किन्तु उसे उत्तम धर्म का श्रवण दुर्लभ है, क्योंकि कुतीर्थसेवी लोग अधिक हैं, इसलिए हे गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न कर (१८)। तेरा शरीर जर्जरित हो रहा है, केश पक गए हैं, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो गई है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद न कर (२६)। अरति, गंड (फोड़ा-फुन्सी), विशूचिका आदि अनेक रोगों का डर सदा बना रहता है और आशंका बनी रहती है कि कहीं कोई व्याधि खड़ी न हो जाय या मृत्यु न आ जाय, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद न कर (२७)। तू ने धन और भार्या को छोड़ अनगार व्रत धारण किया है, अब तू वमन किये हुए विषयों को पुनः ग्रहण न कर, इसलिये हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद न कर (२६)। निर्बल भारवाही विषम मार्ग का अनुसरण करने पर पश्चात्ताप का भागी होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद न कर (३३)।

बहुश्रुतपूजा :

मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—इन पाँच स्थानों के कारण ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती (३)। निम्नलिखित १४ स्थानों के कारण संयमी अविनीत कहा जाता है—सदा क्रोध करने वाला, प्रकुपित होकर मृदु वचनों से शान्त न होने वाला, मित्र भाव को भङ्ग कर देने वाला, शास्त्राभिमानी, भूल को छिपाने का प्रयत्न करने वाला, मित्रों पर क्रोध करने वाला, पीठ पीछे निन्दा करने वाला, एकान्तरूप से बोलने वाला, द्रोही, अभिमानी, लोभी, असंयमी, आहार आदि का उचित भाग न करने वाला और अप्रीति उत्पन्न करने वाला (६-९)। जो सदा गुरुकुल में रहकर योग और तप करता है, प्रियकारी है और प्रिय बोलता है, वह शिष्य शिक्षा का अधिकारी है (१४)। जैसे कम्बोज देश के घोड़ों मे आकीर्ण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञानी सब में उत्तम समझा जाता है (१६)। जैसे अनेक हथिनियों से वेष्टित साठ वर्ष का हाथी बलवान् और अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञानी भी अजेय होता है (१८)। जैसे मन्दर पर्वतों में महान् है, वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ है (२९)।

हरिकेशीय :

चाण्डाल कुलोत्पन्न हरिकेशबल नामक भिक्षु एक बार भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए ब्राह्मणों की यज्ञशाला में पहुँचे। तप से शोषित तथा मलिन वस्त्र और पात्र आदि उपकरणों से युक्त उन्हें आता हुआ देख अशिष्ट लोग हँसने

लगे, और जातिमद से उन्मत्त बने, हिंसक, असंयमी और अब्रह्मचारी ब्राह्मण भिक्षु को लक्ष्य करके कहने लगे—

बीभत्स रूप वाला, विकराल, मलिन वस्त्रधारी, मैले-कुचैले वस्त्रों को अपने गले में लपेटे यह कौन पिशाच बढ़ा चला आ रहा है ?

ब्राह्मणों ने पूछा—

इतना बदसूरत तू कौन है ? किस आशा से यहाँ आया है ? हे मलिन वस्त्र-धारी पिशाच ! तू यहाँ से चला जा, यहाँ क्यों खड़ा हुआ है ?

यह सुनकर तिंदुक वृक्ष पर रहने वाला यक्ष अनुकम्पा से महामुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर बोला—

'मैं श्रमण हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, धन-सम्पत्ति और परिग्रह आदि से विरक्त हूँ, इसलिए अनुद्दिष्ट भोजन ग्रहण करने के लिए यहाँ आया हूँ ।

ब्राह्मण—यह भोजन ब्राह्मणों के लिए बनाया गया है, अन्य किसी के लिए नहीं । इस भोजन में से तुझे कुछ नहीं मिल सकता, फिर तू यहाँ क्यों खड़ा हुआ है ?

हरिकेश—किसान लोग ऊँची या नीची भूमि में आशा रखकर बीज बोते हैं । उसी श्रद्धा से तुम भी मुझे भोजन दो और पुण्य समझ कर इस क्षेत्र की आराधना करो ।

ब्राह्मण—हम लोग जानते हैं कि कौन सा पुण्यक्षेत्र है और कहाँ दान देने से पुण्य की प्राप्ति होती है । जाति और विद्यासंपन्न ब्राह्मण ही शोभन क्षेत्र हैं ।

हरिकेश—क्रोध, मान, वध, मृषा, अदत्तादान और परिग्रहसंपन्न तथा जाति और विद्याविहीन ब्राह्मणों को पाप का ही क्षेत्र समझना चाहिए । अरे ! तुम लोग वेदों को पढ़कर भी उनका अर्थ नहीं समझ सके, इसलिए तुम वेदवाणी के केवल भारवाही हो । जो मुनि ऊँच और नीच कुलों में भिक्षा ग्रहण करते हैं वे ही सुक्षेत्र हैं ।

ब्राह्मण—हमारे अध्यापकों के विरुद्ध बोलने वाला तू हमारे सामने क्या बक-बक कर रहा है ? भले ही यह भोजन नष्ट हो जाय लेकिन हे निर्ग्रन्थ ! इसमें से हम तुझे रत्ती भर भी न देंगे ।

हरिकेश—पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से सम्पन्न मुझे यदि तुम यह आहार न दोगे तो फिर इन यज्ञों से क्या लाभ ?

यह सुनकर वे ब्राह्मण चिल्लाकर कहने लगे—अरे! है यहाँ कोई क्षत्रिय, यजमान अथवा अध्यापक जो इस श्रमण की डंडों से मरम्मत कर इसकी गर्दन पकड़ कर निकाल दे?

अपने अध्यापकों के ये वचन सुन बहुत से छात्र दौड़े आये और डंडे, छड़ी और चाबुक आदि से श्रमण को मारने-पीटने लगे।

कोशल देश की राजकुमारी भद्रा ने उपस्थित होकर हरिकेश की रक्षा की। उसके पति रुद्रदेव ब्राह्मण ने ऋषि के पास पहुँच कर उनसे क्षमा माँगी। तत्पश्चात् ब्राह्मणों ने हरिकेश को आहार दिया। हरिकेश ने उन्हें उपदेश द्वारा लाभान्वित किया—

हे ब्राह्मणो! यज्ञ-याग करते हुए तुम जल द्वारा शुद्धि की क्यों कामना करते हो? बाह्य शुद्धि वास्तविक शुद्धि नहीं है, ऐसा पंडितो ने कहा है। कुश, यूप (काष्ठस्तंभ जिसमें यज्ञीय पशु बाँधा जाता है), तृण, काष्ठ, अग्नि तथा सुबह-शाम जल का स्पर्श करके तुम प्राणियों का नाश ही करते हो। तप ही वास्तविक अग्नि है, जीव अग्निस्थान है, योग कलछी है, शरीर अग्नि को प्रदीप्त करने वाला साधन है, कर्म ईंधन है, संयम शान्तिमन्त्र है—इन साधनों से यज्ञ करना ऋषियों ने प्रशस्त माना है[1] (१-४७)।

चित्त-संभूतीय :

चित्त और संभूति पूर्वजन्म मे चांडाल-पुत्र थे। संभूति ने कांपिल्यपुर मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप मे जन्म लिया और चित्त ने मुनिव्रत धारण किये। ब्रह्मदत्त ने अपने पूर्व जन्म के भ्राता चित्त को मुनि रूप में देख उसे विषय-भोग भोगने का निमंत्रण दिया, लेकिन चित्त ने उल्टा उसे ही उपदेश दिया—

हे राजन्! सभी गीत विलाप के समान हैं, नृत्य केवल विडंबना है, आभूषण भाररूप हैं और काम-सुख दुःख पहुँचाने वाले हैं (१६)। पुण्य के फल से ही तू महासमृद्धिशाली हुआ है, इसलिए हे नरेन्द्र! तू क्षणिक भोगों को त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर (२०)। जैसे सिंह मृग को पकड़ कर ले जाता है वैसे ही अंत समय में मृत्यु मनुष्य को पकड़ लेती है। उस समय उसके माता-पिता और भ्राता आदि कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकते (२२)। मृत्यु होने के पश्चात्

---

१. तुलना कीजिए—खासकर उत्तराध्ययन की ६-७, ११, १२, १३, १४, १८ गाथाओं के साथ मातंग जातक की १, ३, ४, ५, ८ गाथाएँ।

निर्जीव शरीर को चिता पर रख और उसे अग्नि से जलाकर भार्या, पुत्र, और सगे-सम्बन्धी सब लोग वापिस घर लौट आते हैं (२५)।

राजा ब्रह्मदत्त ने विषय-भोगों का त्याग करने का असामर्थ्य बताते हुए उत्तर दिया—

धर्म को जानता हुआ भी मैं कामभोगों का त्याग नहीं कर सकता (२९)। दलदल में फँसा हुआ हाथी जैसे किनारे को देखते हुए भी उसे नहीं पा सकता, उसी प्रकार कामभोगों में आसक्त हुआ मैं साधुमार्ग को ग्रहण नहीं कर सकता (३०)।

चित्त—आयु व्यतीत हो रही है, रात्रियाँ जल्दी-जल्दी बीत रही हैं, विषय-भोग क्षणस्थायी हैं। जैसे फलरहित वृक्ष को पक्षी त्याग कर चले जाते हैं, वैसे ही विषयभोग पुरुष को छोड़ देंगे (३१)। हे राजन्! यदि तू विषयभोगों को छोड़ने में असमर्थ है तो कम से कम तू अच्छे कर्म तो किया कर। अपने धर्म में स्थिर होकर यदि तू प्रजा पर अनुकम्पा धारण करेगा तो अगले जन्म में देव-जाति में जन्म लेगा (३२)।

लेकिन जब चित्त मुनि के उपदेश का ब्रह्मदत्त के मन पर कोई असर न हुआ तो वह वहाँ से चला गया[1] (३३)।

इषुकारीय :

इषुकार नगर में किसी पुरोहित ब्राह्मण के दो कुमार थे। उन्हें अपने पूर्व भव का स्मरण हुआ कि उन्होंने पूर्व जन्म में तप और संयम का पालन किया है। भोगों में आसक्त न होते हुए, मोक्ष के अभिलाषी और श्रद्धाशील दोनों अपने पिता के समीप जाकर कहने लगे—

यह जीवन क्षणभंगुर है, व्याधि से युक्त है, अल्प आयुष्यवाला है, इसलिए हम मुनिव्रत धारण करना चाहते हैं। पिता ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा—

वेदवेत्ताओं का कथन है कि पुत्ररहित पुरुष उत्तम गति को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए हे पुत्रो! वेदों का अध्ययन करके, ब्राह्मणों को संतुष्ट करके अपने पुत्रों को घर का भार सौंप और स्त्रियों के साथ भोगों का सेवन करने के बाद मुनिव्रत धारण करना।

---

१. चित्तसंभूत जातक से तुलना कीजिए; खासकर उत्तराध्ययन की १०,२० आदि गाथाओं की उक्त जातक की १, २, ३, २२ आदि गाथाओं के साथ।

पुत्र—पिता जी ! वेदों के अध्ययन से जीवों को शरण नहीं मिलती और ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक की ही प्राप्ति होती है; पुत्र भी रक्षा नहीं करते, फिर आपकी बात को कौन स्वीकार करेगा ? कामभोग क्षणमात्र के लिए सुख देते हैं, उनसे प्रायः दुःख की ही प्राप्ति होती है, मुक्ति नहीं मिलती।

पिता—जैसे अरणि में से अग्नि, दूध में से घी और तिलों में से तेल पैदा होता है उसी प्रकार शरीर में जीव की उत्पत्ति होती है और शरीर के नाश होने पर उसका नाश हो जाता है।

पुत्र—आत्मा के अमूर्त होने के कारण वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण वह नित्य है। अमूर्त होने पर भी मिथ्यात्व आदि के कारण आत्मा बंधन में बद्ध है, यही संसार का कारण है।

पिता—यह लोक किससे पीड़ित है ? किससे व्याप्त है ? कौन से तीक्ष्ण शस्त्रों का प्रहार इस पर हो रहा है ? यह जानने के लिए मैं चिन्तित हूँ।

पुत्र—पिता जी ! यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से व्याप्त है और रात्रियाँ अपने अमोघ प्रहार द्वारा इसे क्षीण कर रही हैं। जो रात्रि व्यतीत हो जाती है, वह फिर लौटकर नहीं आती। ऐसी हालत में अधर्म का आचरण करने वाले व्यक्ति की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं।

पिता—पुत्रो ! सम्यक्त्व प्राप्त कर हम सब कुछ दिनों तक साथ रहने के बाद घर-घर भिक्षा ग्रहण करते हुए मुनिव्रत धारण करेंगे।

पुत्र—जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता है, अथवा जो मृत्यु का नाश करता है और जिसे यह विश्वास है कि वह मरनेवाला नहीं, वही आगामी कल का विश्वास कर सकता है।

अपने पुत्रों के वचन सुनकर पुरोहित का हृदय परिवर्तन हो गया और अपनी पत्नी को बुलाकर वह कहने लगा—

हे वाशिष्ठि ! बिना पुत्रों के मैं इस गृहस्थी में नहीं रहना चाहता, अब मेरा भिक्षुधर्म ग्रहण करने का समय आ गया है। जैसे शाखाओं के कारण वृक्ष सुन्दर लगता है, बिना शाखाओं के ठूंठ मात्र रह जाता है, इसी प्रकार बिना पुत्रों के मेरा गृहस्थ जीवन शोभनीय नहीं मालूम होता।

पत्नी—सौभाग्य से सरस और सुन्दर कामभोग हमें प्राप्त हुए हैं, इसलिए इनका यथेच्छ सेवन करने के बाद ही हम दोनों संयममार्ग ग्रहण करेंगे। जैसे कोई बूढ़ा हंस प्रवाह के विरुद्ध जाने के कारण कष्ट पाता है, वैसे ही तुम प्रव्रज्या

ग्रहण करने के बाद अपने स्नेही जनों की याद कर-करके दुःख प्राप्त करोगे। अतएव गृहस्थाश्रम में रहकर मेरे साथ भोगों का सेवन करो। भिक्षाचरी का मार्ग बहुत दुर्लभ है।

पति—हे भद्रे! जैसे साँप केंचुली का परित्याग कर चला जाता है, वैसे ही ये मेरे दोनों पुत्र भोगों को छोड़कर जा रहे हैं, मैं क्यों न इनका अनुसरण करूँ?

अपने पति के मार्मिक वचन सुनकर ब्राह्मणी का हृदय भी परिवर्तित हो गया।

इस प्रकार पुरोहित को अपनी पत्नी और दोनों पुत्रों सहित संसार का त्याग करते हुए देख, जब राजा इषुकार ने पुरोहित का सब धन-धान्य ले लिया तो रानी राजा से कहने लगी—हे राजन्! जो किसी के वमन किए हुए भोजन को ग्रहण करता है उसे कोई अच्छा नहीं कहता। तू ब्राह्मण द्वारा त्याग किए हुए धन को ग्रहण करना चाहता है, यह उचित नहीं है। हे राजन्! यदि तुझे सारे जगत् का धन भी दे दिया जाय तो भी वह तेरे लिए पर्याप्त न होगा, उससे तेरी रक्षा नहीं हो सकती। हे राजन्! कामभोगों का त्याग कर जब तू मृत्यु को प्राप्त होगा उस समय धर्म ही तेरे साथ चलेगा।

अन्त में राजा इषुकार और उसकी रानी ने भी संसार के विषयभोगों का त्याग कर दुःखों का नाश किया (१–५२)।[१]

सभिक्षु :

उत्तम भिक्षु के लक्षण ये हैं:—छिन्न (मूषक आदि द्वारा वस्त्र के छेदन का ज्ञान), स्वर (पक्षियों के स्वर का ज्ञान), भौम (भूकंप आदि का ज्ञान), अंतरिक्ष (गंधर्वनगर आदि का ज्ञान), स्वप्न (स्वप्नशास्त्र), लक्षण (लक्षण-शास्त्र), दंड (दंडलक्षण), वास्तुविद्या, अंगविकार (आँख आदि का फरकना) आदि से अपनी जीविका न करे[२] (७)। मन्त्र, जड़ी-बूटी आदि उपचारों को उपयोग में लाना तथा वमन, विरेचन और धूप देना, अंजन बनाना,

---

१. १२, २६, ४४, ४८ गाथाओं के साथ हत्थिपाल जातक की ४, १५, १७, २० गाथाओं की तुलना कीजिए।

२. दीघनिकाय (१, पृ० ९) में अंग, निमित्त, उप्पाद, सुपिन, लक्खण और मूसिकछिन्न का उल्लेख है।

स्नान कराना आदि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए (८)। क्षत्रिय, गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और शिल्पियों की पूजा-प्रशंसा नहीं करनी चाहिए (९)।

ब्रह्मचर्य-समाधि :

ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान इस प्रकार हैं:—स्त्री, पशु और नपुंसक सहित शयन-आसन का सेवन नहीं करना, स्त्रीकथा नहीं करना, स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना, स्त्रियों को देखकर उनका चिन्तन नहीं करना, पर्दे अथवा दीवाल के पीछे से उनके रुदन, गायन तथा आनन्द, विलाप आदिसूचक शब्दों को नहीं सुनना, गृहस्थाश्रम में भोगे हुए भोगों को स्मरण नहीं करना, पुष्टिकारक आहार का सेवन न करना, मात्रा से अधिक भोजन पान का ग्रहण नहीं करना, शृंगार नहीं करना, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होना (१-१०)।

पापश्रमणीय :

जो निद्राशील भिक्षु बहुत भोजन कर बहुत देर तक सोता रहता है वह पापश्रमण कहा जाता है (३)। जो आचार्य, उपाध्याय आदि से श्रुत और विनय प्राप्त करने के बाद उनकी निन्दा करता है वह पापश्रमण है (४)।

संयतीय :

कांपिल्य नगर में बल और वाहन से सम्पन्न संजय नाम का एक राजा रहता था। एक बार वह केशर नामक उद्यान में शिकार खेलने गया। उस समय वहाँ पर स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न हुए एक तपस्वी बैठे थे। राजा की दृष्टि तपस्वी पर पड़ी। राजा ने समझा कि उसका बाण मुनिराज को लग गया है। वह झट घोड़े से उतर उनके पास पहुँच क्षमा माँगने लगा। किन्तु ध्यान में सलग्न होने के कारण उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। मुनि महाराज का उत्तर न पा अपना परिचय देते हुए राजा ने उनसे कहा—

हे भगवन्! मैं संयत नाम का राजा हूँ, आपका संभाषण सुनना चाहता हूँ। आपका क्रोध करोड़ों मनुष्यों को भस्म करने में समर्थ है।

मुनि—हे राजन्! तू निर्भय हो और आज से तू भी दूसरों को अभयदान दे। इस क्षणभंगुर संसार में तू क्यों हिंसा में आसक्त होता है? स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव जीते जी ही साथ देते हैं, मर जाने पर कोई साथ नहीं जाता। जैसे पितृ-वियोग से दुःखी पुत्र पिता के मर जाने पर उसे श्मशान ले जाता है, वैसे ही

पिता भी पुत्र के मरने पर उसे श्मशान ले जाता है, इसलिए हे राजन्! तू तप का आचरण कर।

मुनि का उपदेश सुनकर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने अपने राज्य का त्याग कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की।

संयत मुनि का एक क्षत्रिय राजर्षि के साथ संवाद होता है। इस संवाद में भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, महापद्म, हरिषेण और जय नामक चक्रवर्तियों तथा दशार्णभद्र, नमि, करकण्डू, द्विमुख, नग्नजित्, उद्दायन, काशीराज, विजय और महाबल नामक राजाओं के दीक्षित होने का उल्लेख है (१–५४)[1]।

मृगापुत्रीय :

सुग्रीव नगर में बलभद्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम मृगा था। उसके मृगापुत्र नाम का पुत्र था। एक बार राजकुमार मृगापुत्र अपने प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ नगर की शोभा का निरीक्षण कर रहा था कि उसे एक तपस्वी दिखाई दिया। एकटक दृष्टि से उसे देखते-देखते मृगापुत्र को अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया। विषयभोगों के प्रति वैराग्य और संयम में राग धारण करता हुआ अपने माता-पिता के समीप पहुँच कर मृगापुत्र कहने लगा—

मृगापुत्र—मैंने पूर्वभव में पाँच महाव्रतों का पालन किया है, नरक और तिर्यंचयोनि दुःखों से पूर्ण है, इसलिए मैं संसार-समुद्र से विरक्त होना चाहता हूँ। आप मुझे प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करें। हे माता-पिता! विषफल के समान कटु फल देने वाले और निरन्तर दुःखदायी इन विषयों का मैंने यथेच्छ सेवन किया है। असार, व्याधि और रोगों का घर तथा जरा और मरण से व्याप्त इस शरीर में क्षणभर के लिए भी मुझे सुख नहीं मिलता। जैसे घर में आग लगने पर घर का मालिक बहुमूल्य वस्तुओं को निकाल लेता है और असार वस्तुओं को छोड़ देता है, उसी प्रकार जरा और मरण से व्याप्त इस लोक के प्रज्वलित होने पर आपकी आज्ञापूर्वक मैं अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहता हूँ।

माता-पिता—हे पुत्र! श्रमण-धर्म का पालन अत्यन्त दुष्कर है। भिक्षु को हजार बातों का ध्यान रखना पड़ता है। सब प्राणियों पर समभाव रखना पड़ता है, शत्रु-मित्र पर समान दृष्टि रखनी पड़ती है और जीवनपर्यन्त प्राणातिपात-

---

1. देखिए—जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० २७१-९.

विरमण आदि व्रतों का पालन करना होता है। हे पुत्र! तू अत्यन्त कोमल है, भोग-विलास में डूबा हुआ है, इसलिए तू श्रमणधर्म को पालन करने के योग्य नहीं है। लोहे के भार को ढोने के समान तेरे लिए संयम का भार वहन करना दुष्कर है। जैसे गङ्गा का प्रवाह दुस्तर है, अथवा सागर को भुजाओं से तैर कर पार नहीं किया जा सकता, उसी तरह संयम धारण करना कठिन है। जैसे बालू का भक्षण करना, तलवार की धार पर चलना, साँप का एकान्त दृष्टि से सीधे गमन करना और लोहे के चने चबाना महाकठिन है, उसी तरह संयम का पालन करना भी महादुष्कर है।

मृगापुत्र—हे माता-पिता! जो आपने कहा, ठीक है लेकिन निस्पृही के लिए इस लोक में कुछ भी दुष्कर नहीं है।

माता-पिता—यदि तू नहीं मानता तो खुशी से दीक्षा ग्रहण कर, लेकिन याद रखना, चारित्रपालन में संकट पड़ने पर निरुपाय हो जाओगे।

मृगापुत्र—आप जो कहते हैं ठीक है, लेकिन बताइये कि जंगल के पशु-पक्षियों का कौन सहारा है? जंगल के मृग को कष्ट होने पर उसे कौन औषधि देता है? कौन उसकी कुशल क्षेम पूछता है? और कौन उसे भोजन-पानी देता है? इसी तरह भिक्षु भी मृग के समान अनेक स्थानों में विचरण करता है और भिक्षा मिलने या न मिलने पर वह दाता की प्रशंसा या निन्दा नहीं करता। इसलिए मैं भी जंगल के मृग की भाँति विचरण करूँगा।

माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त होने पर मृगापुत्र ने संयम ग्रहण किया और अन्त में सिद्धगति प्राप्त की (१–९८)।

महानिर्ग्रन्थीय :

एक बार मगध के राजा श्रेणिक घूमते-फिरते मंडिकुक्षि नामक चैत्य में पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक मुनि को देखा। उसका रूप देखकर राजा अत्यन्त विस्मित हुआ और उसके रूप, वर्ण, सौम्यभाव, क्षमा आदि की पुनः पुनः प्रशंसा करने लगा। उसे नमस्कार कर और उसकी प्रदक्षिणा कर राजा प्रश्न करने लगा—

राजा—हे आर्य! कृपा कर कहिये कि भोग-विलास सेवन करने योग्य इस तरुण अवस्था में आपने क्यों श्रमणत्व की दीक्षा ग्रहण की?

मुनि—महाराज! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं है, आज तक कोई मुझे कृपालु मित्र नहीं मिला है।

राजा (हँसकर)—क्या आप जैसे ऋद्धिवान् पुरुष का मैं नाथ नहीं हूँ ? यदि आपका कोई नाथ नहीं है तो आज से मैं आपका नाथ होता हूँ। मित्र तथा स्वजनों से वेष्टित होकर आप यथेच्छ भोगों का उपभोग करें।

मुनि—हे मगधाधिप ! तू स्वयं अनाथ है, फिर दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है ?

राजा—हाथी, घोड़े, नौकर-चाकर, नगर और अंतःपुर का मैं स्वामी हूँ, मेरा ऐश्वर्य अनुपम है। फिर मैं अनाथ कैसे हो सकता हूँ ? भंते ! आप मिथ्या तो नहीं कह रहे हैं ?

मुनि—हे पार्थिव ! तू अनाथ या सनाथ के रहस्य को नहीं समझ सका है, इसीलिए इस तरह की बातें कर रहा है।

इसके पश्चात् मुनि ने अपने जीवन का आद्योपांत वृत्तान्त राजा से कहा और उसे निर्ग्रन्थ धर्म का उपदेश दिया। मुनि का उपदेश सुनकर राजा श्रेणिक अपने परिवारसहित निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक बन गया (१–६०)।[1]

समुद्रपालीय :

चम्पा नगरी में पालित नाम का एक व्यापारी रहता था। वह महावीर का शिष्य था। एक बार पालित जहाज द्वारा व्यापार करता हुआ पिहुंड[2] नामक नगर में आया। वहाँ पर किसी वणिक् ने अपनी पुत्री के साथ उसका विवाह कर दिया। जहाज द्वारा घर लौटते हुए पालित के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम समुद्रपालित रखा गया। बड़े होने पर समुद्रपालित ने ७२ कलाओं की शिक्षा प्राप्त की। उसका विवाह हो गया और वह आनन्दपूर्वक काल यापन करने लगा।

एक दिन समुद्रपालित अपने प्रासाद के वातायन में बैठा हुआ नगर की शोभा देख रहा था। उस समय उसने वध्यस्थान को ले जाते हुए एक चोर को देखा। चोर को देखकर समुद्रपालित के हृदय में वैराग्य हो आया और माता-पिता की आज्ञापूर्वक उसने अनगार व्रत धारण कर लिया (१–२४)।

रथनेमीय :

सोरियपुर[3] में वसुदेव नाम का राजा राज्य करता था। उसके रोहिणी और देवकी नाम की दो स्त्रियां थीं। रोहिणी ने राम (बलभद्र) और देवकी ने केशव

१. तुलना कीजिए—सुत्तनिपात के पबज्जा सुत्त के साथ।

२. खारवेल के शिलालेखों में पिथुडग अथवा पिथुड का उल्लेख है।

३. सूर्यपुर वटेश्वर (जिला आगरा) के पास। सूर्यपुर की राजधानी का नाम कुशार्ता था।

(कृष्ण) को जन्म दिया। उसी नगर में समुद्रविजय नामक एक राजा रहता था। उसकी भार्या शिवा से गौतमगोत्रीय अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के साथ विवाह करने के लिए राजीमती की मँगनी की। राजीमती के पिता ने कृष्ण को कहला भेजा कि यदि अरिष्टनेमि विवाह के लिए उसके घर आने के लिए तैयार हों तो वह उन्हें अपनी कन्या देगा।

अरिष्टनेमि को सब प्रकार की औषधियों द्वारा स्नान कराया गया, कौतुक, मंगल किये गये, उन्हें दिव्य वस्त्र पहनाये गये, आभरणों से विभूषित किया गया और तत्पश्चात् मदोन्मत्त गंधहस्ती पर आरूढ़ हो, दशार्ह राजाओं के साथ चातुरंगिणी सेना से सज्ज हो वे विवाह के लिए चल पड़े।

अपने भावी श्वसुर के घर जाते हुए रास्ते में उन्होंने बाड़ों और पिंजरों मे बँधे हुए मृत्युभय से पीड़ित बहुत से पशु-पक्षियों को बिलबिलाते देखा। सारथी से पूछने पर मालूम हुआ कि इनको मारकर बारातियों के लिए भोजन तैयार किया जायगा। यह सुनकर अरिष्टनेमि को वैराग्य हो आया। उन्होंने अपने कुंडल, कटिसूत्र आदि आभरणों को उतार सारथी के हवाले कर दिया और वापिस लौट गये।

नेमिनाथ पालकी में सवार होकर द्वारका नगरी से प्रस्थान कर रैवतक[1] पर्वत पर पहुँचे और वहाँ पंचमुष्टि केशलोच करके दीक्षा ग्रहण की।

उधर जब राजकन्या राजीमती ने नेमिनाथ की दीक्षा का वृत्तान्त सुना तो वह शोक से मूर्च्छित हो गिर पड़ी और विचार करने लगी—मेरा जीवन धिक्कार है जो वे मुझे त्याग कर चले गये। अब मेरा प्रव्रज्या धारण करना ही ठीक है। यह सोचकर उसने भ्रमर के समान कृष्ण और कंघी किये हुए अपने कोमल केशों का लोचकर रैवतक पर्वत पर पहुँच आर्यिका की दीक्षा ग्रहण की।

एक बार वर्षा के कारण राजीमती के सब वस्त्र गीले हो गये। अंधेरा हो जाने के कारण वह एक गुफा में खड़ी हो गई। जब वह अपने वस्त्रों को उतार कर उन्हें निचोड़ रही थी तो अकस्मात् अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि—जो वहाँ ध्यानावस्था में आसीन थे—की दृष्टि राजीमती पर पड़ी। राजीमती को वस्त्र-रहित अवस्था में देख रथनेमि का चित्त व्याकुल हो गया। इसी समय राजीमती ने भी रथनेमि को देखा और उन्हें देखते ही वह भयभीत हो गई। उसकी देह काँपने लगी और उसने अपने हाथों से अपने गुप्त अंगों को ढँक लिया। राजीमती को देखकर रथनेमि कहने लगे—

---

१. इसे ऊर्जयन्त अथवा गिरिनार (गिरिनगर) नाम से भी कहा गया है।

हे भद्रे ! हे सुरूपे ! हे मंजुभाषिणि ! मैं रथनेमि हूँ, तू मुझसे मत डर। मुझसे तुझे लेशमात्र भी कष्ट न पहुँचेगा। मनुष्य-भव दुर्लभ है, आओ हम दोनों भोगों का उपभोग करें। भुक्तभोगी होने के बाद हम जिनमार्ग का सेवन करेंगे।

संयम में कायर बने हुए रथनेमि की यह दशा देख अपने कुल-शील की रक्षा करती हुई सुस्थित भाव से राजीमती ने उत्तर दिया—हे रथनेमि ! यदि रूप में तू वैश्रवण, विलासयुक्त चेष्टा में नलकूबर[1] अथवा साक्षात् इन्द्र ही बन जाय तो भी मैं तेरी इच्छा न करूँगी। हे कामभोग के अभिलाषी ! तेरे यश को धिक्कार है। तू वमन की हुई वस्तु का पुनः उपभोग करना चाहता है, इससे तो मर जाना अच्छा है।[2] मैं भोगराज (उग्रसेन) के कुल में पैदा हुई हूँ और तू अंधकवृष्णि[3] के कुल में पैदा हुआ है। फिर हम अपने कुल में गंधनसर्प[4] क्यों बनें, इसलिए तू निश्चल भाव से संयम का पालन कर। जिस किसी भी नारी को देखकर यदि तू उसके प्रति आसक्तिभाव प्रदर्शित करेगा तो वायु के झोंके से इधर-उधर डोलने वाले तृण की भाँति अस्थिर चित्त हो जायेगा।

राजीमती के वचन सुन जैसे हाथी अंकुश से वश में हो जाता है वैसे ही रथनेमि भी धर्म में स्थिर हो गये। फिर दोनों ने केवलज्ञान प्राप्त कर समस्त कर्मों का क्षय कर सिद्धगति पाई (१–४८)।

---

१. नलकुब्बरसमाणा वेश्रमणपुत्रतुल्याः। इदं च लोकरूढ्या व्याख्यातं यतो देवानां पुत्राः न सन्ति—अन्तगड-टीका, पृ० ८९.

२. तुलना कीजिए—दशवैकालिक (२. ७ आदि) से। तथा—
धिरत्थु तं विसं वन्तं, यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि मतम्मे जीविता वरं ॥
—विसवन्त जातक.

३. अंधकवृष्णि सोरियपुर में राज्य करता था। उसके समुद्रविजय, वसुदेव आदि पुत्र और कुन्ती और माद्री पुत्रियाँ थीं। समुद्रविजय के दो पुत्र थे—अरिष्टनेमि और रथनेमि। वसुदेव के वासुदेव, बलदेव, जराकुमार आदि अनेक पुत्र थे। यदुकुल के वंशवृक्ष के लिए देखिए—जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेंट इंडिया, पृ० ३७७.

४. गन्धन सर्प मंत्रादि से आकृष्ट होकर अपने विष का पान कर लेते हैं, जबकि अगंधन सर्प किसी भी हालत में ऐसा नहीं करते।

केशि-गौतमीय :

एक बार पार्श्वनाथ के शिष्य विद्या और चारित्र में पारगामी केशीकुमार श्रमण अपने शिष्य-परिवार के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक नामक उद्यान में पधारे। उस समय भगवान् वर्धमान के शिष्य द्वादशाङ्गवेत्ता गौतम भी अपने शिष्य-परिवार सहित विहार करते हुए श्रावस्ती में आये और कोष्ठक नामक चैत्य में ठहर गये। दोनों के शिष्यसमुदाय के मन में विचार उत्पन्न हुआ—पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया है और महावीर ने पाँच महाव्रतों का, इस भेद का क्या कारण हो सकता है? महावीर ने अचेल धर्म का प्ररूपण किया है और पार्श्वनाथ ने सचेल का, इसका क्या कारण हो सकता है?

अपने शिष्यों की शंका का समाधान करने के लिए गौतम अपने शिष्यों के साथ केशी से मिलने तिन्दुक उद्यान में आये। केशी ने उनका स्वागत करते हुए उन्हें प्रासुक पलाल, कुश और तृण के आसन पर बैठाया। उस समय वहाँ अनेक पाखण्डी तथा गृहस्थ आदि भी उपस्थित थे। दोनों में प्रश्नोत्तर होने लगे—

केशी—पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का उपदेश दिया है और महावीर ने पाँच व्रतों का। एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील दो तीर्थङ्करों के इस मतभेद का क्या कारण है? क्या आप के मन मे इस सम्बन्ध मे संशय उत्पन्न नहीं होता?

गौतम—प्रथम तीर्थङ्कर के समय में मनुष्य सरल होने पर भी जड़ थे, अन्तिम तीर्थङ्कर के समय में वक्र और जड़ थे तथा मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के समय में सरल और बुद्धिमान थे, इसलिए धर्म का दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। प्रथम तीर्थङ्कर के अनुयायियों के लिए धर्म का समझना कठिन है, अन्तिम तीर्थङ्कर के अनुयायियों के लिए धर्म का पालन कठिन है और मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के अनुयायियों के लिए धर्म का समझना और पालना दोनों आसान हैं। इसलिए विचित्र प्रज्ञावाले शिष्यों के लिए धर्म की विविधता का प्रतिपादन किया गया है।

केशी—महावीर ने अचेल धर्म का उपदेश दिया है और पार्श्वनाथ ने सचेल का, इस मतभेद का क्या कारण है?

गौतम—अपने ज्ञान द्वारा जानकर ही तीर्थङ्करों ने धर्म के साधन—उपकरणों का उपदेश दिया है। बाह्य लिङ्ग केवल व्यवहार नय से मोक्ष का साधन है, निश्चय नय से तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही वास्तविक साधन हैं।

केशी—इस लोक में बहुत से जीव कर्मरूपी जाल में बद्ध दिखाई देते हैं, फिर आप बन्धनों को छेद लघु होकर कैसे विहार करते हैं ?

गौतम—मैं उचित उपायों द्वारा बन्धनों का नाश कर लघु होकर विहार करता हूँ।

केशी—शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए सुखकर और बाधारहित स्थान कौन-सा है ?

गौतम—यह स्थान ध्रुव है, लोक के अग्रभाग में स्थित है, यहाँ पहुँचना बहुत कठिन है; जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना का यहाँ भय नहीं। केवल महर्षि ही यहाँ पहुँच सकते हैं (१–८९)।

प्रवचनमाता :

पाँच समितियों और तीन गुप्तियों को आठ प्रवचनमाता कहा गया है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदानभंडनिक्षेपण और उच्चारादिप्रतिष्ठापन—ये पाँच समितियाँ है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं (१-३)।

यज्ञीय :

एक बार ब्राह्मण कुलोत्पन्न जयघोष नामक मुनि विहार करते हुए बनारस के उद्यान में आकर ठहरे। उस समय वहाँ विजयघोष नामक ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। जयघोष विजयघोष की यज्ञशाला में भिक्षा के लिए उपस्थित हुए। विजयघोष ने भिक्षु को देखकर कहा—हे भिक्षु ! मैं तुझे भिक्षा न दूँगा, तू अन्यत्र जाकर भिक्षा माँग। यह भोजन वेदों के पारंगत, यज्ञार्थी, ज्योतिषशास्त्रसहित छः अङ्गों के ज्ञाता तथा अपने और दूसरों को पार उतारने में समर्थ केवल ब्राह्मणों के लिए ही सुरक्षित है।

वेदों और यज्ञों का वास्तविक स्वरूप प्रतिपादन करते हुए जयघोष ने कहा—

वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है, धर्म का मुख काश्यप (ऋषभदेव) है। इस लोक में जो अग्नि की तरह पूज्य है उसे कुशल पुरुष ब्राह्मण कहते हैं[1]। सिर मूँड़ा लेने से श्रमण नहीं होता,

---

१. तुलना कीजिए—

न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

—धम्मपद, ब्राह्मणवग्गो ११

ओंकार का जप करने से ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास से मुनि नहीं होता और कुशचीवर धारण करने से तपस्वी नहीं कहलाता। समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है। कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और अपने कर्म से ही मनुष्य शूद्र होता है।

जयघोष मुनि का उपदेश श्रवण कर विजयघोष ब्राह्मण ने उनके समीप दीक्षा ग्रहण की (१–४५)।

सामाचारी :

आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, तथेतिकार, अभ्युत्थान और उपसम्पदा—ये दस साधु-सामाचारी कही गई हैं (१–४)।

खलुंकीय :

जैसे गाड़ी में योग्य बैल के जोड़ने से कांतार (भयानक वन) को सरलता से पार किया जा सकता है, वैसे ही संयम में संलग्न शिष्य संसाररूपी अटवी को पार कर लेते हैं (२)। जो मरियल बैलों (खलुंक) को गाड़ी में जोतता है वह उन्हें मारते-मारते थक जाता है और उसका चाबुक टूट जाता है (३)। दुष्ट शिष्य मरियल बैलों की भांति हैं जो धर्मरूपी यान मे जोड़े जाने पर उसे तोड़-फोड़ डालते हैं (८)। गर्गाचार्य अड़ियल टट्टू की भाँति बर्ताव करने वाले अपने शिष्यों को छोड़कर एकान्त में तप करने चले गये (१६)।

मोक्षमार्गीय :

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को जिन भगवान् ने मोक्ष का मार्ग प्रतिपादन किया है (२)। ज्ञान के पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान (४)। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छः द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं (७)। जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं (१४)। इन तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है (१५)। आगे सम्यक्त्व के दस भेद (१६), सम्यक्त्व के आठ अङ्ग (३१), चारित्र के पाँच भेद (३२–३३) व तप के दो प्रकार बताये हैं (३४)।

सम्यक्त्व-पराक्रम :

इस अध्ययन में संवेग, निर्वेद, धर्मश्रद्धा, गुरुसाधर्मिकसुश्रूषणा, आलोचना, निन्दा, गर्हा, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, स्तवस्तुतिमङ्गल, कालप्रतिलेखना, प्रायश्चित्तकरण, क्षमापना, स्वाध्याय, वाचना, प्रतिपृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा, शास्त्राराधना आदि ७३ स्थानों का प्रतिपादन किया गया है (१–७४)।

तपोमार्गगति :

प्राणवध, मृषावाद, अदत्त, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन से विरक्त होने के कारण जीव आस्रवरहित होता है (२)। पाँच समिति व तीन गुप्तिसहित, चार कषायों से रहित, जितेन्द्रिय, निरभिमानी और शल्यरहित होने पर जीव आस्रव रहित होता है (३)। आगे तप के भेद बताये हैं (७–८)।

चरणविधि :

दो पाप, तीन दण्ड, चार विकथाएँ, पाँच महाव्रत, छः लेश्याएँ, सात पिंडग्रहण-प्रतिमाएँ और भयस्थान, आठ मद, नौ ब्रह्मचर्य, दस भिक्षुधर्म, ग्यारह प्रतिमाएँ, बारह भिक्षुप्रतिमाएँ, तेरह क्रियास्थान, चौदह प्राणीसमूह, पन्द्रह परमाधार्मिक देव, सोलह सूत्रकृतांग के प्रथम स्कन्ध के अध्ययन, सतरह असंयम, अठारह अब्रह्मचर्य, उन्नीस ज्ञाताधर्म के अध्ययन, बीस समाधिस्थान, इक्कीस सबल दोष, बाईस परीषह, तेईस सूत्रकृतांग के कुल अध्ययन, चौबीस देव, पचीस भावनाएँ, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प तथा व्यवहार सूत्र के सब मिलाकर छब्बीस विभाग, सत्ताईस अनगार-गुण, अट्ठाईस आचार-प्रकल्प, उनतीस पापसूत्र, तीस महामोहनीयस्थान, इकतीस सिद्धगुण, बत्तीस योगसंग्रह और तैंतीस आसातनाएँ—इनमें जो सदैव उपयोग रखता है वह भिक्षु संसार में परिभ्रमण नहीं करता (१–२१)।

प्रमादस्थान :

सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के त्याग से तथा राग और द्वेष के क्षय से एकान्त सुखकारी मोक्ष की प्राप्ति होती है (२)। जैसे बिल्लियों के निवासस्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त नहीं है, वैसे ही स्त्रियों के निवासस्थान के पास ब्रह्मचारी का रहना ठीक नहीं (१३)।

कर्मप्रकृति :

कर्म आठ होते हैं:—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय (२–३)। आगे इनके अवान्तर भेद हैं (४–१५)।

लेश्या :

लेश्याएँ छः होती हैं:—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, और शुक्ल (१३)। आगे लेश्याओं के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और परिणाम का वर्णन है (४–२०)। लेश्याओं के लक्षण आदि भी बताये हैं (२१–६१)।

अनगार :

संयमी को हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, इच्छा तथा लोभ—इनका त्याग करना चाहिए (३)। श्मशान, शून्यागार, वृक्ष के नीचे अथवा दूसरे के लिए बनाए हुए एकान्त स्थान में रहना चाहिए (६)। क्रय-विक्रय में साधु को किसी तरह का भाग न लेना चाहिए (१४)।

जीवाजीवविभक्ति :

अजीव के दो भेद हैं:—रूपी और अरूपी। रूपी के चार और अरूपी के दस भेद हैं। अरूपी के दस भेद ये हैं:—धर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेश, अधर्मास्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेश, आकाशास्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेश और अद्धासमय (काल) (४–६)। रूपी के चार भेद ये हैं:--स्कन्ध, स्कन्ध के देश, उसके प्रदेश और परमाणु (१०)। इसी प्रकार पुद्गल के अन्य भी भेद-प्रभेद हैं (१५–४७)। जीव दो प्रकार के होते हैं:—संसारी और सिद्ध (४८)। सिद्धों के अनेक भेद हैं (४९–६७)। संसारी जीव के दो भेद हैं:—त्रस और स्थावर (६८)। स्थावर जीवों के तीन भेद हैं:—पृथ्वीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय (६९)। इनके अनेक अवान्तर भेद हैं (७०–१०५)। त्रस जीवों के तीन भेद हैं:—अग्निकाय, वायुकाय, द्वीन्द्रियादि जीव (१०७)। इनके अनेक उपभेद हैं (१०८–१५४)। पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के होते हैं:—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव (१५५)। इनके अनेक उत्तरभेद हैं (१५६–२४७)।

प्रकरण २

आ व श्य क

सामायिक

चतुर्विंशतिस्तव

वंदन

प्रतिक्रमण

कायोत्सर्ग

प्रत्याख्यान

द्वितीय प्रकरण

आवश्यक

आवस्सय—आवश्यक[1] आगमों का दूसरा मूलसूत्र है। इस ग्रन्थ में नित्य-कर्म के प्रतिपादक आवश्यक क्रियानुष्ठानरूप कर्तव्यों का उल्लेख है, इसलिए इसे आवश्यक कहा गया है[2]। इसमें छः अध्याय हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

---

१. (अ) भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की मलयगिरिकृत टीका के साथ—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२८ (प्रथम भाग), १९३२ (द्वितीय भाग); देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९३६ (तृतीय भाग).

(आ) भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की हरिभद्रविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६–१७.

(इ) भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की माणिक्यशेखरविरचित दीपिकासहित—विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १९३९–१९४१.

(ई) मलधारी हेमचन्द्रविहित प्रदेशव्याख्या—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२०.

(उ) गुजराती अनुवादसहित—भीमसी माणेक, बम्बई, सन् १९०६.

(ऊ) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, हैदराबाद, वी० सं० २४४६.

(ऋ) हिन्दी विवेचनसहित (श्रमणसूत्र)—उपाध्याय अमर मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, वि० सं० २००७.

(ए) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५८.

(ऐ) जिनदासकृत चूर्णि, रतलाम, सन् १९२८.

२. अवश्यं कर्त्तव्यं आवश्यकं, श्रमणादिभिरवश्यं उभयकालं क्रियते।

—मलयगिरि, आवश्यक-टीका, पृ० ८६ अ.

सामायिक :

राग-द्वेषरहित समभाव को सामायिक कहते हैं। "मैं सामायिक करता हूँ, यावज्जीवन सब प्रकार के सावद्य योग का प्रत्याख्यान करता हूँ—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करता हूँ, उससे निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, अपने आपका त्याग करता हूँ। मैंने दिनभर में यदि व्रतों में अतिचार लगाया हो, सूत्र अथवा मार्ग के विरुद्ध आचरण किया हो, दुर्ध्यान किया हो, श्रमणधर्म की विराधना की हो तो वह सब मिथ्या हो। जब तक मैं अर्हन्त भगवान् के नमस्कारमन्त्र का उच्चारण कर कायोत्सर्ग न करूँ, तब तक मैं अपनी काया को एक स्थान पर रखूँगा, मौन रहूँगा, ध्यान में स्थित रहूँगा।"

चतुर्विंशतिस्तव :

चतुर्विंशतिस्तव में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। "लोक को उद्योतित करने वाले धर्म के तीर्थंकर चौबीस केवलियों का मैं स्तवन करूँगा। तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों, मैं उनकी कीर्ति, वन्दना और महिमा करता हूँ।"

वंदन :

वन्दन अर्थात् स्तवन। "हे क्षमाश्रमण! मैं आपकी वन्दना करने की इच्छा करता हूँ, आप मुझे वन्दन के लिए उचित अवग्रह (गुरु के पास बैठने का मर्यादा-प्रदेश) की अनुमति प्रदान करें।" शिष्य गुरु के चरणों को अपने हाथों से स्पर्श करके कहता है—"यदि आपको कष्ट हुआ हो तो क्षमा करें। अतिशय सुख-पूर्वक आपका दिन व्यतीत हो। तप, नियमादिरूप आपकी यात्रा कैसी है? इन्द्रियों की स्वाधीनतारूपी यापनीयता कैसी है? हे क्षमा-श्रमण! मैंने मन, वचन और काय की दुष्टता अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ से जो कुछ किया है, उसे क्षमा करें।"

प्रतिक्रमण :

प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। "अरिहन्त, सिद्ध और साधु लोक में उत्तम हैं, केवली का कहा हुआ धर्म लोक में उत्तम है। अरिहन्त, सिद्ध और साधु की मैं शरण जाता हूँ, केवली के कहे हुए धर्म की शरण जाता हूँ। मैंने शास्त्र, मार्ग अथवा आचार के विरुद्ध जो मन, वचन और काय से दिवस-सम्बन्धी अतिचार किया हो, अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रुत, सामायिक, तीन

गुप्ति, चार अकषाय, पञ्च महाव्रत, छः जीवनिकायों की रक्षा, सात पिंडैषणा, आठ प्रवचनमाता, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति और दस श्रमणधर्म—इनकी विराधना की हो, वह सब मिथ्या हो। गमनागमन से प्राण, बीज, हरित, अप्काय और पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाया हो, वह मिथ्या हो। सोते हुए, शरीर को संकुचित करते हुए अथवा फैलाते हुए जीवों को जो कष्ट पहुँचाया हो, वह मिथ्या हो। गोचरी के लिए जाते समय जीवों की जो विराधना हुई हो, वह मिथ्या हो। स्वाध्याय आदि न करने से जो दोष हुए हों, वे मिथ्या हों।" आगे पाँच क्रिया, पाँच कामगुण आदि से निवृत्त होने की इच्छा, चतुर्दश जीवसमूह, सतरह असंयम, अठारह अब्रह्म, बीस असमाधिस्थान तथा इक्कीस शबल आदि से निवृत्त होने की भावना का वर्णन है। "अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका आदि की आशातनापूर्वक यदि हीन अक्षर उच्चारण कर, अति अक्षर उच्चारण कर अथवा पदहीन अक्षर उच्चारण कर स्वाध्याय में प्रमाद किया हो तो वह मिथ्या हो। उस धर्म का मैं श्रद्धान करता हूँ, उस धर्म की आराधना के लिए उद्यत हूँ, असंयम को त्यागता हूँ, संयम को प्राप्त होता हूँ, मिथ्यात्व को त्यागता हूँ, सम्यक्त्व को प्राप्त होता हूँ, समस्त दैवसिक अतिचारों से निवृत्त होता हूँ, माया और मृषा से वर्जित हो मैं ढाई द्वीप-समुद्रों की पन्द्रह कर्मभूमियों में जितने महाव्रतधारी साधु हैं उन सब को सिर झुका कर वन्दन करता हूँ।"

कायोत्सर्ग :

कायोत्सर्ग अर्थात् ध्यान के लिए शरीर की निश्चलता। "मैं कायोत्सर्ग में स्थित रहना चाहता हूँ। सूत्र, मार्ग और आचार का उल्लंघन कर मन, वचन और काय से जो मैंने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रुत, सामायिक आदि की विराधना की है, वह मिथ्या हो। समस्त लोक में अर्हन्त-चैत्यों के वन्दन, पूजन, सत्कार, सम्मान, बोधिलाभ और निरुपसर्ग (मोक्ष) के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। पुष्करवर द्वीपार्ध, धातकीखंड, जम्बूद्वीप, भरत, ऐरावत और विदेह में धर्म के आदि तीर्थंकर को नमस्कार करता हूँ। तिमिरपटल को विध्वंस करने वाले सीमन्धर की वन्दना करता हूँ। श्रुत भगवान् के वन्दन, पूजन आदि के निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ। सिद्ध, बुद्ध, पारङ्गत, परम्परागत, लोकाग्र भाग में अवस्थित सर्व सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। देवों के देव महावीर की वन्दना करता हूँ। ऊर्जयन्त (गिरनार) पर दीक्षा ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त करने

वाले अरिष्टनेमि को नमस्कार करता हूँ। चौबीस जिनवरों को नमस्कार करता हूँ। हे क्षमाश्रमण! आभ्यन्तर अतिचार को क्षमा कराने के लिए मैं उद्यत हूँ। भक्त, पान, विनय, वैयावृत्य, आलाप, संलाप, उच्च आसन, अन्तर भाषा और उपरि भाषा में मैंने जो कुछ अविनय दिखाया हो, उसे आप जानते हैं, मैं नहीं जानता, वह मिथ्या हो।"

प्रत्याख्यान :

सर्व सावद्य कर्मों से निवृत्त होने को प्रत्याख्यान कहते हैं। "सूर्योदय से दो घड़ी दिन तक चार प्रकार के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से एक प्रहर दिन तक उक्त चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से मध्याह्न तक चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ। आदिकर, तीर्थङ्कर, स्वयबुद्ध, पुरुषसिंह, पुरुषवर-पुंडरीक, पुरुषवर-गंधहस्ती, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहितैषी, लोकप्रदीप, लोकप्रद्योतक, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, जीवनदाता, बोधिदाता, धर्मोपदेशक और धर्मनायक अरिहंतों को नमस्कार करता हूँ।"

प्रकरण ३

दशवैकालिक

द्रुमपुष्पिका
श्रामण्यपूर्विका
क्षुल्लिकाचार-कथा
षड्जीवनिकाय
पिण्डैषणा—पहला उद्देश
पिण्डैषणा—दूसरा उद्देश
महाचार-कथा
वाक्यशुद्धि
आचार-प्रणिधि
विनयसमाधि—पहला उद्देश
विनयसमाधि—दूसरा उद्देश
विनयसमाधि—तीसरा उद्देश
विनयसमाधि—चौथा उद्देश
सभिक्षु
पहली चूलिका—रतिवाक्य
दूसरी चूलिका—विविक्तचर्या

तृतीय प्रकरण

दशवैकालिक

दसवेयालिय—दशवैकालिक[1] जैन आगमों का तीसरा मूलसूत्र है। शय्यंभव[2] इसके कर्ता हैं। शय्यंभव ब्राह्मण थे और वे जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे। शय्यंभव के दीक्षा लेते समय उनकी स्त्री गर्भवती थी। दीक्षा ग्रहण करने के बाद उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम मणग रखा गया।

१. (अ) मूल—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९१२, १९२४; हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३८; उमेदचन्द रायचन्द, अहमदाबाद, सन् १९३०; शान्तिलाल व० शेठ, ब्यावर, वि० सं० २०१०.

(आ) हरिभद्र और समयसुन्दर की टीकाओं के साथ—भीमसी माणेक, बम्बई, सन् १९००.

(इ) समयसुन्दरविहित वृत्तिसहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९१५; जिनयशःसूरि ग्रन्थमाला, खंभात, सन् १९१९.

(ई) भद्रबाहुकृत निर्युक्ति की हरिभद्रीय वृत्ति के साथ—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८; मनसुखलाल हीरालाल, बम्बई, वि० सं० १९९९.

(उ) भद्रबाहुकृत निर्युक्तिसहित—E. Leumann, ZDMG. Vol. 46, pp. 581-663.

(ऊ) अंग्रेजी अनुवादसहित—W. Schubring, Ahmedabad, 1932; N. V. Vaidya, Poona, 1937.

(ऋ) हिन्दी टीकासहित—मुनि आत्मारामजी, ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जौहरी, महेन्द्रगढ़ (पटियाला), वि० सं० १९८९; जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, वि० सं० २००३; मुनि हस्तिमल्लजी, मोतीलाल बालमुकुन्द मूथा, सातारा, सन् १९४०.

(ए) हिन्दी अनुवादसहित—अमोलकऋषि, सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी० सं० २४४६; मुनि त्रिलोकचन्द्र,

आठ वर्ष का हो जाने पर मणग ने अपनी माँ से पिताजी के बारे में पूछा। मणग को जब पता लगा कि वे साधु हो गये हैं तो वह उनकी खोज में निकल पड़ा। मणग चम्पा में पहुँच कर उनसे मिला। शय्यंभव को अपने दिव्य ज्ञान से मालूम हुआ कि उनका पुत्र केवल छः महीने जीवित रहने वाला है। यह जानकर उन्होंने दस अध्यायों में इस सूत्र की रचना की तथा विकाल

जीतमल जैन, देहली, वि० सं० २००७; घेवरचन्द्र बांठिया, सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, वि० सं० २००२; साधुमार्गी जैन संस्कृतिरक्षक संघ, सैलाना, वि० सं० २०२०; मुनि अमरचन्द्र पंजाबी, विलायतीराम अग्रवाल, माच्छीवाड़ा, वि० सं० २०००.

(ऐ) संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—मुनि घासीलाल, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५७–१९६०.

(ओ) सुमतिसाधुविरचित वृत्तिसहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९५४.

(औ) हिन्दी अनुवाद—मुनि सौभाग्यचन्द्र (सन्तबाल), श्वे० स्था० जैन कोन्फरेंस, बम्बई, सन् १९३६.

(अं) हिन्दी अर्थ व टिप्पणियों के साथ—आचार्य तुलसी, जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, वि० सं० २०२०.

(अः) गुजराती छायानुवाद—गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, सन् १९३९.

(क) जिनदासकृत चूर्णि—रतलाम, सन् १९३३.

२. महावीर के प्रथम गणधर (गच्छधर–पट्टधर) सुधर्मा थे, उनके बाद जम्बू हुए। जम्बू अन्तिम केवली थे, उनके बाद केवलज्ञान का द्वार बन्द हो गया। जम्बूस्वामी के बाद प्रभव नामक तीसरे गणधर हुए, उनके बाद शय्यंभव हुए, फिर यशोभद्र, संभूतिविजय, भद्रबाहु और उनके बाद स्थूलभद्र हुए। शय्यंभव की दीक्षा के लिए देखिए—हरिभद्रकृत दशवैकालिक-वृत्ति, पृ० २०–१.

अर्थात् संध्या के समय पढ़े जाने के कारण इसका दसकालिय नाम पड़ा[1]। इसके अन्त में दो चूलिकाएँ हैं जो शय्यंभव की लिखी हुई नहीं मानी जातीं। भद्रबाहु के अनुसार (निर्युक्ति १६–१७) दशवैकालिक का चौथा अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व में से, पाँचवाँ अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व में से, सातवाँ अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व में से और बाकी के अध्ययन नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु में से लिए गये हैं। दशवैकालिक के कतिपय अध्ययन और गाथाओं की उत्तराध्ययन और आचारांग सूत्र के अध्ययन और गाथाओं के साथ तुलना की जा सकती है।

द्रुमपुष्पित :

धर्म उत्कृष्ट मंगल है; वह अहिंसा, संयम और तपरूप है। जिसका मन धर्म में संलग्न है उसे देव भी नमस्कार करते हैं (१)। जैसे भ्रमर पुष्पों को बिना पीड़ा पहुँचाये उनमें से रस का पान कर अपने आपको तृप्त करता है,[2] वैसे ही भिक्षु आहार आदि की गवेषणा में रत रहता है (२–३)।

श्रामण्यपूर्विक :

जो कामभोगों का निवारण नहीं करता वह संकल्प-विकल्प के अधीन होकर पद-पद पर स्खलित होता हुआ श्रामण्य को कैसे प्राप्त कर सकता है[3] (१)!

---

१. मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसऽज्झयणा।
वेयालियाइ ठविया तम्हा दसकालियं णाम॥

—निर्युक्ति, १५.

'वेयालियाइ ठविय' त्ति विगतः कालो विकालः, विकलनं वा विकाल इति, विकालोऽसकलः खण्डश्चेत्यनर्थान्तरम्, तस्मिन् विकाले—अपराण्हे।

—हरिभद्र, दशवैकालिक-वृत्ति, पृ० २४.

२. तुलना—
यथापि भमरो पुप्फं वण्णगंधं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥

—धम्मपद, पुप्फवग्ग, ६.

३. तुलना—
कतिहं चरेय्य सामञ्ञं चित्तं चे न निवारेय्य।
पदे पदे विसीदेय्य संकप्पानं वसानुगो॥

—संयुत्तनिकाय, १.२.७.

वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन—इनका जो स्वेच्छा से भोग नहीं करता वह त्यागी है (२)। समभावना से संयम का पालन करते हुए भी कदाचित् मन इधर-उधर भटक जाय, उस समय यही विचार करे कि न वह मेरी है और न मैं उसका हूँ (४)। अगंधन सर्प अग्नि में जलकर अपने प्राण त्याग देगा लेकिन वमन किये हुए विष का कभी पान नहीं करेगा[1] (६)।

क्षुल्लिकाचार-कथा :

निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए निम्नलिखित वस्तुएँ अनाचरणीय बताई गई हैं:—औद्देशिक भोजन, खरीदा हुआ भोजन, आमंत्रण स्वीकार कर ग्रहण किया हुआ भोजन, कहीं से लाया हुआ भोजन, रात्रिभोजन, स्नान, गन्ध, माला, व्यजन (पंखा) से हवा करना, संग्रह करना, गृहस्थ के पात्र का उपयोग करना, राजपिंड का ग्रहण करना, संबाधन (शरीर आदि का दबवाना), दन्तधावन, गृहस्थ से कुशल प्रश्न पूछना, दर्पण में मुख देखना, अष्टापद (चौपड़), नाली (एक प्रकार का जूआ), छत्रधारण, चिकित्सा कराना, उपानह (जूते) धारण करना, आग जलाना, वसति देने वाले का आहार ग्रहण करना, आसन पर बैठना, पर्यंक पर लेटना, दो घरों के बीच में रहना, शरीर पर उबटन आदि लगाना, गृहस्थ का वैयावृत्य करना, गृहस्थ को अपने जाति, कुल आदि की समानता बताकर भिक्षा ग्रहण करना, अप्रासुक जल का सेवन करना, क्षुधा आदि से आतुर होने पर पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण करना, सचित्त मूली, शृंगबेर (अदरक) और गन्ने का सेवन करना, सचित्त कन्द, मूल, फल और बीज का सेवन करना, सचित्त सौवर्चल (एक प्रकार का नमक), सैन्धव, लवण (सांभर), रूमा लवण, समुद्र का नमक, पांशुक्षार (ऊसर नमक) और काले नमक का सेवन करना, वस्त्र आदि को धूप देना, वमन, वस्तिकर्म, विरेचन, अंजन लगाना, दातौन करना, शरीर में तेल आदि लगाना और शरीर को विभूषित करना (२-९)। जो ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेते हैं, शीत ऋतु में प्रावरण रहित होकर तप करते हैं और वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहते हैं वे यत्नशील भिक्षु कहे जाते हैं (१२)।

षड्जीवनिकाय :

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये छः जीवनिकाय हैं। त्रस जीवों में अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज (रस से

---

1. ७-१० गाथाओं की उत्तराध्ययन के २२ वें अध्ययन की ४२-४६ गाथाओं से तुलना कीजिए।

पैदा होने वाले), संस्वेदज (स्वेद से उत्पन्न होने वाले), संमूर्च्छन, उद्भिज और उपपातज (देव और नारकी) जीवों की गणना होती है (१)। छः जीवनिकायों को कृत, कारित, अनुमोदन और मन, वचन, काय से हानि पहुँचाने का निषेध किया गया है (२)। सर्व प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण और परिग्रह-विरमण—ये पाँच महाव्रत हैं (३–७)। छठा रात्रिभोजन-विरमण व्रत कहा जाता है (८)। भिक्षु-भिक्षुणी को चाहिए कि वह दिन में या रात्रि में, अकेला अथवा समूह में, सुप्त अथवा जाग्रत् दशा में पृथ्वी, भित्ति, शिला, लोठ, धूलि लगे हुए शरीर अथवा वस्त्र को हस्त, पाद, काष्ठ, अंगुली, अथवा लोहे की सली आदि से न झाड़े, न पोंछे, न इधर-उधर हिलाये, न उसका छेदन करे और न भेदन करे। उदक, ओस, हिम, महिका (धूमिका), करक (ओला), आर्द्र शरीर अथवा आर्द्र वस्त्र को न स्पर्श करे, न सुखाये, न निचोड़े, न झटके और न आग के सामने रखे (११)। अग्नि, अंगार, चिनगारी, ज्वाला, जलते हुए काष्ठ और उल्का को न जलाये, न बुझाये, न लकड़ी आदि से हिलाये-डुलाये, न जल से सींचे, और न छिन्न-भिन्न करे (१२)। पंखे, पत्ते, शाखा, मयूर-पंख, वस्त्र, हाथ और मुँह से हवा न करे (१३)। बीज, अंकुर, हरित, सचित्त आदि के ऊपर पाँव रख कर न जाये, न इन पर बैठे और न सोये (१४)। यदि हाथ, पैर, सिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, दंड, पीठ (चौकी), फलक (पाटा), शय्या और संथारा आदि में कीट, पतंग, कुंथू और चींटी दिखाई दें तो बड़े प्रयत्न से उन्हें बार-बार देखभाल करके एकान्त मे छोड़ दे (१५)। अयत्नपूर्वक बैठने, उठने, सोने, खाने, पीने और बोलने वाला भिक्षु पाप-कर्मों का बंध करता है जिसका फल कड़ुआ होता है, इसलिए भिक्षु को यतनापूर्वक आचरण करना चाहिये (१०८)। सबसे पहले ज्ञान है, फिर दया—इस प्रकार संयमी ज्ञानपूर्वक आचरण करता है। अज्ञानी भला क्या कर सकता है ? वह पुण्य-पाप को कैसे समझेगा (१०) ? जो जीव, अजीव, जीवाजीव को जानता है वह संयम को जानता है (१३)। जीवाजीव को समझकर संयमी जीवों की गति को समझता है, पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को समझता है और पुण्य-पाप आदि के समझने पर विषयभोगों से निवृत्त होता है। फिर बाह्य-आभ्यंतर संयोग को छोड़ मुंड होकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है, उत्कृष्ट चारित्र को प्राप्त करता है, कर्मरज का प्रक्षालन करता है, ज्ञान-दर्शन को प्राप्त करता है, लोकालोक को जानकर केवली पद को पाता है, शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है और अन्त में कर्मों का क्षय कर लोक के अग्रभाग में पहुँच सिद्ध हो जाता है (१४–२५)।

पिण्डैषणा—पहला उद्देश :

ग्राम अथवा नगर में भिक्षाटन के लिए गये हुए भिक्षु को धीरे-धीरे और शान्त चित्त से भ्रमण करना चाहिए (२)। उसे भूमि को चार हाथ प्रमाण देखकर चलना चाहिए तथा बीज, हरित, दो इन्द्रियादिक जीव, अप्काय और पृथ्वीकाय जीवों को बचाना चाहिये (३)। अंगार, क्षारराशि, तुषराशि और गोमयराशि को धूलि भरे पैरों से अतिक्रमण न करे (७)। जब वर्षा होती हो, कुहरा गिरता हो अथवा महावायु बहती हो, उस समय कीट-पतंग आदि से व्याप्त भूमि पर भिक्षु को गमन न करना चाहिए (८)। वेश्या के मोहल्लों में न जाये (९)। कुत्ता, हाल की ब्याई हुई गाय, मदमत्त बैल, हाथी, घोड़ा, बालकों के क्रीडास्थान, कलह और युद्ध का दूर से ही त्याग करे (१२)। जल्दी-जल्दी, बातचीत करते हुए अथवा हँसते हुए भिक्षा के लिए गमन न करे; सदा ऊँच-नीच कुलों में गोचरी के लिए जाय (१४)। निषिद्ध और अप्रीतिकारी कुलों में भिक्षा के लिए न जाये (१७)। भेड़, बालक, कुत्ते और बछड़े को अतिक्रमण कर घर में प्रवेश न करे (२२)। कुल की भूमि का उल्लंघन करके न जाये (२४)। यदि कोई स्त्री दो इन्द्रिय आदि जीव अथवा बीज और हरितकाय का पैरों आदि से मर्दन करती हुई भिक्षा दे तो उसे ग्रहण न करे (२९)। यदि भोजन करते हुए दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति भोजन के लिए आमंत्रित करे तो उसके द्वारा दिए हुए आहार को ग्रहण न करे, बल्कि उसके अभिप्राय को समझने की चेष्टा करे (३७)। गर्भिणी अथवा स्तनपान करते हुए बालक को एक ओर हटाकर आहार देनेवाली स्त्री के द्वारा दिया हुआ भोजन ग्रहण न करे (४०–४२)। जलकुंभ, चौकी और शिला आदि से ढके हुए बर्तन को खोलकर अथवा मिट्टी आदि के लेप को हटाकर दिया हुआ आहार ग्रहण न करे (४५-४६)। यदि पता लग जाय कि अशन, पान आदि श्रमणों को देने के लिए पहले से रखा हुआ है तो उसे ग्रहण न करे (४७-५४)। पुष्प, बीज, हरित, उदक और अग्नि से मिश्रित भोजन को ग्रहण न करने का विधान है (५७–६१)। मंच आदि पर चढ़ कर लाया हुआ भोजन ग्रहण न करने का विधान है (६७)। बहुत हड्डी (अस्थि) वाला मांस (पुद्गल) और बहुत काँटों वाली मछली[1] (अणिमिस) ग्रहण न करे (७२–७३)। यदि भोजन

---

१. अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः; अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने—हारिभद्रीय-टीका, पृ० ३५६; मंसं वा णेइ कप्पइ साहूणं, कंचि कालं देसं पडुच्च इमं सुत्तमागतं—दशवैकालिक-चूर्णि,

करते हुए हड्डी (अस्थि), काँटा, तृण, काष्ठ, कंकर आदि मुँह में आ जायें तो उन्हें मुँह से न थूँक हाथ से लेकर एक ओर रख दे (८४–८५)। जिन-भगवान् ने मोक्षसाधन के कारणभूत शरीर के धारण के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है (९२)। मुधादाता (निःस्वार्थ बुद्धि से दान देने वाला) और मुधाजीवी (निःस्पृह भाव से भिक्षा ग्रहण करने वाला) ये दोनों दुर्लभ हैं, दोनों ही सुगति को प्राप्त करते हैं (१००)।

पिण्डैषणा--दूसरा उद्देश :

भिक्षु को चाहिए कि वह समय से भिक्षा के लिए जाये, समय से लौटे और यथासंभव अकाल का त्याग करे। यदि समय का ध्यान न रख भिक्षु असमय में गमन करता है तो वह अपने आपको कष्ट पहुँचाता है और अपने संनिवेश के लिए निन्दा का कारण होता है (४–५)। गोचरी के लिए गये हुए भिक्षु को मार्ग में कहीं बैठना नहीं चाहिए और खड़े-खड़े कथाएँ न कहनी चाहिए (८)। उसे अर्गला, चरखनी, द्वार अथवा किवाड़ आदि का अवलंबन लेकर खड़े न होना चाहिए (९)। यदि कोई श्रमण, ब्राह्मण, कृपण अथवा वनीपक[1] वहाँ

पृ० १८४. बहु अट्ठियेण मंसेण वा बहुकंटएण मच्छेण वा उवनिमंतिज्जा–एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा—नो खलु मे कप्पइ···अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पुग्गलं दलयाहि मा य अट्ठियाइं – अर्थात् पुद्गल (मांस) ही दो, अस्थि नहीं। फिर भी यदि कोई अस्थियाँ भी पात्र में डाल दे तो मांस-मत्स्य का भक्षण कर अस्थियों को एकान्त में रख दे। टीका—एवं मांससूत्रमपि नेयं। अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्फलवद्दृष्टं—आचारांग (२), १. १०. २८१, पृ० ३२३. अववादुस्सग्गियं (अपवाद-औत्सर्गिकं)—"बहुअट्ठियं पोग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं" एवं अववादतो गिण्हंतो भणाइ—"मंसं दल, मा अट्ठियं"—आवश्यक-चूर्णि, २, पृ० २०२.

1. वनीपक पाँच होते हैं—श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि और श्वान (स्थानांग, पृ० ३२३ अ)। श्रमणों के पाँच भेद हैं—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक (गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले) और आजीवक (गोशाल के शिष्य)। आवश्यकचूर्णि (२, पृ० २०) में कहा है कि आजीवक, तापस, परिव्राजक, तच्चन्निय (बौद्ध भिक्षु) और बोटिय (दिगम्बर सम्प्रदाय के भिक्षु) की वन्दना न करे।

भिक्षा के लिए उपस्थित हो तो उसे अतिक्रमण करके प्रवेश न करे; वह ऐसे स्थान पर खड़ा न हो जहाँ वे लोग उसे देख सकें; वह एक ओर जाकर खड़ा हो जाय (१०–११)। दूसरे के घर में भोजन, पान तथा शयन, आसन, वस्त्र आदि बहुत परिमाण में रखे हुए हैं लेकिन दाता उनका दान नहीं करता, फिर भी भिक्षु को कुपित न होना चाहिए (२७–२८)। स्त्री, पुरुष, तरुण अथवा कोई वृद्ध यदि वंदन करता हो तो उससे याचना न करे अथवा उसे कठोर वचन न कहे (२९)। कभी विविध प्रकार का भोजन प्राप्त कर भिक्षु सुस्वादु भोजन स्वयं खाकर बचा हुआ विरस भोजन उपाश्रय में लाता है जिससे दूसरे भिक्षु उसे रूक्षभोजी समझ कर उसकी प्रशंसा करें, लेकिन ऐसा करना उचित नहीं है (३३–३४)। यश का लोभी भिक्षु कभी सुरा, मेरक अथवा अन्य मादक रस का साक्षीपूर्वक पान न करे (३६)। जो भिक्षु चोर की भाँति अकेला बैठकर मदिरा का पान करता है वह दोषी है (३७)[1]।

महाचार-कथा :

प्रारम्भ में छः व्रतों का पालन, छः काय जीवों की रक्षा, गृहस्थ के पात्र का उपयोग न करना, पर्यङ्क पर न बैठना, गृहस्थ के आसन पर न बैठना, स्नान न करना और शरीर की शोभा का त्याग करना आदि विधान हैं (८)। सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि प्राण-वध का त्याग करते हैं (१०)। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला मिथ्या भाषण न करे (११)। सचित्त अथवा अचित्त, अल्प अथवा बहुत, यहाँ तक कि दांत खोदने का तिनका तक भी बिना मांगे न ले (१३)। मैथुन अधर्म का मूल है और महादोषों का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ साधु मैथुन के संसर्ग का त्याग करते हैं (१६)। वस्त्र-पात्र आदि रखने को परिग्रह नहीं कहते, ज्ञातपुत्र महावीर ने मूर्च्छा—आसक्ति को परिग्रह कहा है (२०)। भिक्षु रात्रि-भोजन का त्याग करे तथा छः जीवनिकायों की रक्षा करे (२५–४५)। गृहस्थ के घर बैठने से

---

१. नायाधम्मकहा (५) में शैलक ऋषि का मद्यपान द्वारा रोग शान्त होने का उल्लेख है। बृहत्कल्प-भाष्य (९५४–५६) में ग्लान अवस्था में वैद्य के उपदेश पूर्वक विकट (मद्य) ग्रहण करने का उल्लेख है। यहाँ कहा गया है कि यदि शैक्षक ने किसी के घर विकट पान कर लिया हो तो गीतार्थ लोग विकट-भाजन में इक्षुरस आदि लाकर डाल दें। यदि वह भाजन फूट जाय तो गाय के पदचिह्न बना दें जिससे मालूम हो कि उसे गाय ने फोड़ा है।

साधु के ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं रह सकती और स्त्रियों के संसर्ग से ब्रह्मचर्य में शङ्का होती है[1], इसलिए कुशील को बढ़ाने वाले इस स्थान का दूर से ही परिहार करे (५९) । यावज्जीवन शीत अथवा उष्ण जल से स्नान न करे (६२) ।

वाक्यशुद्धि :

जो भाषा सत्य है किन्तु सदोष होने के कारण अवक्तव्य है, और जो भाषा सत्य-मृषा है अथवा मृषा है, तथा जो बुद्धों द्वारा अनाचरणीय है, वैसी भाषा प्रज्ञावान् साधु न बोले (२) । उसे हमेशा निर्दोष, अकर्कश, असंदिग्ध, असत्य-मृषा वाणी बोलनी चाहिए (३) । अतीत, वर्तमान अथवा भविष्यकाल सम्बन्धी जिस बात को न जाने उसे निश्चयात्मक रूप से न बोले (८) । कठोर और अनेक प्राणियों का संहार करने वाली सत्य वाणी भी न बोले, क्योंकि इससे पाप का बन्ध होता है (११) । काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहकर न बुलाये (१२) । मनुष्य, पशु, पक्षी अथवा सर्प आदि को देखकर यह स्थूल है, चर्बी वाला है, वध करने योग्य है अथवा पकाने योग्य है—इस प्रकार की भाषा न बोले (२२) । यह गाय दुहने योग्य है, बछड़े नाथ लगाने योग्य हैं अथवा रथ में जोतने योग्य हैं—इस प्रकार की भाषा न बोले (२४) । इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन आदि मे जाकर वहाँ विशाल वृक्षों को देखकर यह न कहे कि ये वृक्ष महलों के खम्भे, तोरण, गृह, चटखनी, अर्गल और नाव आदि बनाने के योग्य हैं (२६–२७) । फल पककर तैयार हो गये हैं, पकाकर खाने योग्य हैं, बहुत पक गये हैं, अभी तक इनमें गुठली नहीं पड़ी, अथवा ये दो फाँक करने योग्य हैं, इत्यादि भाषा न बोले (३२) । यह संखडि[2] करने योग्य है, यह चोर मारने योग्य है अथवा ये नदियाँ

---

१. स्त्रियाँ किस प्रकार साधुओं को वश में करती थीं, यह जानने के लिए देखिए—सूत्रकृताङ्ग का स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन ।

२. संखंड्यन्ते त्रोट्यन्ते जीवानां वनस्पतिप्रभृतीनामायूंषि प्राचुर्येन यत्र प्रकरणविशेषे सा खलु संखडिरित्युच्यते (बृहत्कल्पभाष्य ३, ८८१) । संखडि के अनेक प्रकार बताये गये हैं:—यावन्तिका, प्रगणिता, क्षेत्राभ्यन्तर-वर्तिनी, अक्षेत्रस्थिता, बहिर्वर्तिनी, आकीर्णा, अविशुद्धपंथगमना, सप्रत्य-पाया और अनाचीर्णा । गिरनार, अर्बुद (आबू) और प्रभास आदि तीर्थों पर संखडि का उत्सव मनाया जाता था जिसमें शाक्य, परिव्राजक आदि अनेक साधु आते थे । इसमें लोग दूर-दूर से आकर सम्मिलित

पार करने योग्य हैं—इस प्रकार की भाषा न बोले (३६)। यह कार्य कितना अच्छा किया, यह तेल कितना अच्छा पकाया, अच्छा हुआ यह वन काट दिया, अच्छा हुआ उसका धन चुरा लिया, अच्छा हुआ वह मर गया, इत्यादि भाषा न बोले (४१)। भिक्षु को चाहिए कि वह गृहस्थ को 'आओ बैठो', 'यहाँ आओ', 'यह करो', 'यहाँ सो जाओ', 'यहाँ खड़े रहो', 'यहाँ से चले जाओ' आदि न कहे (४७)। ज्ञान-दर्शनयुक्त तथा संयम और तप में रत साधु को ही साधु कहना चाहिए (४९)। जो भाषा पापकर्म का अनुमोदन करनेवाली हो, दूसरों के लिए पीड़ाकारक हो, ऐसी भाषा क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वशीभूत होकर साधु को नहीं बोलनी चाहिए (५४)।

आचारप्रणिधि :

मन, वचन और काय से छः काय जीवों के प्रति अहिंसापूर्वक आचरण करना चाहिए (२–३)। संयतात्मा को चाहिए कि वह पात्र, कम्बल, शय्या, मल आदि त्यागने का स्थान (उच्चारभूमि), संथारा और आसन की एकाग्र चित्त से प्रतिलेखना करे (१७)। विष्ठा, मूत्र, कफ और नाक के मैल को निर्जीव प्रासुक स्थान में यतनापूर्वक रख दे (१८)। भिक्षु कानों से बहुत कुछ सुनता है, आँखों से बहुत कुछ देखता है, लेकिन देखा और सुना हुआ सब कुछ किसी के सामने कहना उचित नहीं (२०)। कानों को प्रिय लगने वाले शब्दों में रागभाव न करे, दारुण एवं कठोर स्पर्श को शरीर द्वारा सहन करे (२६)। क्षुधा, पिपासा, विषम भूमि में निवास, शीत, उष्ण, अरति और भय को अदीनभाव से सहन करे, क्योंकि देहदुःख को महाफल कहा गया है (२७)। सूर्य के अस्त होने के बाद सूर्योदय तक आहार आदि की मन से भी इच्छा न करे (२८)। जाने-अजाने यदि कोई अधार्मिक कार्य हो जाय तो साधु को चाहिए कि वह तत्काल अपने मन को उधर जाने से रोके और दुबारा फिर वैसा काम न करे (३१)। जब तक बुढ़ापा पीड़ा नहीं देता, व्याधियाँ कष्ट नहीं पहुँचातीं और इन्द्रियाँ क्षीण नहीं हो जातीं, तब तक धर्म का आचरण करे (३६)। क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय को नष्ट कर देता है, माया मित्रों का नाश करती है और लोभ सर्व विनाशकारी है (३८)। क्रोध को उपशम से, मान को मृदुता से,

---

होते थे तथा खूब खा-पीकर विकाल में पड़े सोते रहते थे (वही ५, ५८३८, पृ० १५४०)। मांसप्रचुर संखडि में मांस के पुंज काट-काट कर सुखाये जाते थे (आचाराङ्ग २, पृ० २९७ अ–३०४)।

माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीते (३९)। जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संकुचित कर मन, वचन और काया से सावधान होकर गुरु के समीप बैठे (४५)। उसे चाहिये कि वह बिना पूछे हुए न बोले, गुरु के बातचीत करते हुए बीच में न बोले, पीठ पीछे चुगली न करे तथा माया और मृषा का त्याग करे (४७)। नक्षत्र, स्वप्न, योग, निमित्त, मन्त्र और भैषज—ये प्राणियों के अधिकरण के स्थान हैं इसलिए गृहस्थ के सम्मुख इनका प्ररूपण न करे (५१)। जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से सदा भय रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्रियों के शरीर से भयभीत रहना चाहिए (५४)। स्त्री के चित्रों द्वारा लिखित भित्ति को अथवा अलंकृत नारी को देखकर उसका चिन्तन न करे। यदि उस ओर दृष्टि भी चली जाय तो जिस प्रकार सूर्य को देखकर लोग दृष्टि को संकुचित कर लेते हैं, वैसे ही भिक्षु भी अपनी दृष्टि को संकुचित कर ले (५५)। जिसके हाथ-पाँव और नाक-कान कटे हुए हों अथवा जो सौ वर्ष की वृद्धा हो ऐसी नारी से भी भिक्षु को दूर ही रहना चाहिए (५६)।

विनय-समाधि—पहला उद्देश :

जो गुरु को मन्दबुद्धि, बालक अथवा अल्पश्रुत समझकर उनकी अवहेलना करते हैं वे मिथ्यात्व को प्राप्त होकर गुरुजनों की आशातना करते हैं (२)। यदि आशीविष सर्प क्रुद्ध हो जाये तो प्राणों के नाश से अधिक और कुछ नहीं कर सकता, किन्तु यदि आचार्यपाद अप्रसन्न हो जायें तो अबोधि के कारण जीव को मोक्ष की प्राप्ति ही नहीं होती (५)। जो गुरुओं की आशातना करता है वह उस पुरुष के समान है जो जलती हुई अग्नि को अपने पैरों से कुचल कर बुझाना चाहता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है अथवा जो जीने की इच्छा के लिए हलाहल विष का पान करता है (६)। जिस गुरु के समीप धर्मपद आदि की शिक्षा प्राप्त की है उसकी सदा विनय करे, और सिर पर अञ्जलि धारण कर मन, वचन और काय से उसका सत्कार करे (१२)। जैसे नक्षत्र और तारागण से कार्त्तिकी पूर्णमासी का चन्द्रमा मेघरहित आकाश में शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच में आचार्य (गणी) शोभित होता है (१५)।

विनय-समाधि—दूसरा उद्देश :

धर्म का मूल विनय है और उसका सर्वोत्कृष्ट फल मोक्ष है (२)। जैसे जल के प्रवाह में पड़ा हुआ काष्ठ इधर-उधर गोते खाता है, वैसे ही क्रोधी, अभिमानी,

दुर्वचन बोलने वाला, कपटी, धूर्त और अविनीत शिष्य संसार के प्रवाह में बहता फिरता है (३)। जो आचार्य और उपाध्यायों की सेवा-शुश्रूषा करते हैं उनकी शिक्षा जल से सींचे हुए वृक्षों की भाँति बढ़ती जाती है (१२)। शिष्य को चाहिए कि वह अपनी शय्या, स्थान और आसन को गुरु से नीचे रखे, विनयपूर्वक उनकी पाद-वन्दना करे और उन्हें अंजलि प्रदान करे (१७)। अविनीत शिष्य को विपत्ति और विनीत को संपत्ति प्राप्त होती है, जिसने इन दोनों बातों को समझ लिया है वही शिक्षा को प्राप्त कर सकता है (२१)।

विनय-समाधि—तीसरा उद्देश :

धनादि की प्राप्ति की आशा से मनुष्य लोहे के तीक्ष्ण काँटों को सहने के लिए समर्थ होता है, किन्तु कानों में बाण की तरह चुभने वाले कठोर वचनों को जो सहन करता है वह पूज्य है (६)। गुणों के कारण साधु कहा जाता है और गुणों के अभाव में असाधु, इसलिए साधु के गुणों का ग्रहण और असाधु के गुणों का त्याग करो। इस प्रकार अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को समझ कर जो राग-द्वेष में समभाव धारण करता है वह पूज्य है (११)।

विनय-समाधि—चौथा उद्देश :

विनय-समाधि के चार स्थान हैं—विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचारसमाधि (३)। विनयसमाधि के चार भेद हैं (५)। इसी प्रकार श्रुतसमाधि, तपसमाधि व आचारसमाधि के भी चार-चार भेद है (७–११)।

सभिक्षु :

जिसकी ज्ञातपुत्र महावीर के वचनों में श्रद्धा है, जो छः काय के जीवों को अपने समान मानता है, पाँच महाव्रतों की आराधना करता है और पाँच आस्रवों का निरोध करता है वह भिक्षु है (५)। जो सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान, तप और संयम में दृढ़ विश्वास रखता है, तप द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों को नष्ट करता है और मन, वचन और काय को सुसंवृत रखता है वह भिक्षु है (७)। जो इन्द्रियों को काँटे के समान कष्ट पहुँचाने वाले आक्रोश, प्रहार और तर्जना, तथा भय को उत्पन्न करनेवाले भैरव आदि शब्दों में समभाव रखता है वह भिक्षु है (११)। जो हाथों से संयत हो, पैरों से संयत हो, वचन से संयत हो, इन्द्रियों से संयत हो, अध्यात्म में रत हो, जिसकी आत्मा सुसमाहित हो और जो सूत्रार्थ को जानता हो वह भिक्षु है (१५)। जो जातिमद नहीं करता,

रूपमद नहीं करता, लाभमद नहीं करता और न अपने ज्ञान का ही मद करता है, सब मदों को त्यागकर जो धर्मध्यान में लीन रहता है वह भिक्षु है (१९)[१]।

पहली चूलिका—रतिवाक्य :

जैसे लगाम से चंचल घोड़ा वश में आ जाता है, अंकुश से मदोन्मत्त हाथी वश में आ जाता है, समुद्र में गोते खाती हुई नाव ठीक मार्ग पर आ जाती है, उसी प्रकार अठारह स्थानों का विचार करने से चञ्चल मन स्थिर हो जाता है। (१–१८)। जैसे गले में काँटा फँस जाने के कारण मछली पश्चात्ताप को प्राप्त होती है उसी प्रकार यौवन बीत जाने पर जब साधु वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है तो वह पश्चात्ताप करता है (६)। मेरा यह दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा, जीव की विषय-वासना अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर में शक्ति रहते हुए नष्ट न होगी तो मृत्यु आने पर तो अवश्य ही नष्ट हो जायगी (१६)।

दूसरी चूलिका—विविक्तचर्या :

साधु को मद्य-मांस आदि का सेवन न करना चाहिए, किसी से ईर्ष्या न करनी चाहिए, सदा विकृतियों (विकारजनक घृत आदि वस्तु) का त्याग करना चाहिए, पुनः-पुनः कायोत्सर्ग करना चाहिए और स्वाध्याय-योग में सदा रत रहना चाहिए (७)। रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपनी आत्मा का अपनी आत्मा द्वारा सम्यक् प्रकार से परीक्षण करना चाहिए। उस समय विचार करना चाहिए कि मैंने क्या किया है, मुझे क्या करना बाकी है और ऐसा कौन-सा कार्य है जो मेरी सामर्थ्य के बाहर है (९)।

---

१. उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम और विषय आदि भी यही हैं।

प्रकरण ४

पिंड निर्युक्ति

आठ अधिकार

उद्गमदोष

उत्पादनदोष

एषणादोष

चतुर्थ प्रकरण

पिंडनिर्युक्ति

पिंडनिज्जुत्ति—पिंडनिर्युक्ति[1] चौथा मूलसूत्र माना जाता है[2]। कभी ओघनिर्युक्ति को भी इसके स्थान पर स्वीकार किया जाता है। पिंड का अर्थ है भोजन। इस ग्रन्थ में पिंडनिरूपण, उद्गमदोष, उत्पादनदोष, एषणादोष और ग्रासएषणादोषों का प्ररूपण किया है। इसमें ६७१ गाथाएँ हैं। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ एक दूसरे में मिल गई हैं। पिंडनिर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु हैं। दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन का नाम पिंडैषणा है। इस अध्ययन पर लिखी गई निर्युक्ति के विस्तृत हो जाने के कारण उसे पिंडनिर्युक्ति के नाम से एक अलग ही ग्रन्थ स्वीकार कर लिया गया।

आठ अधिकार :

पिंडनिर्युक्ति के ये आठ अधिकार हैं:—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अङ्गार, धूम और कारण (१)। पिंड के नौ भेद इस प्रकार हैं:—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके प्रत्येक के सचित्त, अचित्त और मिश्र भेद हैं (९–४७)। द्वीन्द्रिय जीवों में अक्ष (चन्दनक), सीपी, शंख आदि, त्रीन्द्रिय जीवों में दीमक का घर (सर्पदंश को शान्त करने के लिए) आदि, चतुरिन्द्रिय जीवों में मक्खी की विष्ठा (वमन के लिए) आदि, एवं पंचेन्द्रिय जीवों में चर्म (क्षुर—उस्तरा आदि रखने के लिए), हड्डी (हड्डी टूट जाने पर बाहु आदि में बाँधने के लिए), दन्त, नख, रोम, सींग (मार्गपरिभ्रष्ट साधु को

---

१. (अ) मलयगिरिविहित वृत्तिसहित—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१८.

(आ) क्षमारत्नकृत अवचूरि (तथा वीरगणिकृत शिष्यहिता व माणिक्यशेखरकृत दीपिका के आद्यन्त भाग) के साथ—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, सन् १९५८.

२. मुख्यतः साधुओं के पिंड (भोजन) सम्बन्धी वर्णन होने के कारण इसकी गणना छेदसूत्रों में भी की जाती है।

बुलाने के लिए सींग का बाजा बजाया जाता था), भेड़ की लेंड़ी, गोमूत्र (कोढ़ आदि दूर करने के लिए), क्षीर, दधि आदि का उपयोग साधु करते थे (४८-५०) । मिश्र पिंड में सौवीर (कांजी), गोरस, आसव (मद्य), वेसन (जीरा, नमक आदि), औषधि, तेल आदि, शाक, फल, पुद्गल (मांस—टीका), लवण, गुड़ और ओदन का उपयोग होता है (५४) ।

उद्गमदोष :

एषणा अर्थात् निर्दोष आहार की खोज (७२-८४) । उद्गमदोष सोलह प्रकार का है—आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्रजात, स्थापना, प्राभृतिका, प्रादुष्करण, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, अभ्याहृत, उद्भिन्न, मालापहृत, आच्छेद्य, अनिसृष्ट व अध्यवपूरक (९३) । आधाकर्म—दानादि के निमित्त तैयार किया हुआ भोजन (९४-२१७) । औद्देशिक-साधु के उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन (२१८-२४२) । पूतिकर्म—पवित्र वस्तु मे अपवित्र वस्तु को मिलाकर देना (२४३-२७०) । मिश्रजात—साधु और कुटुम्बीजनों के लिए एकत्र भोजन बनाना (२७१-२७६) । स्थापना—साधु को भिक्षा में देने के लिए रखी हुई वस्तु (२७७-२८३) । प्राभृतिका—बहुमानपूर्वक साधु को दी जाने वाली वस्तु (२८४-२९१) । प्रादुष्करण—मणि आदि का प्रकाश कर अथवा भित्ति आदि को हटाकर प्रकाश कर के दी जानेवाली वस्तु (२९२-३०५) । क्रीत—खरीदी हुई वस्तु को भिक्षा में देना (३०६-३१५) । प्रामित्य—उधार ली हुई वस्तु को देना (३१६-३२२) । परिवर्तित—बदल कर ली हुई वस्तु को भिक्षा में देना (३२३-३२८) । अभ्याहृत—अपने अथवा दूसरे के ग्राम से लाई हुई वस्तु (३२९-३४६) । उद्भिन्न—लेप आदि हटाकर प्राप्त की हुई वस्तु (३४७-३५६) । मालापहृत-ऊपर चढ़कर लाई हुई वस्तु (३५७-३६५) । आच्छेद्य-दूसरे से छीन कर दी हुई वस्तु (३६६-३७६) । अनिसृष्ट—जिस वस्तु के बहुत से मालिक हों और उनकी बिना अनुमति के वह ली जाय (३७७-३८७) । अध्यवपूरक—साधु के लिए अतिरिक्त रूप से भोजन आदि का प्रबन्ध करना (३८८-३९१) ।

उत्पादनदोष :

उत्पादनदोष के सोलह भेद हैं—धात्री, दूती, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वसंस्तव-पश्चात्संस्तव, विद्या, मन्त्र, चूर्ण, योग और मूलकर्म (४०८-४०९) । धात्रियाँ पाँच होती हैं—क्षीरधात्री, मज्जनधात्री, मंडनधात्री, क्रीडनधात्री व अंकधात्री । भिक्षा के समक्ष धात्री

का कार्य करके भिक्षा प्राप्त करना—यह धात्री-पिंडदोष है। संगमसूरि छोटे बालक के साथ क्रीडा करके भिक्षा लाते थे, पता लगने पर उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ा (४१०–४२७)। समाचार ले जाकर प्राप्त की हुई भिक्षा को दूती-पिंडदोष कहते हैं। धनदत्त मुनि इस प्रकार भिक्षा ग्रहण करते थे (४२८–४३४)। भविष्य आदि बताकर प्राप्त की हुई भिक्षा को निमित्त-पिंडदोष कहते हैं (४३५–६)। जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प की समानता बताकर भिक्षा ग्रहण करना आजीव-पिंडदोष है (४३७–४४२)। वनीपक पाँच होते हैं:—श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि और श्वान। श्रमण आदि का भक्त बनकर भिक्षा लेना वनीपकदोष है (४४३–४४४)। श्रमण पाँच होते हैं—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, परिव्राजक और आजीवक (४४५)। गाय आदि पशुओं को तो सब लोग घास खिलाते हैं लेकिन कुत्ते को कोई नहीं पूछता। यह मानकर कुत्ते के भक्त कुत्तों की प्रशंसा करते हैं। ये कुत्ते गुह्यक बनकर कैलाश पर्वत से इस भूमि पर अवतीर्ण हुए हैं; ये यक्ष रूप धारण कर भ्रमण करते हैं। इसलिए इनकी पूजा करना हितकारक है। जो इनकी पूजा नहीं करते उनका अमंगल होता है (४५१–२)। चिकित्सा द्वारा भिक्षा प्राप्त करने को चिकित्सा-पिंड-दोष कहते हैं (४५६–४६०)। क्रोध द्वारा भिक्षा प्राप्त करना क्रोध-पिंडदोष, मान द्वारा भिक्षा प्राप्त करना मान-पिंडदोष, माया द्वारा भिक्षा प्राप्त करना माया-पिंड दोष और लोभ द्वारा भिक्षा प्राप्त करना लोभ-पिंडदोष है। क्रोध आदि द्वारा भिक्षा ग्रहण करने वाले साधुओं के उदाहरण दिये गये हैं (४६१–४८३)। भिक्षा के पूर्व दाता की श्लाघा द्वारा भिक्षा प्राप्त करना पूर्वसंस्तव व भिक्षा के पश्चात् दाता की श्लाघा द्वारा भिक्षा प्राप्त करना पश्चात्संस्तव-पिंडदोष कहा जाता है (४८४–४९३)। विद्या के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना विद्या-पिंडदोष और मन्त्र के द्वारा भिक्षा प्राप्त करना मन्त्र-पिंडदोष है। यहाँ पर प्रतिष्ठानपुर के राजा मुरुण्ड की शिरोवेदना दूर करनेवाले पादलिप्त सूरि का उदाहरण दिया गया है (४९४–४९९)। चूर्ण-पिंडदोष में दो क्षुल्लकों का और योग-पिंड-दोष में समित सूरि का उदाहरण दिया गया है (५००–५०५)। वशीकरण द्वारा भिक्षा प्राप्त करना मूलकर्म-पिंडदोष कहलाता है। इसके लिए जंघापरिजित नामक साधु का उदाहरण दिया गया है (५०६–५१२)।

एषणादोष :

एषणादोष के दस प्रकार हैं:—शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्रित, अपरिणत, लिप्त और छर्दित (५२०)। शंकायुक्त चित्त से

भिक्षा ग्रहण करना शंकित दोष है (५२१–५३०)। सचित्त पृथिवी आदि अथवा घृत आदि से लिप्त भिक्षा ग्रहण करना म्रक्षित दोष है (५३१–५३९)। सचित्त के ऊपर रखी हुई वस्तु ग्रहण करना निक्षिप्त दोष है (५४०–५५७)। सचित्त से ढकी हुई वस्तु ग्रहण करना पिहित दोष है। (५५८–५६२)। अन्यत्र रखी हुई वस्तु को ग्रहण करना संहृत दोष है (५६३–५७१)। बाल, वृद्ध, मत्त, उन्मत्त, कांपते हुए शरीर वाला, ज्वर से पीडित, अंधा, कोढ़ी, खड़ाऊ पहने हुए, हाथों में बेड़ी पहने हुए, पाँवों मे बेड़ी पहने हुए, हाथ-पाँव रहित और नपुंसक तथा गर्भिणी, जिसकी गोद में शिशु हो, भोजन करती हुई, दही बिलोती हुई, चने आदि भूनती हुई, आटा पीसती हुई, चावल कूटती हुई, तिल आदि पीसती हुई, रूई धुनती हुई, कपास ओटती हुई, कातती हुई, पूनी बनाती हुई, छः काय के जीवों को भूमि पर रखती हुई, उन पर गमन करती हुई, उनको स्पर्श करती हुई, जिसके हाथ दही आदि से सने हों—इत्यादि दाताओं से भिक्षा ग्रहण करने को दायक दोष कहते हैं (५७२–६०४)। पुष्प आदि से मिश्रित भिक्षा ग्रहण करने को उन्मिश्रित दोष कहते हैं (६०५–६०८)। अप्रासुक भिक्षा ग्रहण करने को अपरिणत दोष कहते हैं (६०९–६१२)। दही आदि से लिप्त भिक्षा ग्रहण करना लिप्त दोष है (६१३–६२६)। छोड़े हुए आहार का ग्रहण करना छर्दित दोष है (६२७–६२८)। आगे ग्रासैषणा (६२९–६३५), संयोजना अर्थात् स्वाद के लिए प्राप्त वस्तुओं को मिलाना (६३६–६४१), आहारप्रमाण अर्थात् आहार के प्रमाण को ध्यान मे रखकर भिक्षा लेना आदि का प्ररूपण है (६४२–६५४)। आग में अच्छी तरह पके हुए आहार मे आसक्ति प्रदर्शित करना अंगार दोष है, और अच्छी तरह न पके हुए आहार की निन्दा करना धूम दोष है (६५५-६६०)। क्षुधा की शान्ति के लिए, आचार्यों के वैयावृत्य के लिए, ईर्यापथ के संशोधन के लिए, संयम के लिए, प्राण-धारण के लिए और धर्मचिन्तन के लिए भोजन करना—यह कारण से आहार ग्रहण होने से धर्माचरण है और रोगादि के कारण आहार न ले तो भी वह धर्माचरण है। यह 'कारण' विषयक द्वार है (६६१–६६७)।

प्रकरण ५

ओ घ नि र्यु क्ति

प्रतिलेखना
पिण्ड
उपाधि
अनायतन आदि

पंचम प्रकरण

ओघनिर्युक्ति

पिंडनिर्युक्ति के साथ-साथ ओघनिर्युक्ति (ओहनिज्जुत्ति)[1] को भी चौथा मूलसूत्र माना जाता है। इसमें साधुसम्बन्धी नियम और आचार-विचार का प्रतिपादन किया है; बीच-बीच में अनेक कथाएँ दी हुई हैं। इसलिए पिंड-निर्युक्ति की भाँति इसे भी छेदसूत्रों में गिना गया है। ओघनिर्युक्ति के कर्ता भद्रबाहु हैं। इस पर द्रोणाचार्य ने वृत्ति लिखी है। इसमें ८११ गाथाएँ हैं। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ मिल-जुल गई हैं। इस ग्रन्थ में प्रतिलेखन द्वार, पिंड द्वार, उपाधिनिरूपण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवना द्वार, आलोचना द्वार और विशुद्धि द्वार का प्ररूपण किया गया है। जैन श्रमण-संघ के इतिहास का संकलन करने की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

प्रतिलेखना :

प्रतिलेखना अर्थात् स्थान आदि का भली प्रकार निरीक्षण करना। इसके दस द्वार हैं:—अशिव, दुर्भिक्ष, राजभय, क्षोभ, अनशन, मार्गभ्रष्ट, मन्द, अतिशययुक्त, देवता और आचार्य (३–७)। देवादिजनित उपद्रव को अशिव कहते हैं। अशिव के समय साधु लोग देशान्तर में गमन कर जाते हैं। वे किनारीदार वस्त्र आदि का त्याग करते हैं और अशिवोपद्रव से पीड़ित कुलों में आहार ग्रहण नहीं करते (भाष्य १५–२२)। दुर्भिक्ष का उपद्रव होने पर गणभेद करके रोगी साधु को अपने साथ रखने का विधान है (भाष्य २३)। राजा अमुक कारणों से कुपित[2] होकर यदि साधु का भोजन-पान अथवा उपकरण

---

१. द्रोणाचार्यविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९१९; विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत, सन् १९५७.

२. जैसे यदि कोई पंडितमन्य दुरात्मा राजा निर्ग्रन्थ दर्शन का निन्दक हो और साधु राजपंडित को वाद में परास्त कर अपनी विद्या के बल से राजा के सिर पर अपना पैर मारकर अदृश्य हो जाय तो यह राजा के कोप का कारण हो सकता है। देखिए—बृहत्कल्पभाष्य, ३,८८०.

अपहरण करने के लिए तैयार हो जाय तो ऐसी हालत में साधु गच्छ के साथ ही रहे, लेकिन यदि वह उसका जीवन और चारित्र नष्ट करना चाहे तो फिर एकाकी विहार करे (भाष्य २३–२५)। किसी नगर आदि में क्षोभ अथवा आकस्मिक कष्ट उपस्थित होने पर एकाकी विहार करे (भाष्य २६–२७)। अनशन के लिए संघाड़े (संघाटक) के अभाव में एकाकी गमन करे (भाष्य २८)। कभी पथभ्रष्ट होने पर साधु को अकेले ही गमन करना पड़ता है (भाष्य २९)। ग्लान अर्थात् रोगपीड़ित होने पर संघाड़े के अभाव में औषधि आदि लाने के लिए अकेला गमन करे। (भाष्य २९)। किसी और साधु के न होने पर नवदीक्षित साधु को अपने स्वजनों के साथ अकेला ही भेज देना चाहिए (भाष्य ३०)। देवता का उपद्रव होने पर एकाकी विहार का विधान है (भाष्य ३०)। आचार्य की आज्ञा से एकान्त विहार किया जा सकता है (भाष्य ३१–३२)।

आगे विहार की विधि (निर्युक्ति ८–१५), मार्ग का पूछना (१८–२१), मार्ग में पृथ्वीकाय (२२–२५), शीत-उष्ण काल में गमन करते समय रजोहरण से, और वर्षा काल में काष्ठ की पादलेखनिका से भूमि का प्रमार्जन (२६–२७), मार्ग में अप्काय—नदी पार करने की विधि (२८–३८) आदि का प्रतिपादन है। वन में आग लगने पर चर्म, कंबल अथवा जूते आदि धारण कर गमन करे (३९)। महावायु के चलने पर कंबल आदि से शरीर को ढककर गमन करे (४०)। आगे वनस्पति द्वार (४१) एवं त्रस द्वार का वर्णन है (४२)।

संयम पालन करने के लिए आत्मरक्षा आवश्यक है। सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिए, लेकिन संयम पालन की अपेक्षा अपनी रक्षा अधिक आवश्यक है, क्योंकि जीवित रहने पर, भ्रष्ट होने पर भी, तप आदि द्वारा विशुद्धि की जा सकती है। आखिर परिणामों की शुद्धता ही मोक्ष का कारण है।[1] संयमके हेतु ही देह धारण की जाती है, देह के अभाव में संयम कहाँ से हो सकता है ? इसलिए संयम की वृद्धि के लिए देह का पालन उचित है[2] (४६–४७)। ईर्यापथ आदि

---

१. सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई॥ ४६ ॥

२. संयमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे ?
संयमफाइनिमित्तं देहपरिपालणा इट्ठा॥ ४७ ॥

इस विषय को लेकर जैन आचार्यों में काफी विवाद रहा है। निशीथचूर्णि जैसे महत्वपूर्ण छेदसूत्र में यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि जहाँ तक हो सके, विराधना नहीं ही करनी चाहिए, लेकिन यदि काम न

व्यापार अयत्नशील साधु के लिए कर्म-बन्धन में और यत्नशील साधु के लिए निर्वाण में कारण होते हैं (५४)।

ग्राम में प्रवेश, रुग्ण साधु का वैयावृत्य, वैद्य के पास गमन आदि के विषय में बताया गया है कि तीन, पाँच या सात साधु मिलकर जायं, स्वच्छ वस्त्र धारण करके जायँ, शकुन देखकर जायं। वैद्य यदि किसी के फोड़े में नश्तर लगा

चलता हो तो ऐसी हालत में विराधान भी की जा सकती है (जइ सक्कइ तो अविराहिंतेहिं, विराहिंतेहिं वि ण दोसो, पीठिका, पृ० १००)। यहाँ एक साधु द्वारा कोंकण की भयानक अटवी में संघ की रक्षार्थ तीन शेरों के मारने का उल्लेख है। इसी प्रकार उड्डाह की रक्षा के लिए, संयम के निर्वाह के लिए, बोधिक नामक चोरों से संघ की रक्षा के लिए, प्रत्यनीक क्षेत्रों में, नवदीक्षित साधु के निमित्त तथा लोकनिमित्त मृषा भाषण करने का विधान है (वही, पृ० ११२)। अशिव, दुर्भिक्ष, राजद्वेष, चोरादि का भय और साधु की ग्लानि आदि अवस्थाओं में अदत्तादान का विधान किया गया है (वही, पृ० ११९)। ये सब अपवाद अवस्था के ही विधान हैं। अब प्रश्न होता है कि ब्रह्मचर्य व्रत में अपवाद हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न का वाद-विवाद के पश्चात् निर्णय हुआ—

जइ सव्वसो अभावो रागादीणं हवेज्ज णिद्दोसो।
जतणाजुतेसु तेसु अप्पतरे होइ पच्छित्तं॥

अर्थात् यदि राग आदि का सर्वथा अभाव हो तो इसमें दोष नहीं। यदि यतनापूर्वक व्रत भंग हो तो अल्पतर प्रायश्चित्त से शुद्धि हो सकती है (वही, पृ० १२७)।

असाधारण संकट का समय उपस्थित हो जाने पर संभवतः कुछ की मान्यता थी कि जैसे वणिक् अल्प लाभवाली वस्तु को छोड़कर अधिक लाभवाली वस्तु को खरीदता है, उसी प्रकार अल्प संयम का त्यागकर बहुतर संयम का ग्रहण किया जा सकता है (अप्पं संजमं चएउं बहुतरो संजमो गहेयव्वो, जहा वणियो अप्पं दविणं चइउं बहुतरं लाभं गेण्हति, एवं तुमं पि करेहि—पृ० १५३), क्योंकि यदि जीवन होगा तो प्रायश्चित्त से शुद्धि करके अधिक संयम का पालन किया जा सकेगा (तुमं जीवंतो एयं पच्छित्तेण विसोहेहिसि अण्णं च संजमं काहिसि)। लेकिन यह न भूलना चाहिए कि ये सब विधान अपवाद-मार्ग के ही हैं। महाभारत (१२. १४१. ६७) में भी कहा है—जीवन् धर्मं चरिष्यामि।

रहा हो तो उस समय उससे न बोलें, शुचि स्थान में बैठा हो तो रोगी का हाल सुनायें, उपचारविधि को ध्यानपूर्वक सुनें। वैद्य के रहने पर रोगी को वैद्य के समीप ले जायँ। वैद्य के रोगी के पास आने पर गंधोदक आदि से छिड़काव करें (७०)। ग्लान की परिचर्या करें (७१-८३)[1]।

भिक्षा के लिए जाते हुए व्याघात (८४-८९), भिक्षाके दोष (९१), साधु की परीक्षा (९८-१०२), स्थानविधि (१०३-११०), गण की अनुमति लेकर वसति देखने के लिए जाना (१३१-१३८) आदि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि बाल-वृद्ध साधु को इस कार्य के लिए नहीं भेजना चाहिए। वसति को पसंद करते समय उच्चार-प्रस्रवण भूमि, उदकस्थान, विश्रामस्थान, भिक्षा-स्थान, अन्तर्वसति, चोर, जंगली जानवर और आसपास के मार्गों को भलीभाँति देखना चाहिए (भाष्य ६९-७२)। कौनसी दिशा में वसति होने से कलह होता है, कौनसी दिशा मे होने से उदररोग होता है और कौनसी दिशा में होने से पूजा-सत्कार होता है—इसका वर्णन किया गया है (भाष्य, ७६-७७)। संथारे के लिए तृण का और अपान-प्रदेश पोंछने के लिए मिट्टी आदि के ढेलों (डगलक) का उपयोग[2] (भाष्य ७८), वसति के मालिक (शय्यातर) से वसति में ठहरने

साथ ही ऐसा भी मालूम होता है कि कुछ अपने आचार-विचार में अत्यन्त दृढ़ थे। उनका कहना था—

वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतम्।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणो न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम्॥

अर्थात् अग्नि में जलकर मर जाना अच्छा, लेकिन चिरसंचित व्रत का भग्न करना ठीक नहीं। सुविशुद्ध कर्मों का आचरण करते हुए मृत्यु का आलिंगन करना उचित है, लेकिन अपने शीलव्रत से स्खलित होना उचित नहीं (बृहत्कल्पभाष्य, ४, ४९४९)। इस संबन्ध में भगवती-आराधना (गाथा ६१२-३, ६२५ आदि) भी देखनी चाहिए।

१. इसका विस्तृत वर्णन बृहत्कल्पभाष्य (३, ८१४) में किया गया है। कभी-कभी हंस आदि के खिलौने बनाकर साधुओं को वैद्यराज की फीस का प्रबन्ध करना पड़ता था। वैद्य के घर किस अवस्था में जाब, इसके लिए देखिए—सुश्रुतसंहिता, अध्याय २९, पृ० १७३.

२. विशेष के लिए देखिए—बृहत्कल्पभाष्य, गा. ४२६३, पृ० ११५६; गा. ४४१-४५७, पृ० १२८-१३३.

के समय आदि का विचार (निर्युक्ति १५३-१५४), शय्यातर से पूछ कर क्षेत्रान्तर में गमन (१६६-८) आदि का निरूपण किया गया है।

एक स्थान से दूसरे स्थान में विहार करते समय साधु शय्यातर से कहते हैं—ईख बाड़ को लाँघ गया है, तुम्बी में फल लग गये हैं, बैलों में बल आ गया है, गांवों का कीचड़ सूख गया है, रास्तों का जल कम हो गया है, मिट्टी पक गई है, मार्ग पथिकों से क्षुण्ण हो गये हैं—साधुओं के विहार करने का समय आ गया है।[1]

शय्यातर—आप इतनी जल्दी जाने के लिए क्यों उत्सुक हैं ?

आचार्य—श्रमण, पक्षी, भ्रमर, गाय और शरत्कालीन मेघों का निवास-स्थान निश्चित नहीं रहता।[2]

संध्या के समय आचार्य अपने गमन की सूचना देते हैं कि हमलोग कल विहार करने वाले हैं। गमन करने के पूर्व वे शय्यातर के परिवार को धर्मोपदेश देते हैं (१७०-५)।

साधु शकुन देखकर गमन करते हैं। यदि गमन करते समय मार्ग में कोई मैला, कुचैला, शरीर में तैल लगाये हुए, कुत्ता, कुबड़ा और बौना मिल जाय तो अशुभ समझना चाहिए। इसी प्रकार जल्दी ही प्रसव करनेवाली नारी, वृद्ध कुमारी (जो वृद्धावस्था में भी अविवाहित हो), काष्ठभार धारण करने वाला, काषाय वस्त्र पहने हुए और कूर्चधर (कूंची या पींछी धारण करने वाले) मिल जायँ तो कार्य की सिद्धि नहीं होती। यदि मार्ग में चक्रचर मिल जाय तो भ्रमण, पांडुरंग (गोशाल के शिष्य) मिल जाय तो क्षुधामरण, तच्चन्निक (बौद्ध भिक्षु) मिल जाय तो रुधिरपात और बोटिक (दिगम्बर सम्प्रदाय का साधु) मिल जाय तो मरण निश्चित है[3]। यदि गमन करते समय जंबूक, चास, मयूर, भारद्वाज और नकुल के दर्शन हों तो शुभ है। इसी प्रकार नंदीतूर, पूर्ण कलश, शंख, पटह का शब्द, भृंगार, छत्र, चामर, ध्वजा और पताका का दर्शन शुभ समझना चाहिए (भाष्य ८२-८५)।

---

१. उच्छू वोलिंति वइं, तुंबीओ जायपुत्तभंडा य।
वसभा जायत्थामा गामा पव्वायचिक्खल्ला॥
अप्पोदगा य मग्गा वसुहा वि पक्कमहिआ जाया।
अण्णक्कंता पंथा साहूणं विहरिउं कालो॥ १७०-१॥

२. समणाणं सउणाणं भमरकुलाणं च गोउलाणं च।
अनियाओ वसहीओ सारइयाणं च मेहाणं॥१७२॥

३. यह गाथा प्रक्षिप्त है।

कौन किस उपकरण को लेकर गमन करे—इसका वर्णन किया गया है (भाष्य ८८–८९)। आचार्य को सब बातो का संकेत कर देना चाहिए कि हम लोग अमुक समय मे गमन करेंगे, अमुक जगह ठहरेंगे, अमुक जगह भिक्षा ग्रहण करेंगे, आदि (भाष्य ९१)। इसी प्रकार रात्रिगमन (भाष्य ९२) एवं एकाकीगमन का निषेध किया गया है (भाष्य ९३)। गच्छ के गमन की विधि (निर्युक्ति १७७), मार्ग जाननेवाले साधु को साथ रखने (१७८) एवं वसति मे पहुँच कर उसका प्रमार्जन करने का विधान किया गया है। यदि भिक्षा का समय हो तो एक साधु प्रमार्जन करे, बाकी भिक्षा के लिए जायें (१८२)। अन्यत्र भोजन करके वसति में प्रवेश (१८६–१८९), विकाल में वसति में प्रवेश करने से लगने वाले दोष (१९२), विकाल मे वसति में प्रवेश करते समय जंगली जानवर, चोर, रक्षपाल, बैल, कुत्ते, वेश्या आदि का डर (१९३–१९४), उच्चार, प्रस्रवण और वमन के रोकने से होने वाली हानि (१९७) आदि का उल्लेख किया गया है।[1] अन्य कोई उपाय न हो तो विकाल मे भी प्रवेश किया जा सकता है (१९८–२००)। ऐसे समय यदि रक्षपाल डरायें तो कहना चाहिए कि हम चोर नहीं हैं (२०१)।

वसति में प्रवेश करने के बाद संथारा लगाने की विधि बताई गई है (२०२–२०६)। चोर का भय होने पर दो साधुओं में से एक साधु द्वार पर खड़ा रहे और दूसरा मल-मूत्र (कायिकी) का त्याग करे; श्वापद का भय हो तो तीन साधु गमन करें (२०७)। ग्राम में भिक्षा की विधि बताते हुए (२१०) साधर्मिक कृत्यों पर प्रकाश डाला है (२१२–२१६)। यदि वसति बहुत बड़ी हो तो उसमें अनेक दोषों की सम्भावना रहती है, यथा—वहाँ रात में कोतवाल, छोटे-मोटे व्यापारी, कार्पटिक, सरजस्क साधु, वंठ (गुंडे लोग), भय दिखाकर आजीविका चलाने वाले (भीतिजीविणो य) आदि सो जाते हैं, इससे साधुओं को कष्ट होता है (२१८)। आगे छोटी वसति के दोष (२२५), प्रमाणयुक्त वसति में रहने का विधान (२२६), वसति में शयनविधि (२२९–२३०), आचार्य से पूछकर भिक्षा के लिए गमन (२४०), यदि कोई साधु बिना पूछे ही चला गया हो और समय पर न लौटा हो तो उसकी चारों दिशाओं में खोज करने का विधान (२४६), यदि भिक्षा के लिए गये हुए साधु को चोर आदि उठा ले जायँ तो क्या करना चाहिए (२४७–२४८), प्रतिलेखनाविधि

---

१. मुत्तनिरोहे चक्खू वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ।
उड्ढनिरोहे कोट्ठं गेलन्नं वा भवे तिसु वि॥ १९७॥

(२५६–७९), पौरुषी-प्ररूपणा (२८१–६), पात्र का भलीभांति निरीक्षण करना (२८७–२९५), स्थण्डिल का निरीक्षण (२९६–३२१), मल त्याग करने के पश्चात् अपानशुद्धि के लिए ढेले आदि का उपयोग (३१२), मल-मूत्रत्याग की विधि (३१३-३१४), मल-मूत्र का त्याग करते समय उत्तर और पूर्व दिशा की ओर पीठ न करे, पवन, ग्राम और सूर्य की ओर भी पीठ न करे (३१६), अवष्टम्भ द्वार (३२२-३२४), मार्ग को अच्छी तरह देखकर चलने का विधान (३२५–६) आदि पर प्रकाश डाला गया है।

पिण्ड :

एषणा के तीन प्रकार हैं:—गवेषण-एषणा, ग्रहण-एषणा और ग्रास-एषणा। साधु इन तीन एषणाओं से विशुद्ध पिंड ग्रहण करते हैं (३३०)। द्रव्यपिंड तीन प्रकार का है:—सचित्त, मिश्र और अचित्त। अचित्त के दस भेद तथा सचित्त और मिश्र के नौ भेद हैं (३३५)। आगे चीर-प्रक्षालन के दोष (३४८), चीर-प्रक्षालन न करने के दोष (३४९), रोगियों के वस्त्र बार-बार धोने का विधान, अन्यथा लोक में जुगुप्सा की आशंका (३५१), वस्त्रों को कौन से जल से धोये और पहले किसके वस्त्र धोये (३५५–३५६), अग्निकायपिण्ड (३५८), वायुकायपिण्ड (३६०), वनस्पतिकायपिण्ड (३६३), द्वीन्द्रियादिकपिण्ड की चर्चा (३६५), चर्म, अस्थि, दन्त, नख, रोम, सींग, भेड़ की लेंड़ी, गोमूत्र, दूध, दही, शिरःकपाल आदि का उपयोग (३६८–९), पात्रलेपपिण्ड (३७१–२), पात्र पर लेप करने में दोष (भाष्य १९६), पात्र पर लेप न करने में दोष (३७३–४), पात्र-लेपन की विधि (३७६–४०१), लेप के प्रकार (४०२), प्रमाण, काल और आवश्यक आदि के भेद से गवेषण-एषणा का प्ररूपण (४११; भाष्य २१६–२१९), महाव्रतों में दोष (भाष्य २२१) आदि बताये गये हैं। कोई विधवा, प्रोषितभर्तृका अथवा रोककर रखी हुई स्त्री यदि साधु को अकेला पाकर घर का द्वार लगा दे और ऐसी हालत में साधु यदि स्त्री की इच्छा करता है तो संयम से भ्रष्ट हो जाता है, यदि नहीं करता है तो स्त्री के द्वारा झूठे ही उसकी बदनामी करने से लोक में हास्यास्पद होने की आशंका रहती है (भाष्य २२२)। यदि कोई स्त्री जबर्दस्ती पकड़ ले तो उसे धर्मोपदेश दे। यदि वह फिर भी न छोड़े तो कहे कि मैं गुरु के समीप जाकर अभी आता हूँ, और वहाँ से चला जाय। फिर भी सफलता न मिले तो कहे कि अच्छा चलो, इस कमरे में व्रतभङ्ग करेंगे। यह कह कर वह आत्मघात करने के लिए, लटकती

हुई रस्सी को पकड़ ले। इससे भी सफलता न मिले तो फिर लटक कर सचमुच ही प्राणों का त्याग कर दे[1] (४२२)। आगे परग्राम में भिक्षाटन की विधि बताई है (४३०–४४०)।

ग्रहण-एषणा में आत्म-विराधना, संयम-विराधना और प्रवचन विराधना नामक दोषों का उल्लेख है (४२३–६६)। आठ वर्ष से कम उम्र का बालक, वृद्ध, नपुंसक, सुरा से उन्मत्त, क्षिप्तचित्त, शत्रु-पराजय आदि के कारण गर्विष्ठ, यक्षाभिभूत, हाथ-कटा, पैर-कटा, अन्धा, बेड़ी पड़ा हुआ, कोढ़ी, तथा गर्भिणी, बालवत्स वाली, छड़ती, पिछोड़ती, पीसती, कूटती और कातती हुई स्त्री से भिक्षा ग्रहण न करने का विधान किया गया है (४६७–६८; भाष्य २४१–२४७; निर्युक्ति ४६९–४७४)। नीचे द्वार वाले घर में भिक्षा न ग्रहण करने का विधान है (४७६; भाष्य २५१–२५६)। पात्र में डाले हुए भिक्षा-पिण्ड को अच्छी तरह देख लेना चाहिए। सम्भव है किसी ने विष, अस्थि अथवा कंटक आदि भिक्षा में दे दिये हों (४८०)। भारी वस्तु से ढके हुए आहार को ग्रहण न करने का विधान है (४८२)। आगे भिक्षा ग्रहण कर वसति में प्रवेश करने की विधि (५०२–५०९), आलोचना-विधि (५१३–५२०), गुरु को भिक्षा दिखाना (५२४–५), वैयावृत्य (५३२–५३६) आदि पर प्रकाश डाला गया है।

ग्रास-एषणा का प्रतिपादन करते हुए (५३९) संयम का भार वहन करने के लिए ही साधुओं के लिए आहार का विधान किया गया है (५४६)। प्रकाशयुक्त स्थान में, बड़े मुँहवाले बर्तन में, कुक्कुटी के अण्डों के बराबर ग्रास बना कर, गुरु के समीप बैठकर आहार ग्रहण करे (५५०)। प्रकाश में भोजन करने से गले में अस्थि अथवा कंटक आदि अटक जाने का डर नहीं रहता (भाष्य २७७)। आगे जब साधु भिक्षाटन के लिए गये हों तो वसति के रक्षपाल साधु को क्या करना चाहिए (५५४), आहार करते समय थूकने आदि के लिए तथा अस्थि, कंटक आदि फेंकने के लिए बर्तन रखने का विधान (५६५), भोजन का क्रम (भाष्य २८३–८), भोजन-शुद्धि (५७६–५७८), वेदना के शमन के लिए, वैयावृत्य के लिए तथा संयम आदि के निमित्त आहार का ग्रहण (५७९–८०), आतंक, उपसर्ग तथा तप आदि के लिए आहार का अग्रहण

---

१. विशेष के लिए देखिए—व्यवहार-भाष्य, भाग ४, गाथा २६७–८, पृ० ५७ आदि; भाग ५, गाथा ७३–७४, पृ० १७; भाग ६, गाथा ३१, पृ० ४; आवश्यक-चूर्णि, पृ० ५३६.

(५८१–५८२), परिष्ठापनिका—बची हुई भिक्षा के परित्याग की विधि (५९२–५९७), स्थंडिल (शुद्ध भूमि) में मल आदि का त्याग (६१७–६२३), आवश्यक-विधि (६३५–३७) एवं आवश्यक के लिए कालविधि का प्ररूपण किया गया है (६३८–६६५) ।

उपधि :

जिनकल्पियों के बारह उपकरण ये हैं—पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्र-केसरिका (पात्रमुखवस्त्रिका), पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्रच्छादक (वस्त्र), रजोहरण और मुखवस्त्रिका[1] । इनमें मात्रक और चोलपट्ट मिला देने से स्थविर-कल्पियों के चौदह उपकरण हो जाते हैं (६६८–६७०) । आर्यिकाओं के पच्चीस उपकरण इस प्रकार हैं—उक्त बारह उपकरणों में मात्रक, कमढग तथा उग्गहणंतग (गुह्य अङ्ग की रक्षा के लिए; यह नाव के आकार का होता है), पट्टक (उग्गहणंतग को दोनों ओर से ढकने वाला; यह वस्त्र जांघिये के समान होता है), अद्धोरुग (यह उग्गहणंतग और पट्टक के ऊपर पहना जाता है), चलनिका (यह घुटनों तक आता है; यह बिना सिला हुआ रहता है । बाँस पर खेल करने वाले लोग इसे पहनते थे), अब्भिंतर नियंसिणी (यह आधी जाँघों तक लटका रहता है; इससे वस्त्र बदलते समय लोग साध्वियों को देखकर उनकी हँसी नहीं करते), बहिनियंसिणी (यह घुटनों तक लटका रहता है और इसे डोरी से कटि में बांधा जाता है) । निम्न वस्त्र शरीर के ऊपरी भाग में पहने जाते थे—कंचुक (वक्षस्थल को ढकने वाला वस्त्र), उक्कच्छिय (यह कंचुक के समान होता है), वेकच्छिय (इससे कंचुक और उक्कच्छिय दोनों ढक जाते हैं), संघाडी (ये चार होती थीं—एक प्रतिश्रय में, दूसरी और तीसरी भिक्षा आदि के लिए बाहर जाते समय और चौथी समवसरण मे पहनी जाती थी), खन्ध-करणी (चार हाथ लम्बा वस्त्र जो वायु आदि से रक्षा करने के लिए पहना जाता था; रूपवती साध्वियों को कुब्जा जैसी दिखाने के लिए भी इसका उपयोग करते थे—निर्युक्ति ६७४–७७; भाष्य ३१३–३२०) ।

पात्र के लक्षण बताते हुए (६८५–६९०) पात्र आदि ग्रहण करने की आवश्यकता (६९१–७२५) एवं दण्ड, यष्टि, चर्म, चर्मकोश, चर्मच्छेद, योगपट्टक,

---

१. बौद्ध भिक्षुओं के निम्नोक्त आठ परिष्कार हैं :—
तीन चीवर, एक पात्र, छुरी (वासि), सूची, काय-बन्धन, पानी छानने का कपड़ा (कुंभकार आतक) ।

चिलिमिली और उपानह आदि[1] का प्रयोजन बताया गया है (७२८-७४०)। उपधि के धारण करने में अपरिग्रहत्व (७४१-७४७), प्रमत्त भाव से हिंसा और अप्रमत्त भाव से अहिंसा का उल्लेख किया गया है (७५०-७५३)।

अनायतन आदि :

आगे अनायतन-वर्जन द्वार (७६२-७८४), प्रतिसेवना द्वार (७८५-७८८), आलोचना द्वार (७८९-७९१) एवं विशुद्धि द्वार (७९२-८०४) का प्ररूपण है।

---

१. बृहत्कल्प-भाष्य (३, ८१७-८१९) में निम्नलिखित उपकरणों का उल्लेख है—तलिका (जूते), पुटक (बिवाई पड़ने पर उपयोग में आते हैं), वर्ध्र (जूते सीने के लिए चमड़े का टुकड़ा), कोशक (नखभंग की रक्षा के लिए अंगुस्ताना), कृत्ति (चर्म), सिक्कक (छींके के समान उपकरण जिसमें कुछ लटका कर रखा जा सके), कापोतिका (जिसमें बाल साधु आदि को बैठा कर ले जाया जा सके), पिप्पलक (छुरी), सूची (सूई), आरा, नखहरणिका (नहरनी), औषध, नन्दीभाजन, धर्मकरक (पानी आदि छानने के लिए छन्ना), गुटिका आदि।

छे द सू त्र

प्रकरण १

दशाश्रुतस्कंध

छेदसूत्रों का महत्त्व

दशाश्रुतस्कन्ध अथवा आचारदशा

असमाधि-स्थान

शबल-दोष

आशातनाएँ

गणि-सम्पदा

चित्तसमाधि-स्थान

उपासक-प्रतिमाएँ

भिक्षु-प्रतिमाएँ

पर्युषणा-कल्प (कल्पसूत्र)

मोहनीय-स्थान

आयति-स्थान

प्रथम प्रकरण

दशाश्रुतस्कन्ध

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ और पंचकल्प (अनुपलब्ध) अथवा जीतकल्प छेदसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः छेद नामक प्रायश्चित्त को दृष्टि में रखते हुए इन सूत्रों को छेदसूत्र कहा जाता है। वर्तमान में उपलब्ध उपर्युक्त छः छेदसूत्रों में छेद के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों एवं विषयों का वर्णन दृष्टिगोचर होता है जिसे ध्यान में रखते हुए यह कहना कठिन है कि छेदसूत्र शब्द का संबंध छेद नामक प्रायश्चित्त से है अथवा और किसी से। इन सूत्रों का रचना-क्रम भी वही प्रतीत होता है जिस क्रम से ऊपर इनका नाम-निर्देश किया गया है। दशाश्रुतस्कन्ध, महानिशीथ और जीतकल्प को छोड़कर शेष तीन सूत्रों के विषय-वर्णन में कोई सुनिश्चित योजना दृष्टिगोचर नहीं होती। हाँ, कोई-कोई उद्देश—अध्ययन इस वक्तव्य का अपवाद अवश्य है। सामान्यतः श्रमण-जीवन से सम्बन्धित किसी भी विषय का किसी भी उद्देश में समावेश कर दिया गया है। निशीथ सूत्र में विभिन्न प्रायश्चित्तों की दृष्टि से उद्देशों का विभाजन अवश्य किया गया है किन्तु तत्सम्बन्धी दोषों के विभाजन में कोई निश्चित योजना नहीं दिखाई देती।

छेदसूत्रों का महत्त्व :

छेदसूत्रों में जैन साधुओं के आचार से संबंधित प्रत्येक विषय का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इस विवेचन को हम चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त। उत्सर्ग का अर्थ है किसी विषय का सामान्य विधान। अपवाद का अर्थ है परिस्थितिविशेष की दृष्टि से विशेष विधान अथवा छूट। दोष का अर्थ है उत्सर्ग अथवा अपवाद का भंग। प्रायश्चित्त का अर्थ है व्रतभंग के लिए समुचित दण्ड। किसी भी विधान अथवा व्यवस्था के लिए ये चार बातें आवश्यक होती हैं। सर्वप्रथम किसी सामान्य नियम का निर्माण किया जाता है। तदनन्तर उपयोगिता, देश, काल, शक्ति आदि को दृष्टि में रखते हुए थोड़ी-बहुत छूट दी जाती है। इस प्रकार की छूट न देने पर नियम-पालन प्रायः असंभव हो जाता है। परिस्थितिविशेष के लिए अपवाद-व्यवस्था

अनिवार्य है। केवल नियमनिर्माण अथवा अपवादव्यवस्था से ही कोई विधान पूर्ण नहीं हो जाता। उसके समुचित पालन के लिए तद्विषयक दोषों की संभावना का विचार भी आवश्यक है। जब दोषों का विचार किया जायगा तब उनके लिए दंड-व्यवस्था भी अनिवार्य हो ही जाएगी क्योंकि केवल दोष-विचार से किसी लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती जब तक कि प्रायश्चित्त द्वारा दोषों की शुद्धि न की जाए। प्रायश्चित्त से अर्थात् दंड से दोषशुद्धि होने के साथ ही साथ नये दोषों में भी कमी होती जाती है। पालिग्रन्थ विनय-पिटक में बौद्ध भिक्षुओं के आचार-विचार का इसी प्रकार विवेचन किया गया है। छेदसूत्रों के नियमों की विनय-पिटक के नियमों से बड़ी रोचक तुलना की जासकती है।

छेदसूत्रों का जैनागमों में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन संस्कृति का सार श्रमण-धर्म है। श्रमण-धर्म की सिद्धि के लिए आचार-धर्म की साधना अनिवार्य है। आचार-धर्म के गूढ रहस्य एवं सूक्ष्मतम क्रियाकलाप को विशुद्ध रूप में समझने के लिए छेदसूत्रों का ज्ञान अनिवार्य है। छेदसूत्रों के ज्ञान के बिना जैनाभिमत निर्दोष आचार का परिपालन असम्भव है। जैन निर्ग्रन्थ-श्रमण-साधु-भिक्षु-यति-मुनि के आचरण से सम्बन्धित प्रत्येक प्रकार की क्रिया का सूक्ष्म दृष्टि से स्पष्ट विवेचन करना छेदसूत्रों की विशेषता है। संक्षेप में छेदसूत्र जैन आचार की कुंजी है, जैन संस्कृति की अद्वितीय निधि है, जैन साहित्य की गरिमा है। हम इस अद्भुत सांस्कृतिक सम्पत्ति के लिए सूत्रकारों के अत्यन्त ऋणी हैं। आगे दिये जाने वाले छेदसूत्रों के विस्तृत परिचय से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि जैन आगम-ग्रन्थों में छेदसूत्रों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दशाश्रुतस्कन्ध अथवा आचारदशा :

दशाश्रुतस्कन्ध[1] सूत्र का दूसरा नाम आचारदशा भी है। स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में इसका आचारदशा के नाम से उल्लेख करते हुए एतत्प्रतिपादित दस अध्ययनों—उद्देशों का नामोल्लेख किया गया है : "आचारदसाणं दस

---

१. (अ) अमोलकऋषिकृत हिन्दी अनुवादसहित—सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद, वी० सं० २४४५.

(आ) उपाध्याय आत्मारामकृत हिन्दी टीकासहित—जैन शास्त्रमाला कार्यालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, सन् १९३६.

(इ) मूल-निर्युक्ति-चूर्णि—मणिविजयजी गणि ग्रन्थमाला, भावनगर, वि० सं० २०११.

अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा—वीसं असमाहिठाणा, एगवीसं सबला, तेत्तीसं आसायणातो, अट्ठविहा गणिसंपया, दस चित्तसमाहिठाणा, एगारस उवासगपडिमातो, बारस भिक्खुपडिमातो, पज्जोसवणकप्पो, तीसं मोह-

---

(ई) मुनि घासीलालकृत संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९६०.

केवल आठवाँ उद्देश (कल्पसूत्र)

(अ) भूमिकासहित—H. Jacobi, Leipzig, 1879.

(आ) अंग्रेजी अनुवाद—H. Jacobi, S. B. E. Series, Vol. 22, Clarendon Press, Oxford, 1884.

(इ) सचित्र—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९३३.

(ई) सचित्र—जैन प्राचीन साहित्योद्धार, अहमदाबाद, सन् १९४१.

(उ) मुनि प्यारचन्द्रकृत हिन्दी अनुवादसहित—जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम, वि० सं० २००५.

(ऊ) मूल—मफतलाल झवेरचन्द्र, वि० सं० १९९९.

(ए) माणिकमुनिकृत हिन्दी अनुवादसहित—सोभागमल हरकावत, अजमेर, वि० सं० १९७३.

(ऐ) हिन्दी अनुवाद—आत्मानन्द जैन महासभा, जालंधर शहर, सन् १९४८.

(ओ) हिन्दी भावार्थ—जैन श्वेताम्बर संघ, कोटा, सन् १९३३.

(औ) गुजराती भाषांतर, चित्रविवरण, निर्युक्ति, चूर्णि, पृथ्वीचन्द्रसूरिकृत टिप्पण आदि सहित—साराभाई मणिलाल नवाब, छीपा मावजीनी पोल, अहमदाबाद, सन् १९५२.

(अं) धर्मसागरगणिविरचित वृत्तिसहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२.

(अः) संघविजयगणिसंकलित वृत्तिसहित—वाडीलाल चकुभाई, देवीशाहनो पाडो, अहमदाबाद, सन् १९३५.

(क) समयसुन्दरगणिविरचित व्याख्यासहित—जिनदत्तसूरि ज्ञानभंडार, बम्बई, सन् १९३९.

णिज्जठाणा, आजाइट्ठाणं।" प्रसिद्ध कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प) दशाश्रुतस्कन्ध के पज्जोसवणा नामक अष्टम अध्ययन का ही पल्लवित रूप है। दशाश्रुतस्कन्ध में जैनाचार से सम्बन्धित दस अध्ययन हैं। दस अध्ययनों के कारण ही इस सूत्र का नाम दशाश्रुतस्कन्ध (दसासुयक्खंध) अथवा आचारदशा रखा गया है। यह मुख्यतया गद्य में है।

प्रस्तुत छेदसूत्र के प्रथम उद्देश में बीस असमाधि-स्थानों का वर्णन किया गया है। यह वर्णन समवायांग सूत्र के बीसवें स्थान में उपलब्ध है। भेद केवल इतना ही है कि समवायांग में "वीसं असमाहिठाणा पण्णत्ता" इतना ही कहकर असमाधि-स्थानों का वर्णन प्रारंभ करदिया गया है, जबकि प्रस्तुत सूत्र में "सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं...." इत्यादि पाठ और जोड़ दिया गया है और कहीं-कहीं स्थान-परिवर्तन भी कर दिया गया है। इसी प्रकार दूसरे उद्देश के इक्कीस शबल दोष एवं तीसरे उद्देश की आशातनाएँ भी समवायांग सूत्र में उसी रूप में उपलब्ध हैं। भेद केवल प्रारंभिक वाक्यों में ही है। चतुर्थ उद्देश में आठ प्रकार की गणि-सम्पदा का विस्तृत वर्णन है। इन संपदाओं का केवल नाम-निर्देश स्थानांग सूत्र के आठवें स्थान में है। पंचम उद्देश में दस चित्त-समाधियों का वर्णन है। इसमें से केवल उपोद्घात अंश संक्षिप्त रूप में औपपातिक सूत्र में उपलब्ध है। दस चित्त समाधियों का गद्यरूप पाठ समवायांग सूत्र के दसवें स्थान में मिलता है। षष्ठ उद्देश में श्रमणोपासक—श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। इसका सूत्ररूप मूल पाठ समवायांग के ग्यारहवें स्थान में मिलता है। सातवें उद्देश में बारह भिक्षु-प्रतिमाओं का विवेचन किया गया है। इसका मूल समवायांग के बारहवें स्थान में एवं विवेचन स्थानांग के तीसरे स्थान तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति–भगवती, अंतकृद्दशा आदि सूत्रों में उपलब्ध है। आठवें उद्देश में श्रमण भगवान् महावीर के पाँच कल्याणों—पंचकल्याणक का वर्णन है। इसका मूल स्थानांग में पंचम स्थान में है। नववें उद्देश में तीस महामोहनीय-स्थानों का वर्णन है। इसका उपोद्घात अंश औपपातिक सूत्र में एवं शेष समवायांग के तीसवें स्थान में है। दसवें उद्देश में निदान-कर्म का वर्णन है। इसका उपोद्घात संक्षेप में औपपातिक सूत्र में उपलब्ध है।

(ख) विनयविजयविरचित वृत्तिसहित—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३९; गुजराती अनुवाद—मेघजी हीरजी जैन बुकसेलर, बम्बई, वि० सं० १९८१.

असमाधि-स्थान :

प्रथम उद्देश में जिन बीस असमाधि[1]-स्थानों अर्थात् असमाधि के कारणों का उल्लेख किया गया है वे इस प्रकार हैं : १. द्रुत गमन, २. अप्रमार्जित गमन, ३. दुष्प्रमार्जित गमन, ४. अतिरिक्त शय्यासन, ५. रात्निक परिभाषण (आचार्य आदि के सम्मुख तिरस्कारसूचक शब्दप्रयोग), ६. स्थविरोपघात, ७. भूतोपघात, ८. संज्वलन (प्रतिक्षण रोष करना), ९. क्रोध, १०. पिशुन (पीठ पीछे निन्दा करना), ११. सशंक पदार्थों के विषय में निःशंक भाषण, १२. अनुत्पन्न नूतन कलहों का उत्पादन, १३. क्षमापित कलहों का पुनरुदीरण, १४. अकाल-स्वाध्याय, १५. सरजस्क पाणि-पाद, १६. शब्दकरण (प्रमाण से अधिक शब्द बोलना), १७. झञ्झाकरण (फूट उत्पन्न करने वाले वचनों का प्रयोग करना), १८. कलहकरण, १९. सूर्यप्रमाण भोजनकरण (सूर्योदय से सूर्यास्त तक केवल भोजन का ही ध्यान रखना), २०. एषणा-असमिति (भोजनादि की गवेषणा में सावधानी न रखना) ।

शबल-दोष :

द्वितीय उद्देश में इक्कीस प्रकार के शबल-दोषों का वर्णन किया गया है। व्रत आदि से सम्बन्धित विविध दोषों को शबल-दोष कहते हैं। शबल का शब्दार्थ है चित्रवर्ण—**शबलं कर्बुरं चित्रम्**। प्रस्तुत उद्देश में वर्णित शबलदोष ये हैं : १. हस्तकर्म, २. मैथुनप्रतिसेवन, ३. रात्रिभोजन, ४. आधाकर्म ग्रहण (साधु के निमित्त से बनाये हुए आहारादि का ग्रहण), ५. राजपिंड ग्रहण (राजा के यहाँ के आहारादि का ग्रहण), ६. क्रीत आदि आहार का ग्रहण, ७. प्रत्याख्यात अर्थात् त्यक्त पदार्थों का भोग, ८. षट्मासान्तर्गत गणान्तर-संक्रमण, ९. एकमासान्तर्गत त्रि-उदकलेपन (एक मास के भीतर तीन बार जलाशय, नदी आदि को पार करना), १०. एकमासान्तर्गत त्रि-मायास्थान-सेवन (एक मास के अन्तर्गत तीन बार माया का सेवन करना), ११. सागारिक अर्थात् स्थानदाता के यहाँ से आहारादि का ग्रहण, १२. जानबूझ कर जीवहिंसा करना, १३. जानबूझ कर असत्य बोलना, १४. जानबूझ कर चोरी करना अर्थात् अनधिकृत वस्तु ग्रहण करना, १५. जानबूझ कर पृथ्वीकाय की हिंसा करना, १६. जानबूझ कर स्निग्ध और सरजस्क भूमि पर बैठना-उठना,

---

१. 'समाधानं समाधिः चेतसः स्वास्थ्यं मोक्षमार्गेऽवस्थानमित्यर्थः' अर्थात् चित्त की स्वस्थ भावना याने मोक्षमार्गाभिमुख प्रवृत्ति ही समाधि है। तद्विपरीत लक्षणवाली असमाधि है।

१७. जानबूझ कर सचित्त (सजीव) शिला आदि पर सोना-बैठना, १८. जानबूझ कर मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरित का भोजन करना, १९. एकसंवत्सरान्तर्गत दशोदकलेपन (एक वर्ष के भीतर दस बार जलाशय आदि पार करना), २०. एकसंवत्सरान्तर्गत दश-मायास्थान-सेवन (एक वर्ष मे दस बार माया का सेवन करना)[1], २१. जान-बूझ कर सचित्त जल से लिप्त हस्त आदि से आहारादि का ग्रहण एवं भोग।

आशातनाएँ :

तीसरे उद्देश में तैंतीस प्रकार की आशातनाओं पर प्रकाश डाला गया है। जिस क्रिया के करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ह्रास होता है उसे आशातना—अवज्ञा[2] कहते हैं। तैंतीस प्रकार की आशातनाएँ इस प्रकार है : १. शिष्य का रत्नाकर (गुरु आदि) के आगे, २. समश्रेणि मे एवं ३. अत्यन्त समीप गमन करना, इसी प्रकार ४–६ खड़ा होना एवं ७–९ बैठना, १०. मलोत्सर्ग आदि के निमित्त एक साथ जाने पर गुरु से पहले शुचि आदि करना, ११. गुरु से पहले आलोचना करना, १२. गुरु से पूर्व किसी से सम्भाषण करना, १३. जागते हुए भी गुरु के वचनों की अवहेलना करना, १४. भिक्षा आदि से लौटने पर पहले गुरु के पास आकर आलोचना न करना, १५. आहार आदि पदार्थ पहले गुरु को न दिखाना, १६. आहारादि के लिए पहले गुरु को निमन्त्रित न करना, १७. गुरु की आज्ञा के बिना ही जिस किसी को आहारादि दे देना, १८. आहार करते समय सरस एवं मनोज्ञ पदार्थों को बड़े-बड़े ग्रास लेकर शीघ्रता से समाप्त करना, १९. गुरु के बुलाने पर ध्यान-पूर्वक न सुनना, २०. गुरु के बुलाने पर अपनी जगह बैठे हुए ही सुनते रहना, २१. गुरु के वाक्यों का "क्या है, क्या कहते हैं" आदि शब्दों से उत्तर देना, २२. गुरु को "तुम" शब्द से सम्बोधित करना, २३. गुरु को अत्यन्त कठोर तथा अत्यधिक शब्दों से आमन्त्रित करना, २४. गुरु के ही वचनों को दोहराते हुए गुरु की अवज्ञा करना, २५. गुरु के बोलते हुए बीच मे टोकना, २६. गुरु की भूल निकालते हुए स्वयं उस विषय का निरूपण करने लग जाना, २७. गुरु के उपदेश को प्रसन्न चित्त से न सुनना, २८. कथा सुनती हुई परिषद् को भंग करने का प्रयत्न करना, २९. गुरु के कथा कहते हुए बीच में कथा-विच्छेद करना, ३०. गुरु की कथा सुनने के लिए एकत्रित हुई

---

१. १९–२० में नौवें और दसवें दोष की कालमात्रा बढ़ा दी गई है।

२. तत्र आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना खण्डना निरुक्ता आशातना।

परिषद् के उठने, भिन्न होने, व्यवच्छिन्न होने अथवा बिखरने के पूर्व उसी कथा को दो-तीन बार कहना (शिष्य अपना प्रभाव जमाने के लिए ऐसा करता है), ३१. गुरु के शय्या-संस्तारक को पैर से छूकर बिना अपराध स्वीकार किये चले जाना, ३२. गुरु के शय्या-संस्तारक पर बैठना, सोना अथवा खड़ा होना, ३३. गुरु से ऊँचे आसन पर अथवा गुरु के बराबरी के आसन पर खड़ा होना, बैठना अथवा शयन करना।

गणि-सम्पदा :

चतुर्थ उद्देश में आठ प्रकार की गणि-सम्पदाओं का वर्णन है। साधुओं अथवा ज्ञानादि गुणों के समुदाय को "गण" कहते हैं। "गण" का जो अधिपति होता है वही "गणी" कहलाता है। प्रस्तुत उद्देश में इसी प्रकार के गणी की सम्पदा—सम्पत्ति का वर्णन किया गया है। गणि-सम्पदा आठ प्रकार की है : १. आचार-सम्पदा, २. श्रुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा, ४. वचन-सम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६. मति-सम्पदा, ७. प्रयोगमति-सम्पदा, ८. संग्रह-परिज्ञा सम्पदा।

आचार-सम्पदा चार प्रकार की है : १. संयम में ध्रुव योगयुक्त होना, २. अहंकाररहित होना, ३. अनियतवृत्ति होना, ४. वृद्धस्वभावी (अचञ्चल स्वभाव वाला) होना।

श्रुत-सम्पदा भी चार प्रकार की है : १. बहुश्रुतता, २. परिचितश्रुतता, ३. विचित्रश्रुतता, ४. घोषविशुद्धिकारकता।

शरीर-सम्पदा के चार भेद हैं : १. शरीर की लम्बाई-चौड़ाई का सम्यक् अनुपात, २. अलज्जास्पद शरीर, ३. स्थिर संगठन, ४. प्रतिपूर्णेन्द्रियता।

वचन-सम्पदा चार प्रकार की होती है : १. आदेय वचन (ग्रहण करने योग्य वाणी), २. मधुर वचन, ३. अनिश्रित (प्रतिबन्धरहित) वचन, ४. असंदिग्ध वचन।

वाचना-सम्पदा भी चार प्रकार की कही गई है : १. विचारपूर्वक वाच्य विषय का उद्देश-निर्देश करना, २. विचारपूर्वक वाचन करना, ३. उपयुक्त विषय का ही विवेचन करना, ४. अर्थ का सुनिश्चित निरूपण करना।

मति-सम्पदा के चार भेद हैं : १. अवग्रह-मति-सम्पदा, २. ईहा-मति-सम्पदा, ३. अवाय-मति-सम्पदा, ४. धारणा-मति-सम्पदा।

अवग्रह-मति सम्पदा के पुनः छः भेद हैं : क्षिप्रग्रहण, बहुग्रहण, बहुविध-ग्रहण, ध्रुवग्रहण, अनिश्रितग्रहण और असंदिग्धग्रहण। इसी प्रकार ईहा और अवाय के भी छः प्रकार हैं। धारणा-मति-सम्पदा के निम्नोक्त ६ भेद हैं : बहुधारण, बहुविधधारण, पुरातनधारण, दुर्द्धरधारण, अनिश्रितधारण और असंदिग्धधारण।

प्रयोगमति-सम्पदा चार प्रकार की है : १. अपनी शक्ति के अनुसार वाद-विवाद करना, २. परिषद् को देख कर वाद-विवाद करना, ३. क्षेत्र को देख कर वाद-विवाद करना, ४. वस्तु को देख कर वाद-विवाद करना।

संग्रह परिज्ञा-सम्पदा के चार भेद हैं : १. वर्षाऋतु में सब मुनियों के निवास के लिए योग्य स्थान की परीक्षा करना, २. सब मुनियों के लिए प्रातिहारिक (लौटाये जाने वाले) पीठ-फलक-शय्या संस्तारक की व्यवस्था करना, ३. नियत समय पर प्रत्येक कार्य करना, ४. अपने से बड़ों की पूजा-प्रतिष्ठा करना।

गणि-सम्पदाओं का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने तत्सम्बद्ध चतुर्विध विनय-प्रतिपत्ति का स्वरूप बताया है : आचार-विनय, श्रुत-विनय, विक्षेपणा-विनय और दोषनिर्घात-विनय। यह गुरुसम्बन्धी विनय-प्रतिपत्ति है। इसी प्रकार शिष्यसम्बन्धी विनय-प्रतिपत्ति भी चार प्रकार की होती है : उपकरणोत्पादनता, सहायता, वर्ण-संज्वलनता (गुणानुवादकता) और भार-प्रत्यवरोहणता। इन आठ प्रकार की विनय-प्रतिपत्तियों के पुनः चार-चार भेद किये गये हैं। इस प्रकार प्रस्तुत उद्देश में कुल बत्तीस प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति का निरूपण किया गया है।

चित्तसमाधि-स्थान :

पाँचवें उद्देश में आचार्य ने दस प्रकार के चित्तसमाधि-स्थानों का वर्णन किया है : १. धर्मभावना, २. स्वप्नदर्शन, ३. जातिस्मरण-ज्ञान, ४. देव-दर्शन, ५. अवधिज्ञान, ६. अवधिदर्शन, ७. मनःपर्ययज्ञान, ८. केवलज्ञान, ९. केवलदर्शन, १०. केवलमरण (केवलज्ञानयुक्त मृत्यु)। इन दस स्थानों का सत्रह गाथाओं में उपसंहार किया गया है जिसमें मोहनीय कर्म की विशिष्टता पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

उपासक प्रतिमाएँ :

छठे उद्देश में ग्यारह प्रकार की उपासक-प्रतिमाओं (श्रावक-प्रतिमाओं—साधना की भूमिकाओं) का वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में मिथ्यादृष्टि के

विविध अवगुण गिनाये गये हैं। मिथ्यादृष्टि (नास्तिक) न्याय और अन्याय का विचार न करते हुए जिसे जैसा चाहता है वैसा दण्ड दे बैठता है। इस प्रसंग पर सूत्रकार ने निम्नलिखित दण्डों का उल्लेख किया है: सम्पत्ति-हरण, मुण्डन, तर्जन, ताडन, अन्दुक-बन्धन (जंजीरों से बाँधना), निगड-बन्धन (बेड़ियाँ डालना), हठ-बन्धन (काष्ठ से बाँधना), चारक-बन्धन (कारागृह में डालना), निगड-युगल-संकुटन (अङ्गों को मोड़कर बाँध देना), हस्त-छेदन, पाद-छेदन, कर्ण-छेदन, नासिका-छेदन, ओष्ठ-छेदन, शीर्ष-छेदन, मुख-छेदन, वेद-छेदन (जननेन्द्रिय-छेदन), हृदय-उत्पाटन, नयनादि-उत्पाटन, उल्लम्बन (वृक्ष आदि पर लटकाना), घर्षण, घोलन, शूलायन (शूली पर लटकाना), शूलाभेदन (शूली से टुकड़े करना), क्षार-वर्तन (घाव पर नमक आदि का सिंचन करना), दर्भ-वर्तन (घास आदि से पीड़ा पहुँचाना), सिंह-पुच्छन (सिंह की पूँछ से बाँधना), वृषभ-पुच्छन (बैल की पूँछ से बाँधना), दावाग्नि-दग्धन (दावाग्नि में जलाना), काकिणी-मांस-खादन (अपराधी के मांस के छोटे-छोटे टुकड़े कर उसी को खिलाना), भक्त-पान-निरोध (खान-पान बन्द कर देना), यावज्जीवन-बन्धन, अन्यतर अशुभ कुमारण (अन्य अशुभ मौत से मारना), शीतोदक-कायबूडन (ठण्डे पानी में डुबा देना), उष्णोदक-कायसिंचन (गरम पानी शरीर पर छींटना), अग्नि दाह (आग में जला देना), योक्त्र-वेत्र-नेत्र-कश-लघुकश-लताजन्य पार्श्वोद्दालन (चाबुक आदि से पीठ की चमड़ी उधेड़ देना), दण्ड-अस्थि-मुष्टि-लेष्टुक-कपालजन्य कायाकुट्टन (डण्डे आदि से शरीर को पीड़ा पहुँचाना)।

सम्यग्दृष्टि अर्थात् आस्तिक (आहियदिट्ठी) के गुणों का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने उपासक की एकादश प्रतिमाओं का इस प्रकार वर्णन किया है :—

प्रथम प्रतिमा में सर्वधर्मविषयक रुचि होती है। इसमें अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि सम्यक्तया आत्मा में स्थापित नहीं होते।

द्वितीय प्रतिमा में अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि धारण किये जाते हैं किन्तु सामायिक-व्रत एवं देशावकाशिक-व्रत (नवम एवं दशम श्रावक-व्रत) का सम्यक्तया पालन नहीं होता।

तृतीय प्रतिमा में सामायिक एवं देशावकाशिक व्रतों की सम्यक् अनुपालना होते हुए भी चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन पौषधोपवास-व्रत (ग्यारहवाँ व्रत) की सम्यक् आराधना नहीं होती।

चतुर्थ प्रतिमा में स्थित श्रमणोपासक चतुर्दशी आदि के दिन प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत का पूर्णतया पालन करता है किन्तु 'एकरात्रिकी' उपासक प्रतिमा[1] का सम्यक् आराधन नहीं करता।

पञ्चम प्रतिमा में स्थित श्रमणोपासक 'एकरात्रिकी' उपासक-प्रतिमा का सम्यक् पालन करता है, स्नान नहीं करता, रात्रिभोजन को त्याग देता है, धोती की लांग नहीं लगाता (मुकुलीकृत—मउलिकड), दिन में ब्रह्मचारी रहता है एवं रात्रि में मैथुन का मर्यादापूर्वक सेवन करता है। इस प्रकार के उपासक को कम-से-कम एक-दो-तीन दिन एवं अधिक-से-अधिक पाँच मास तक प्रस्तुत प्रतिमा में स्थित रहना चाहिए।

षष्ठ प्रतिमा में स्थित उपासक दिन की भाँति रात्रि में भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है किन्तु बुद्धिपूर्वक सचित्त आहार का परित्याग नहीं करता। इस प्रतिमा की अधिकतम समय-मर्यादा छः मास है।

सप्तम प्रतिमा को ग्रहण करने वाला श्रावक सचित्त आहार का परित्याग कर देता है किन्तु आरम्भ (कृषि आदि व्यापार) का त्याग नहीं करता। इस प्रतिमा की अधिकतम समय-अवधि सात मास है।

अष्टम प्रतिमाधारी स्वयं तो आरम्भ का परित्याग कर देता है किन्तु दूसरों से आरम्भ कराने का परित्याग नहीं कर सकता। इस प्रतिमा की उत्कृष्ट अवधि आठ मास है।

नवम प्रतिमा को धारण करने वाला श्रमणोपासक आरम्भ करने और कराने का परित्याग कर देता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त अर्थात् अपने निमित्त से बने हुए भोजन का परित्याग नहीं करता। इस प्रतिमा की उत्कृष्ट अवधि नौ मास है।

दशम उपासक-प्रतिमा को ग्रहण करने वाला उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग कर देता है एवं उस्तरे (क्षुर) से मुण्डित होता हुआ शिखा धारण करता है। जब उसे कोई एक या अनेक बार बुलाता है तब वह दो ही उत्तर देता है। जानने पर वह कहता है कि मैं यह बात जानता हूँ। न जानने पर उसका उत्तर होता है कि मैं इस बात को नहीं जानता। इस प्रतिमा की उत्कृष्ट स्थिति दस मास की कही गई है।

एकादश उपासक-प्रतिमा में स्थित श्रावक बालों का उस्तरे से मुण्डन कराता है अथवा हाथ से लुंचन करता है। साधु का आचार एवं भाण्डोपकरण (बर्तन आदि) ग्रहण कर मुनिवेश में निर्ग्रन्थधर्म का पालन करता हुआ विचरता है।

---

१. रात्रि में कायोत्सर्ग अवस्था में ध्यान करना।

ज्ञाति—जाति के लोगों से उसके प्रेम-बन्धन का व्यवच्छेद नहीं होता अतः वह उन्हीं के यहाँ भिक्षा-वृत्ति के लिए जाता है। दूसरे शब्दों में ग्यारहवीं प्रतिमा में स्थित श्रमणोपासक अपनी जाति के लोगों से ही भिक्षा ग्रहण करता है। भिक्षा ग्रहण करते समय उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि दाता के यहाँ जाने के पूर्व चावल पक चुके हों और दाल (सूप) न पकी हो तो उसे चावल ले लेने चाहिए, दाल नहीं। इसी प्रकार यदि दाल पक चुकी हो और चावल न पके हों तो दाल ले लेनी चाहिए, चावल नहीं। पहुँचने के पहले दोनों वस्तुएँ पक चुकी हों तो दोनों को ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। यदि दोनों बाद में बने हों तो उनमें से एक भी ग्रहण के योग्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु उसके पहुँचने के पूर्व बन कर तैयार हो चुकी हो उसी को उसे ग्रहण करना चाहिए, बाद में बनने वाली को नहीं। इस प्रतिमा की उत्कृष्ट स्थिति ग्यारह मास है।

भिक्षु-प्रतिमाएँ :

सातवें उद्देश में भिक्षु अर्थात् श्रमण की प्रतिमाओं का वर्णन है। भिक्षु-प्रतिमाओं की संख्या बारह है: १. मासिकी भिक्षु-प्रतिमा, २. द्विमासिकी भिक्षु-प्रतिमा, ३–७. यावत् सप्तमासिकी भिक्षु-प्रतिमा, ८–१०. प्रथम, द्वितीय व तृतीय सप्तरात्रिंदिवा भिक्षु-प्रतिमा, ११. अहोरात्रि भिक्षु प्रतिमा, १२. एकरात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा।

मासिकी प्रतिमाधारी अनगार (गृहविहीन), व्युत्सृष्टकाय (शारीरिक संस्कारों का त्याग करने वाले), त्यक्तशरीर (शरीर का ममत्व छोड़ने वाले) साधु को यदि कोई उपसर्ग (विपत्ति) उत्पन्न हो तो उसे क्षमापूर्वक सहन करना चाहिए तथा किसी प्रकार का दैन्यभाव नहीं दिखाना चाहिए। इस प्रतिमा में साधु को एक दत्ति[1] अन्न की एवं एक दत्ति जल की लेना कल्प्य—विहित है। वह भी अज्ञात कुल से शुद्ध एवं स्तोक—थोड़ी मात्रा में तथा मनुष्य, पशु, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, भिखारी (वनीपक) आदि के चले जाने पर ही लेना विहित है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहीं से भोजन ग्रहण करना चाहिए। गर्भवती के लिए, बच्चे वाली के लिए, बच्चे को दूध पिलाने वाली के लिए बना हुआ भोजन अकल्प्य—निषिद्ध है। जिसके दोनों पैर देहली के भीतर हों अथवा दोनों पैर देहली के बाहर हों उससे आहार नहीं लेना चाहिए। जो एक पैर देहली के भीतर एवं एक देहली के बाहर रख कर भिक्षा दे उसी से भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए (यह

---

१. साधु के पात्र में अन्न या जल डालते समय दीयमान पदार्थ की अखण्ड धारा बनी रहने का नाम 'दत्ति' है।

अभिग्रह अर्थात् प्रतिज्ञाविशेष है)। मासिकी भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिपन्न निर्ग्रन्थ का भिक्षा-काल तीन भागों में विभाजित किया गया है : आदि, मध्य और चरम। आदिभाग में भिक्षा के लिए जाने पर मध्य और चरमभाग में नहीं जाना चाहिए। इसी प्रकार शेष दो भागों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। मासिकी प्रतिमा में स्थित श्रमण को जहाँ कोई जानता हो वहाँ वह एक रात रह सकता है, जहाँ उसे कोई भी नहीं जानता हो वहाँ वह दो रात रह सकता है। इससे अधिक रहने पर उतने ही दिन का छेद अथवा तप प्रायश्चित्त लगता है। मासिकी प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को चार प्रकार की भाषा कल्प्य है : आहारादि के लिए याचना करने की, मार्गादि के विषय में पूछने की, स्थानादि के लिए अनुमति लेने की एवं प्रश्नों के उत्तर देने की। इस प्रतिमा में स्थित साधु के लिए सूत्रकार ने और भी अनेक बातों का विधान किया है जिसे पढ़कर जैन आचार की कठोरता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति उसके उपाश्रय (निवास-स्थान) में आग लगा दे तो भी उसे उपाश्रय से बाहर नहीं निकलना चाहिए और यदि बाहर हो तो भीतर नहीं जाना चाहिए। यदि कोई उसकी भुजा पकड़ कर खींचने का प्रयत्न करे तो उसे हठ न करते हुए सावधानीपूर्वक बाहर निकल जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि उसके पैर में लकड़ी का ठूँठ, काँटा, कंकड़ आदि घुस जाएँ तो उसे काँटा आदि न निकालते हुए सावधानी से चलते रहना चाहिए। सामने यदि महोन्मत्त हाथी, घोड़ा, बैल, भैंसा, कुत्ता, व्याघ्र आदि आ जाएँ तो भी उसे उनसे डरकर एक कदम भी पीछे नहीं हटना चाहिए। यदि कोई भोला-भाला जीव सामने आ जाये और वह साधु से डरने लगे तो साधु को चार हाथ दूर तक पीछे हट जाना चाहिए। शीत स्थान से शीतलता के भय से उठकर उष्ण स्थान पर अथवा उष्ण स्थान से उष्णता के डर से उठकर शीत स्थान पर नहीं जाना चाहिए। उसे जिस समय जहाँ बैठा हो उस समय वहीं पर बैठे हुए शीतलता अथवा उष्णता के परीषह को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। इसी प्रकार सूत्रकार ने अन्य प्रतिमाओं के स्वरूप का भी स्पष्ट विवेचन किया है।

पर्युषणा-कल्प (कल्पसूत्र) :

आठवें उद्देश का नाम पर्युषणा-कल्प है। वर्षाऋतु में मुनियों के एक स्थान पर स्थिर वास करने का नाम पर्युषणा है। इसकी व्युत्पत्तियों है—**परितः सामस्त्येन, उषणा वासः, इति पर्युषणा**। प्रस्तुत उद्देश में पर्युषणा-काल में पठन-पाठन के लिए विशेष उपयोगी श्रमण भगवान् महावीर के जन्मादि से

सम्बन्धित पाँच हस्तोत्तरों (उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र) का निर्देश किया गया है : १. हस्तोत्तर में देवलोक से च्युति और गर्भ में आगमन, २. हस्तोत्तर में गर्भ-परिवर्तन, ३. हस्तोत्तर में जन्म, ४. हस्तोत्तर में अनगार-धर्म-ग्रहण अर्थात् प्रव्रज्या और ५. हस्तोत्तर में ही केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति। भगवान् महावीर का परिनिर्वाण स्वाति नक्षत्र में हुआ था। एतद्विषयक मूल पाठ इस प्रकार है : 'तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरा होत्था, तं जहा-हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते। हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए। हत्थुत्तराहिं जाए। हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए। हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे। साइणा परिनिव्वुए भगवं जाव भुज्जो उवदंसेति त्ति बेमि।' आज कल्पसूत्र के नाम से जिस ग्रंथ का जैन समाज में प्रचार एवं प्रतिष्ठा है, वह इसी संक्षिप्त पाठ अथवा उद्देश का पल्लवित रूप है। यहाँ पर कल्पसूत्र का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा क्योंकि यह वास्तव में दशाश्रुतस्कन्ध का ही एक अंग है।

कल्पसूत्र में सर्वप्रथम भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया गया है जो उपर्युक्त पाँच हस्तोत्तरों से सम्बन्धित है। इसके बाद मुख्य रूप से पार्श्व, अरिष्टनेमि और ऋषभ-इन तीन तीर्थंकरों की जीवनी दी गई है। अन्त में स्थविरावली भी जोड़ दी गई है। अन्त ही अन्त में सामाचारी (मुनि-जीवन के नियम) पर भी थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है।[१]

भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र में निम्न बातों का समावेश किया गया है : आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की लगभग मध्यरात्रि के समय हस्तोत्तरा नक्षत्र में भगवान् महावीर का ब्राह्मणकुण्डग्राम में रहने वाले कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालन्धरगोत्रीय देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में गर्भरूप में उत्पन्न होना, देवानन्दा का चौदह महास्वप्न देखकर जाग जाना (१४ स्वप्न:—१. गज, २. वृषभ, ३. सिंह, ४. अभिषेक, ५. माला, ६. चन्द्र, ७. सूर्य, ८. ध्वज, ९. कुम्भ, १०. पद्मसरोवर, ११. सागर,

---

१. विद्वानों की मान्यता है कि कल्पसूत्र में आने वाले चौदह स्वप्न आदि से सम्बन्धित आलंकारिक वर्णन का कुछ भाग, स्थविरावली और सामाचारी का कुछ अंश बाद में जोड़ा गया है। देखिए—मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र, प्रास्ताविक, पृ० ९–११ (प्रका० साराभाई मणिलाल नवाब)।

१२. देवविमान, १३. रत्नराशि, १४. अग्नि[1]), ऋषभदत्त द्वारा स्वप्नफल पर प्रकाश डालना, इन्द्र का स्वर्ग में बैठे-बैठे देवानन्दा की कुक्षि में अवतरित भगवान् को वंदन करना, इन्द्र के मन मे इस प्रकार का विचार उत्पन्न होना कि अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव ब्राह्मण आदि कुलों मे पैदा न होकर क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होते हैं किन्तु भगवान् महावीर ब्राह्मणी के गर्भ में आये हैं, यह एक आश्चर्य है अतः मुझे इसका कुछ उपाय करना चाहिए, इन्द्र का हरिणेगमेसि नामक देव को गर्भ-परिवर्तन का आदेश, हरिणेगमेसि द्वारा आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की आधी रात के समय हस्तोत्तरा नक्षत्र में शक्र के आदेशानुसार देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि से भगवान् को निकाल कर क्षत्रियकुंड ग्राम के ज्ञातृवंश के काश्यपगोत्रीय क्षत्रिय सिद्धार्थ की भार्या वासिष्ठगोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में बिना किसी पीड़ा के स्थापित करना एवं त्रिशला के गर्भ को देवानन्दा की कुक्षि में पहुँचाना (यह घटना प्रथम गर्भ के ८२ दिन के बाद की है), देवानन्दा द्वारा स्वप्नावस्था मे अपने पूर्वोक्त चौदह स्वप्नों का त्रिशला द्वारा हरण किया जाता हुआ देखना, त्रिशला का चौदह महास्वप्न देखकर जाग जाना, सिद्धार्थ द्वारा स्वप्नपाठकों के समक्ष चौदह स्वप्नों का विवरण प्रस्तुत करना एवं उनका फल सुनना, सिद्धार्थ के कोश में धन की असाधारण वृद्धि होना, इसी वृद्धि को दृष्टि में रखते हुए अपने आगामी पुत्र का नाम वर्धमान रखने का संकल्प करना, महावीर का गर्भावस्था में कुछ समय के लिए हलन-चलन बन्द करना एवं इससे घर मे शोक छा जाना, माता-पिता के स्नेह के वश महावीर का माता-पिता के जीवित रहते गृहत्याग न करने का निश्चय—अभिग्रह, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की लगभग मध्यरात्रि के समय हस्तोत्तरा नक्षत्र में त्रिशला की कुक्षि से पुत्र का जन्म होना (प्रथम गर्भ की तिथि से नव मास साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर महावीर का जन्म हुआ), देवों एवं मनुष्यों द्वारा विविध उत्सव करना, पुत्र का वर्धमान नाम रखना, वर्धमान का विवाह, अपत्य आदि अवस्थाओं से गुजरना, हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग आने पर एक देवदूष्य (वस्त्र) लेकर अकेले ही प्रव्रजित होना, तेरह मास तक वर्धमान का सचेलक—सवस्त्र रहना एवं तदुपरान्त अचेलक—दिगम्बर—करपात्री—नग्न होना (संवच्छरं साहियं मासं जाव चीवरधारी होत्था, तेण परं अचेले पाणिपडिग्गहए), बारह वर्ष तपस्या आदि मे व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ला

---

१. गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम-ससि-दिणयरं-झयं-कुंभं ।
पउमसर-सागर-विमाण-भवण-रयणुच्चय-सिहिं च ॥—सू० ५.

दशमी के दिन जृम्भिक ग्राम के बाहर ऋजुवालिका नदी के किनारे के खंडहर के समान प्राचीन चैत्य के पास के श्यामाक गृहपति के खेत में स्थित शालवृक्ष के नीचे हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग होने पर महावीर को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होना, भगवान् का अस्थिक ग्राम में प्रथम वर्षावास—चातुर्मास करना, तदनन्तर चम्पा, पृष्ठचम्पा, वैशाली, वाणियग्राम, राजगृह, नालन्दा, मिथिला, भद्रिका, आलभिका, श्रावस्ती, प्रणीतभूमि (वज्रभूमि), मध्यमा-पावा में वर्षावास करना, अन्तिम वर्षावास के समय मध्यमा-पावा नगरी में कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि को स्वाति नक्षत्र का योग होने पर भगवान् का ७२ वर्ष की अवस्था में मुक्त होना।

श्रमण भगवान् महावीर काश्यप गोत्र के थे। उनके तीन नाम थे : वर्धमान, श्रमण और महावीर। महावीर के पिता के भी तीन नाम थे : सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी। महावीर की माता वासिष्ठ गोत्र की थी। उसके भी तीन नाम थे : त्रिशला, विदेहदिन्ना और प्रियकारिणी। महावीर के चाचा (पितृव्य) का नाम सुपार्श्व (सुपास), ज्येष्ठ भ्राता का नाम नन्दिवर्धन, भगिनी का नाम सुदर्शना और पत्नी का नाम यशोदा था। यशोदा कौडिन्य गोत्र की थी। महावीर की पुत्री के दो नाम थे : अनवद्या (अणोज्जा) और प्रियदर्शना। प्रियदर्शना की पुत्री के भी दो नाम थे : शेषवती और यशस्वती।

भगवान् महावीर के संघ में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं की संख्या इस प्रकार थी :—१४००० श्रमण, ३६००० श्रमणियाँ, १५९००० श्रावक, ३१८००० श्राविकाएँ, ३०० चतुर्दश-पूर्वधर, १३०० अवधिज्ञानी, ७०० केवलज्ञानी, ७०० वैक्रियलब्धिधारी, ५०० विपुलमति-ज्ञानी—मनःपर्ययज्ञानी, ४०० वादी।

भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन में पाँच प्रसंगों पर विशाखा नक्षत्र का योग हुआ था : १. विशाखा नक्षत्र में च्युत होकर गर्भ में आना, २. विशाखा नक्षत्र में जन्म होना, ३. विशाखा नक्षत्र में प्रव्रज्या ग्रहण करना, ४. विशाखा नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होना, ५. विशाखा नक्षत्र में निर्वाण होना।

भगवान् अरिष्टनेमि के उपर्युक्त पाँच प्रकार के जीवन प्रसंगों का सम्बन्ध चित्रा नक्षत्र से है। प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र की भाँति पार्श्व एवं अरिष्टनेमि के जीवन-चरित्र पर भी प्रकाश डाला गया है किन्तु उतने विस्तार से नहीं। इसी प्रकार चार उत्तराषाढ़ एवं एक अभिजित—इन

पाँच नक्षत्रों से सम्बन्धित भगवान् ऋषभदेव का भी संक्षिप्त जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया गया है।

स्थविरावली में भगवान् महावीर से लेकर देवर्द्धिगणि तक की गुरु-परम्परा का उल्लेख है। यह स्थविरावली नन्दी सूत्र की स्थविरावली से कुछ भिन्न है।

मोहनीय-स्थान :

नवम उद्देश में तीस मोहनीय-स्थानों का वर्णन है। मोहनीय वह कर्म है जो आत्मा को मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा आत्मा मोहित होती है।[1] इस कर्म के परमाणुओं के संसर्ग से आत्मा विवेकशून्य हो जाती है। यह कर्म सब कर्मों में प्रधान है। सूत्रकार ने प्रस्तुत उद्देश की गाथाओं में तीस महा-मोहनीय-स्थानों का स्वरूप बताया है : (१) जो व्यक्ति पानी में डुबकियाँ लगाकर त्रस प्राणियों को मारता है वह महामोहनीय-कर्म की उपार्जना करता है। (२) जो व्यक्ति किसी प्राणी के मुखादि अंगों को हाथ से ढँककर अथवा अवरुद्ध कर जीव-हत्या करता है वह महामोहनीय-कर्म का उपार्जन करता है। (३) जो अग्नि जलाकर अनेक लोगों को घेर कर धूएँ से मारता है वह महा-मोहनीय-कर्म का बन्धन करता है। (४) जो किसी के सिर पर प्रहार करता है एवं मस्तक फोड़ कर उसकी हत्या कर डालता है वह महामोहनीय-कर्म के पाश में बँधता है। (५) जो किसी प्राणी के सिर आदि अंगों को गीले चमड़े से आवेष्टित करता है वह महामोहनीय कर्म का उपार्जन करता है। (६) जो बार-बार छल से किसी मूर्ख व्यक्ति को मार कर हँसता है वह महामोहनीय के बन्धन में बँधता है। (७) जो अपने दोषों को छिपाता है, माया को माया से आच्छादित करता है, झूठ बोलता है, सूत्रार्थ का गोपन करता है वह महामोहनीय का बन्धन करता है। (८) जो किसी को असत्य आक्षेप एवं स्वकृत पाप से कलंकित करता है वह महामोहनीय के पाश में बँधता है। (९) जो पुरुष जान-बूझ कर परिषद् में सत्य और मृषा को मिला कर कथन करता है एवं कलह का त्याग नहीं करता वह महामोहनीय के बन्धन में फँसता है। (१०) जो मन्त्री राजा की स्त्रियों अथवा लक्ष्मी को ध्वस्त कर अन्य राजाओं का मन उसके प्रतिकूल कर देता है एवं उसे राज्य से बाहर कर स्वयं राजा बन बैठता है वह महामोहनीय-कर्म का बन्धन करता है। (११) जो यथार्थ में बाल-ब्रह्मचारी नहीं है फिर भी अपने आपको बाल-ब्रह्मचारी कहता है

---

१. मोहयत्यात्मानं मुह्यत्यात्मा वा अनेन इति।

एवं स्त्री विषयक भोगों में लिप्त रहता है वह महामोहनीय-कर्म बाँधता है। (१२) जो ब्रह्मचारी न होकर भी लोगों से कहता है कि मैं ब्रह्मचारी हूँ वह महामोहनीय से बद्ध होता है। (१३) जिसके आश्रय से, यश से अथवा अभिगम—सेवा से आजीविका चलती है उसी के धन पर लोभ दृष्टि रखने वाला महामोहनीय के बन्धन में फँसता है। (१४) किसी स्वामी ने अथवा गाँव के लोगों ने किसी अनीश्वर अर्थात् दरिद्र को स्वामी बना दिया हो एवं उनकी सहायता से उसके पास काफी सम्पत्ति हो गई हो। ईर्ष्या एवं पाप से कलुषित चित्त वाला वह यदि अपने उपकारी के कार्य मे अन्तराय—विघ्न उपस्थित करे तो उसे महामोहनीय-कर्म का भागी होना पड़ता है। (१५) जैसे सर्पिणी अपने अण्ड-समूह को मारती है उसी प्रकार जो पुरुष अपने पालक, सेनापति अथवा प्रशास्ता (कलाचार्य अथवा धर्माचार्य) की हिंसा करता है वह महामोहनीय-कर्म का उपार्जन करता है। (१६) जो राष्ट्र-नायक, निगम-नेता (व्यापारियों का नेता) अथवा यशस्वी सेठ की हत्या करता है वह महामोहनीय-कर्म का बन्धन करता है। (१७) जो बहुजन-नेता, बहुजन-त्राता अथवा इसी प्रकार के अन्य पुरुष की हत्या करता है वह महामोहनीय-कर्म का भागी होता है। (१८) जो दीक्षा लेने के लिए उपस्थित है, जिसने संसार से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की है, जो संयत है, जो तपस्या में संलग्न है उसे बलात् धर्मभ्रष्ट करना महामोहनीय का बन्ध करना है। (१९) जो अज्ञानी पुरुष अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन वाले जिनों की निन्दा—अवर्णवाद करता है वह महामोहनीय के बन्धन में फँसता है। (२०) जो न्याययुक्त मार्ग की निन्दा करता है एवं अपनी तथा दूसरों की आत्मा को उससे पृथक् करता है वह महामोहनीय-कर्म का उपार्जन करता है। (२१) जिन आचार्य-उपाध्याय की कृपा से श्रुत और विनय की शिक्षा प्राप्त हुई हो उन्हीं की निन्दा करने पर महामोहनीय-कर्म का बन्ध होता है। (२२) जो आचार्य उपाध्याय की अच्छी तरह सेवा नहीं करता वह अप्रतिपूजक एवं अहंकारी होने के कारण महामोहनीय-कर्म का उपार्जन करता है। (२३) जो वास्तव में अबहुश्रुत है किन्तु लोगों में अपने आपको बहुश्रुत के रूप में प्रख्यात करता है वह महामोहनीय के फंदे में फँसता है। (२४) जो वास्तव में तपस्वी नहीं है किन्तु लोगों के सामने अपने आपको तपस्वी के रूप में प्रकट करता है वह महामोहनीय के पाश में फँसता है। (२५) जो आचार्य आदि के रोग-ग्रस्त होने पर शक्ति रहते हुए भी उनकी सेवा नहीं करता वह महामोहनीय के बन्धन में बँधता है। (२६) जो हिंसायुक्त कथा का

बार-बार प्रयोग करता है वह महामोहनीय-कर्म की उपार्जना करता है। (२७) जो अपनी प्रशंसा के लिए अथवा दूसरों से मित्रता करने के लिए अधार्मिक योगों (वशीकरणादि) का बार-बार प्रयोग करता है वह महामोहनीय-कर्म का भागी होता है। (२८) जो व्यक्ति मनुष्य अथवा देवविषयक काम भोगों की हमेशा अभिलाषा रखता है—कभी तृप्त नहीं होता वह महामोहनीय-कर्म का उपार्जन करता है। (२९) जो देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, बल, वीर्य आदि की निन्दा करता है—अवर्णवाद करता है उसे महामोहनीय-कर्म का भागी होना पड़ता है। (३०) जो अज्ञानी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की भावना से देव, यक्ष आदि को प्रत्यक्ष न देखता हुआ भी कहता है कि मैं इन्हें देखता हूँ वह महामोहनीय का बन्ध करता है। अशुभ कर्मफल देने वाले एवं चित्त की मलीनता बढ़ाने वाले उपर्युक्त मोहनीय-स्थान आत्मोन्नति में बाधक हैं। जो भिक्षु—मुनि आत्म-गवेषणा में संलग्न है उसे इन्हें छोड़कर संयम-क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।

आयति-स्थान :

दशम उद्देश का नाम 'आयति-स्थान' है। इसमें विभिन्न निदान-कर्मों का वर्णन किया गया है। निदान (णियाण—णिदाण) का अर्थ है मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक संकल्प। जब मनुष्य के चित्त में मोह के प्रबल प्रभाव के कारण कामादि इच्छाएँ जाग उठती हैं तब वह उनकी पूर्ति की आशा से तद्विषयक दृढ़ संकल्प करता है। इसी संकल्प का नाम निदान है। निदान के कारण मनुष्य की इच्छाविशेष भविष्य-काल में भी बराबर बनी रहती है। परिणामतः वह जन्म-मरण के बन्धन में फँसा रहता है। भविष्यकालीन जन्म-मरण की दृष्टि से ही प्रस्तुत उद्देश का नाम 'आयति-स्थान' रखा गया है। 'आयति' का अर्थ है जन्म अथवा जाति। निदान जन्म का हेतु होने के कारण आयति-स्थान माना गया है। अथवा 'आयति' पद से 'ति' पृथक् कर देने पर अवशिष्ट 'आय' का अर्थ 'लाभ' भी होता है। जिस निदान-कर्म से जन्म-मरण का लाभ होता है उसी का नाम 'आयति' है।

प्रस्तुत उद्देश के प्रारम्भ में उपोद्घात (भूमिका) के रूप में संक्षेप में राजगृह नगर के गुणशील नामक चैत्य में भगवान् महावीर के पदार्पण करने एवं जनता के उनके दर्शनार्थ पहुँचने आदि का वर्णन किया गया है। एतद्विषयक विस्तृत वर्णन औपपातिक उपांग में उपलब्ध है। औपपातिक के आख्यान एवं प्रस्तुत सूत्र के कथानक में इतना ही अन्तर है कि औपपातिक में नगरी का नाम

चम्पा है और राजा का नाम कोणिक जबकि प्रस्तुत उद्देश में नगर का नाम राजगृह एवं राजा का नाम श्रेणिक है। भगवान् महावीर के दर्शनार्थ आये हुए राजा श्रेणिक एवं रानी चेलणा की ऐश्वर्यपूर्ण सुख-समृद्धि को देखकर महावीर के प्रत्येक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी—साधु-साध्वी के चित्त में एक संकल्प उत्पन्न हुआ। साधु सोचने लगे कि हमने देवलोक में देवों को नहीं देखा है। हमारे लिए तो श्रेणिक ही साक्षात् देव है। यदि इस तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि का कोई फल है तो हम भी भविष्य में इसी प्रकार के उदार काम-भोगों का भोग करते हुए विचरें। महारानी चेलणा को देख कर साध्वियाँ सोचने लगीं कि यह चेलणा देवी अत्यन्त ऐश्वर्यशालिनी है जो विविध प्रकार के अलंकारों से विभूषित होकर राजा श्रेणिक के साथ उत्तमोत्तम भोगों का भोग करती हुई विचरती है। हमने देवलोक की देवियाँ नहीं देखी हैं। हमारे लिए तो यही साक्षात् देवी है। यदि हमारे इस चारित्र, तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि का कोई फल है तो हम भी आगामी जन्म में इसी प्रकार के उत्तम भोगों का भोग करती हुई विचरें। भगवान् महावीर ने उन साधु-साध्वियों के चित्त की भावना जान ली। भगवान् उन्हें आमन्त्रित कर कहने लगे—श्रेणिक राजा और चेलणा देवी को देख कर तुम लोगों के चित्त में इस प्रकार का संकल्प उत्पन्न हुआ है आदि। क्या यह बात ठीक है? उपस्थित साधु-साध्वियों ने सविनय उत्तर दिया—हाँ भगवन्! यह बात ठीक है। तदनन्तर भगवान् महावीर कहने लगे—हे दीर्घजीवी श्रमणो! मेरा प्रतिपादित यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है, सर्वोत्तम है, प्रतिपूर्ण है, अद्वितीय है, संशुद्ध है, मोक्षप्रद है, माया आदि शल्य का विनाश करने वाला है, सिद्धि-मार्ग है, मुक्ति-मार्ग है, निर्याण-मार्ग है, निर्वाण-मार्ग है, यथार्थ है, सन्देह-रहित है, अव्यवच्छिन्न है, सब प्रकार के दुःखों को क्षीण करने वाला है। इस मार्ग मे स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं, सब दुःखों का नाश करते हैं। इस प्रकार के धर्म-मार्ग में प्रवृत्त साधु भी काम-विकारों के उदय के कारण ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों को देख कर अपने मार्ग से विचलित हो जाता है एवं अपने चित्त में संकल्प—निदान करता है कि यदि इस तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि का कोई फल है आदि। हे चिरजीवी श्रमणो! इस प्रकार का निदान-कर्म करने वाला निर्ग्रन्थ उस कर्म का बिना प्रायश्चित्त किए मृत्यु को प्राप्तकर अंत समय में किसी देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होता है। महर्द्धिक व चिरस्थिति वाले देवलोक में वह महर्द्धिक एवं चिरस्थिति वाला देव हो जाता है। वहाँ से आयु का क्षय होने पर देवशरीर को त्याग कर मनुष्यलोक में ऐश्वर्ययुक्त

कुल (उग्रकुल, महामातृककुल, भोगकुल) में पुत्ररूप से उत्पन्न होता है। वहाँ वह रूपसम्पन्न एवं सुकुमार हाथ-पैर वाला बालक होता है। तदनन्तर वह बाल-भाव को छोड़ कर विज्ञानप्रतिपन्न युवक बनता है एवं स्वाभाविकतः पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है। फिर वह घर में प्रवेश करते हुए एवं घर से बाहर निकलते हुए अनेक दास-दासियों से घिरा रहता है। क्या इस प्रकार के पुरुषों को श्रमण या ब्राह्मण (माहण) केवलि-प्रतिपादित धर्म सुना सकता है? हाँ, सुना सकता है किन्तु यह सम्भव नहीं कि वह उस धर्म को सुने क्योंकि वह उस धर्म को सुनने योग्य नहीं होता। वह कैसा होता है? उत्कट इच्छाओं वाला, बड़े-बड़े कार्यों को प्रारम्भ करने वाला, अधार्मिक एवं दुर्लभ-बोधि होता है। हे चिरजीवी श्रमणो! इस प्रकार निदान कर्म का पापरूप फल होता है जिसके कारण आत्मा में केवलि-प्रतिपादित धर्म को सुनने की शक्ति नहीं रहती। निर्ग्रन्थी के निदान-कर्म के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। वह देवीरूप व बालिकारूप से उत्पन्न होती हुई सांसारिक ऐश्वर्यों का भोग करती है। इस प्रकार सूत्रकार ने प्रस्तुत उद्देश में नौ प्रकार के निदान-कर्मों का वर्णन किया है एवं अन्त में बताया है कि यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सब प्रकार के दुःखों का अन्त करने वाला है। प्रवचन में श्रद्धा रखने वाला संयम की साधना करता हुआ सब रागों से विरक्त होता है, सब कामों से विरक्त होता है, सब प्रकार की आसक्ति को छोड़ता हुआ चारित्र में दृढ़ होता है। परिणामतः वह सब प्रकार के दुःखों का अन्त करके शाश्वत सिद्धि-सुख को प्राप्त करता है।

प्रकरण २

बृ ह त्क ल्प

प्रथम उद्देश

द्वितीय उद्देश

तृतीय उद्देश

चतुर्थ उद्देश

पंचम उद्देश

षष्ठ उद्देश

द्वितीय प्रकरण

बृहत्कल्प

बृहत्कल्प सूत्र[1] का छेदसूत्रों में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अन्य छेदसूत्रों की भाँति इसमें भी साधुओं के आचारविषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप-प्रायश्चित्त आदि का विचार किया गया है। इसमें छः उद्देश हैं जो सभी गद्य में हैं। इसका ग्रन्थमान ४७५ श्लोक-प्रमाण है।

प्रथम उद्देश :

प्रथम उद्देश में पचास सूत्र हैं। प्रथम पाँच सूत्र तालप्रलम्बविषयक हैं। प्रथम ताल-प्रलम्बविषयक सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए ताल एवं प्रलम्ब ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इसमें बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए अभिन्न अर्थात् अविदारित, आम अर्थात् अपक्व, ताल अर्थात् तालफल तथा प्रलम्ब अर्थात् मूल का प्रतिग्रहण अर्थात् आदान, अकल्प्य अर्थात् निषिद्ध है (**नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए**)। श्रमण-श्रमणियों को अखण्ड एवं अपक्व तालफल तथा तालमूल ग्रहण नहीं करना चाहिए।[2] द्वितीय सूत्र में बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्र-

---

१. (अ) जर्मन टिप्पणी आदि के साथ—W. Schubring, Leipzig, 1905; मूलमात्र नागरी लिपि में—Poona, 1923.
(आ) गुजराती अनुवादसहित—डा० जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९१५.
(इ) हिन्दी अनुवाद (अमोलकऋषिकृत) सहित—सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी० सं० २४४५.
(ई) अज्ञात टीकासहित—सम्यक् ज्ञान प्रचारक मंडल, जोधपुर.
(उ) निर्युक्ति, लघुभाष्य तथा मलयगिरि-क्षेमकीर्तिकृत टीकासहित—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९३३–४२.

२. हिन्दी एवं गुजराती अनुवादों में इस सूत्र का अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता। इनमें ताल का अर्थ केला एवं प्रलम्ब का अर्थ लम्बी आकृति वाला किया

थियों के लिए विदारित अपक्व ताल-प्रलम्ब लेना कल्प्य अर्थात् विहित है। तीसरे सूत्र में बताया है कि निर्ग्रन्थों के लिए पक्व ताल-प्रलम्ब, चाहे विदारित हो अथवा अविदारित, ग्रहण करना कल्प्य है। चतुर्थ सूत्र में यह बताया है कि निर्ग्रन्थों के लिए अभिन्न—अविदारित पक्व ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना अकल्प्य है। पंचम सूत्र मे यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थियों के लिए विदारित पक्व ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्प्य है किन्तु जो विधिपूर्वक विदारित किया गया हो वही, न कि अविधिपूर्वक विदारित किया हुआ।

मासकल्पविषयक प्रथम सूत्र में साधुओं के ऋतुबद्धकाल अर्थात् हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु के आठ महीनों में एक स्थान पर रहने के अधिकतम समय का विधान किया गया है। साधुओं को सपरिक्षेप अर्थात् सप्राचीर एवं अबाहिरिक अर्थात् प्राचीर के बाहर की वसति से रहित (प्राचीरबहिर्वर्तिनी गृहपद्धति से रहित) निम्नोक्त सोलह प्रकार के स्थानों में वर्षाऋतु को छोड़कर अन्य समय मे एक साथ एक मास से अधिक रहना अकल्प्य है :—

१. ग्राम (जहाँ राज्य की ओर से अठारह प्रकार के कर लिए जाते हों)।

२. नगर (जहाँ अठारह प्रकार के करों में से एक भी प्रकार का कर न लिया जाता हो)।

३. खेट (जिसके चारों ओर मिट्टी की दीवार हो)।

४. कर्बट (जहाँ कम लोग रहते हों)।

५. मडम्ब (जिसके बाद ढाई कोस तक कोई गाँव न हो)।

६. पत्तन (जहाँ सब वस्तुएँ उपलब्ध हों)।

७. आकर (जहाँ धातु की खानें हों)।

८. द्रोणमुख (जहाँ जल और स्थल को मिलाने वाला मार्ग हो, जहाँ समुद्री माल आकर उतरता हो)।

९. निगम (जहाँ व्यापारियों की वसति हो)।

गया है। टीकाकार आचार्य क्षेमकीर्ति ने मूल शब्दों का अर्थ इस प्रकार किया है:—नो कल्प्यते—न युज्यते, निर्ग्रन्थानां—साधूनां, निर्ग्रन्थीनां—साध्वीनां, आमं—अपक्वं, तलः—वृक्षविशेषस्तत्र भवं तालं—तालफलं, प्रकर्षेण लम्बते इति प्रलम्बं—मूलं, तालं च प्रलम्बं च तालप्रलम्बं समाहारद्वन्द्वः, अभिन्नं—द्रव्यतो अविदारितं भावतोऽव्यपगतजीवं, प्रतिग्रहीतुं—आदातुमित्यर्थः।

१०. राजधानी (जहाँ राजा के रहने के महल आदि हों)।
११. आश्रम (जहाँ तपस्वी आदि रहते हों)।
१२. निवेश—सन्निवेश (जहाँ सार्थवाह आकर उतरते हों)।
१३. सम्बाध—संवाह (जहाँ कृषक रहते हों अथवा अन्य गाँव के लोग अपने गाँव से धन आदि की रक्षा के निमित्त पर्वत, गुफा आदि में आकर ठहरे हुए हों)।
१४. घोष (जहाँ गाय आदि चराने वाले गूजर लोग—ग्वाले रहते हों)।
१५. अंशिका (गाँव का अर्ध, तृतीय अथवा चतुर्थ भाग)।
१६. पुटभेदन (जहाँ परगाँव के व्यापारी अपनी चीजें बेचने आते हों)[1]।

मासकल्पविषयक द्वितीय सूत्र में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि ग्राम, नगर आदि यदि प्राचीर के भीतर एवं बाहर इन दो विभागों में बसे हुए हों तो ऋतुबद्धकाल में भीतर एवं बाहर मिला कर एक क्षेत्र मे निर्ग्रन्थ एक साथ दो मास तक (एक मास अन्दर एवं एक मास बाहर) रह सकते है। अन्दर रहते समय भिक्षाचर्या आदि अन्दर एवं बाहर रहते समय भिक्षाचर्या आदि बाहर ही करना चाहिए।

निर्ग्रन्थियों के लिए यह मर्यादा दुगुनी कर दी गई है। बाहर की वसति से रहित ग्राम आदि में निर्ग्रन्थियाँ ऋतुबद्धकाल मे लगातार दो मास तक रह सकती हैं। बाहर की वसति वाले ग्रामादिक में दो महीने भीतर एवं दो महीने बाहर इस प्रकार कुल चार मास तक एक क्षेत्र में रह सकती है। भिक्षाचर्या आदि के नियम निर्ग्रन्थों के समान ही समझने चाहिए।

वगडाविषयक प्रथम सूत्र मे एक परिक्षेप (प्राचीर) एवं एक द्वार वाले ग्राम आदि में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के एक साथ (एक ही समय) रहने का निषेध किया गया है। द्वितीय सूत्र में इसी बात का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। अनेक परिक्षेप-अनेक द्वार वाले ग्रामादि में साधु-साध्वियों को एक ही समय रहना कल्प्य है।

आपणगृहादिसम्बन्धी सूत्रों में बतलाया गया है कि जिस उपाश्रय के चारों ओर दुकानें हों, जो गली के किनारे पर हो, जहाँ तीन, चार अथवा छः रास्ते

---

१. इन शब्दों की व्याख्या के लिए देखिए—बृहत्कल्प-लघुभाष्य, गा० १०८८–१०९३.

मिलते हों, जिसके एक ओर अथवा दोनों ओर दुकानें हों वहाँ साध्वियों को नहीं रहना चाहिए। साधु इस प्रकार के स्थानों मे यतनापूर्वक रह सकते हैं।[१]

अपावृतद्वारोपाश्रयविषयक सूत्रों मे बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थियों को बिना दरवाजे के खुले उपाश्रय मे नहीं रहना चाहिए। द्वारयुक्त उपाश्रय न मिलने की दशा में अपवादरूप से परदा लगाकर रहना कल्प्य है। निर्ग्रन्थों को बिना दरवाजे के उपाश्रय में रहना कल्प्य है।

घटीमात्रप्रकृत सूत्रों में निर्ग्रन्थियों के लिए घटीमात्रक (घड़ा)[२] रखने एवं उसका उपयोग करने का विधान किया गया है जबकि निर्ग्रन्थों के लिए घट रखने एवं उसका उपयोग करने का निषेध किया गया है।

चिलिमिलिकाप्रकृत सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को कपड़े की चिलिमिलिका (परदा) रखने एवं उसका उपयोग करने की अनुमति प्रदान की गई है।

दकतीरप्रकृत सूत्र में सूत्रकार ने बतलाया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को जलाशय आदि के समीप अथवा किनारे खड़े रहना, बैठना, लेटना, सोना, खाना-पीना, स्वाध्याय-ध्यान-कायोत्सर्ग आदि करना अकल्प्य है।

चित्रकर्मविषयक सूत्रों में बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को चित्रकर्म-युक्त उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए अपितु चित्रकर्मरहित उपाश्रय में ठहरना चाहिए।

सागारिकनिश्राविषयक सूत्रों में बताया है कि निर्ग्रन्थियों को सागारिक—शय्यातर—वसतिपति—मकानमालिक की निश्रा—रक्षा आदि की स्वीकृति के बिना कहीं पर भी नहीं रहना चाहिए। उन्हें सागारिक की निश्रा में ही रहना कल्प्य है। निर्ग्रन्थ सागारिक की निश्रा अथवा अनिश्रा में रह सकते हैं।

सागारिकोपाश्रयप्रकृत सूत्रों में इस बात का विचार किया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को सागारिक के सम्बन्ध वाले—स्त्री-पुरुष, धन-धान्य आदि से युक्त—उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए। निर्ग्रन्थों को स्त्री-सागारिक के उपाश्रय में रहना अकल्प्य है। निर्ग्रन्थियों को पुरुष-सागारिक के उपाश्रय में रहना

---

१. नो कप्पइ निग्गंथीणं आवणगिहंसि वा रच्छामुहंसि वा सिंघाडगंसि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए। कप्पइ निग्गंथाणं आवणगिहंसि वा जाव अंतरावणंसि वा वत्थए।

२. 'घटीमात्रकं' घटीसंस्थानं मृन्मयभाजनविशेषं······।—क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृ० ६७०.

अकल्प्य है। दूसरे शब्दों में निर्ग्रन्थों को पुरुष-सागारिक एवं निर्ग्रन्थियों को स्त्री-सागारिक के उपाश्रय में रहना कल्प्य है।

प्रतिबद्धशय्याप्रकृत सूत्रों में बताया गया है कि जिस उपाश्रय के समीप (सटे हुए—प्रतिबद्ध) गृहस्थ रहते हों वहाँ साधुओं को नहीं रहना चाहिए किन्तु साध्वियाँ रह सकती हैं।

गृहपतिकुलमध्यवासविषयक सूत्रों में निर्ग्रन्थों एवं निर्ग्रन्थियों दोनों के लिए गृहपतिकुलमध्यवास अर्थात् गृहस्थ के घर के बीचोबीच होकर जाने-आने का काम पड़ता हो वैसे स्थान में रहने का निषेध किया गया है।

अधिकरण (अथवा प्राभृत अथवा व्यवशमन) से सम्बन्धित सूत्र में सूत्रकार ने इस बात की ओर निर्देश किया है कि भिक्षु, आचार्य, उपाध्याय, भिक्षुणी आदि का एक दूसरे से झगड़ा हुआ हो तो परस्पर उपशम धारण कर कलह—अधिकरण—प्राभृत[1] शान्त कर लेना चाहिए। जो शान्त होता है वह आराधक है और जो शान्त नहीं होता वह विराधक है। श्रमणधर्म का सार उपशम अर्थात् शान्ति है : **उवसमसारं सामण्णं**।

चारसम्बन्धी प्रथम सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए चातुर्मास—वर्षाऋतु में एक गाँव से दूसरे गाँव जाने का निषेध किया गया है तथा द्वितीय सूत्र में हेमन्त एवं ग्रीष्मऋतु में विहार करने—विचरने का विधान किया गया है।

वैराज्यविषयक सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को विरुद्ध राज्य—प्रतिकूल क्षेत्र में तत्काल—तुरन्त आने-जाने की मनाही की गई है। जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी विरुद्ध राज्य में तुरन्त आता-जाता है अथवा आने-जाने वाले का अनुमोदन करता है उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

अवग्रहसम्बन्धी प्रथम दो सूत्रों में यह बताया गया है कि गृहपति के यहाँ भिक्षाचर्या के लिए गए हुए अथवा स्थण्डिलभूमि—शौच आदि के लिए जाते हुए निर्ग्रन्थ को कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि के लिए उपनिमन्त्रित करे तो उसे वस्त्रादि उपकरण लेकर अपने आचार्य के पास उपस्थित होना चाहिए एवं आचार्य

---

1. अधिकरणं कलहः प्राभृतमित्येकोऽर्थः।

—क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृ० ७५१.

विनय-पिटक में अधिकरण का सुन्दर विवेचन किया गया है। इसके लिए जिज्ञासु को उसका चार अधिकरणवाला प्रकरण देखना चाहिए।

की स्वीकृति प्राप्त होने पर ही उन्हें अपने पास रखना चाहिए। तृतीय एवं चतुर्थ सूत्र में बताया गया है कि गृहपति के यहाँ भिक्षाचर्या के लिए गई हुई अथवा स्थण्डिलभूमि आदि के लिए निकली हुई निर्ग्रन्थी को कोई वस्त्रादि के लिए उपनिमन्त्रित करे तो उसे वस्त्रादि ग्रहण कर प्रवर्तिनी के समक्ष उपस्थित होना चाहिए एवं उसकी स्वीकृति लेकर ही उन उपकरणों का उपयोग करना चाहिए।

रात्रिभक्तविषयक प्रथम सूत्र में साधु-साध्वियों के लिए रात्रि के समय अथवा विकाल—असमय में आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। द्वितीय सूत्र में आपवादिक कारणों से पूर्वप्रतिलिखित (निरीक्षित) वसति, शय्या, संस्तारक आदि के ग्रहण की छूट दी गई है।

रात्रिवस्त्रादिग्रहणप्रकृत सूत्र में साधु-साध्वियों के लिए रात के समय अथवा विकाल में वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरणादिक के ग्रहण का निषेध किया गया है।

हृताहृतिकाप्रकृतसूत्र रात्रिवस्त्रादिग्रहणप्रकृत सूत्र के अपवाद के रूप में है। इसमें यह बताया गया है कि साधु अथवा साध्वी के वस्त्रादिक चोर उठा ले गए हों और वे वापिस मिल गये हों तो उन्हें रात्रि के समय भी ले लेना चाहिए। उन वस्त्रों को यदि चोरों ने पहिने हों, धोये हों, रंगे हों, घोटे हों, मुलायम किये हों, धूप आदि से सुगन्धित किये हों तथापि वे ग्रहणीय हैं।

अध्वगमनप्रकृत सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के रात्रिगमन अथवा विकाल-विहार का निषेध किया गया है। इसी प्रकार आगे के सूत्र में यह बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को रात्रि अथवा विकाल के समय संखडि में अर्थात् दावत आदि के अवसर पर तन्निमित्त कहीं नहीं जाना चाहिए।

विचारभूमि एवं विहारभूमिसम्बन्धी प्रथम सूत्र में आचार्य ने बताया है कि निर्ग्रन्थों को रात्रि के समय विचारभूमि—उच्चारभूमि अथवा विहारभूमि—स्वाध्याय-भूमि में अकेले जाना अकल्प्य है। आवश्यकता होने पर उन्हें अपने साथ अन्य साधु अथवा साधुओं को लेकर ही बाहर निकलना चाहिए। इसी प्रकार निर्ग्रन्थियों को भी रात्रि के समय अकेले बाहर नहीं जाना चाहिए।

आर्यक्षेत्रविषयक सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विहारयोग्य क्षेत्र की मर्यादा पर प्रकाश डाला गया है। पूर्व में अंगदेश (चम्पा) एवं मगधदेश (राजगृह) तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा तक एवं उत्तर मे कुणाला तक आर्यक्षेत्र है। अतः साधु-साध्वियों को इसी क्षेत्र में विचरना चाहिए। इससे

बाहर जाने पर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि होती है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि का निश्चय होने की अवस्था में आर्यक्षेत्र से बाहर जाने में कोई हानि नहीं है। यहाँ तक प्रथम उद्देश का अधिकार है।

द्वितीय उद्देश :

द्वितीय उद्देश में पच्चीस सूत्र हैं। सर्वप्रथम उपाश्रयविषयक बारह सूत्रों में आचार्य ने बताया है कि जिस उपाश्रय में शालि, ब्रीहि, मुद्ग, माष, तिल, कुलत्थ, गोधूम, यव, यवयव आदि बिखरे पड़े हों वहाँ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को थोड़े समय के लिए भी नहीं रहना चाहिए। जिस उपाश्रय में शालि आदि बिखरे हुए न हों किन्तु एक ओर ढेर आदि के रूप में पड़े हों वहाँ हेमन्त एवं ग्रीष्मऋतु में साधु-साध्वियों को रहना कल्प्य है। जिस उपाश्रय में शालि आदि एक ओर ढेर अदि के रूप में पड़े हुए न हों किन्तु कोष्ठागार आदि में सुरक्षित रूप से रखे हुए हों वहाँ साधु-साध्वियों को वर्षाऋतु में रहना कल्प्य है। जहाँ सुराविकट एवं सौवीरविकट[1] कुम्भ आदि रखे हुए हों वहाँ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को थोड़े समय के लिए भी रहना अकल्प्य है। यदि किसी कारण से खोजने पर भी अन्य उपाश्रय उपलब्ध न हो तो एक या दो रात्रि के लिए वहाँ रहा जा सकता है, इससे अधिक नहीं। अधिक रहने पर छेद अथवा परिहार[2] का प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार शीतोदकविकट कुम्भ, उष्णोदकविकट कुंभ, ज्योति, दीपक आदि से युक्त उपाश्रय मे रहना भी निषिद्ध है। जिस उपाश्रय में पिण्ड, लोचक,[3] क्षीर, दधि, नवनीत, सर्पिष्, तैल, फाणित, पूप, शष्कुलिका, शिखरिणी आदि बिखरे पड़े हों वहाँ

---

१. सुराविकटं पिष्टनिष्पन्नम्, सौवीरविकटं तु पिष्टवर्जैर्गुडादिद्रव्यैर्निष्पन्नम्।
—क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृ० ९५२.

२. 'छेदो वा' पञ्चरात्रिन्दिवादिः 'परिहारो वा' मासलघुकादिस्तपोविशेषो भवतीति सूत्रार्थः।
—वही

३. पिण्डो नाम—यदशनादिकं 'सम्पन्नं' विशिष्टाहारगुणयुक्तं षड्रसोपेतमिति यावत्.........।
'यत्तु' यत् पुनरशनादि स्वभावादेव 'लुसम्' आहारगुणैरनुपेतं तद् लोचकं नाम जानीहि.............।
—वही पृ० ९६९.

साधु-साध्वियों को रहना अकल्प्य है। जहाँ पिण्ड आदि एक ओर रखे हुए हों वहाँ हेमन्त व ग्रीष्मऋतु में रहने में कोई हर्ज नहीं एवं जहाँ ये कोष्ठागार आदि में सुव्यवस्थित रूप में रखे हुए हों वहाँ वर्षाऋतु में रहने में भी कोई बाधा नहीं। निर्ग्रन्थियों को आगमनगृह (पथिक आदि के आगमन के हेतु बने हुए), विकृत-गृह (अनावृत गृह), वंशीमूल, वृक्षमूल अथवा अभ्रावकाश (आकाश) में रहना अकल्प्य है। निर्ग्रन्थ आगमनगृह आदि में रह सकते हैं।

आगे के सूत्रों में बताया गया है कि एक अथवा अनेक सागारिकों—वसति-स्वामियों—उपाश्रय के मालिकों के यहाँ से साधु-साध्वियों को आहारादि नहीं लेना चाहिए। यदि अनेक सागारिकों मे से किसी एक को खास सागारिक के रूप में प्रतिष्ठित किया हुआ हो तो उसे छोड़ कर शेष के यहाँ से आहारादि लिया जा सकता है। घर से बाहर निकाला हुआ एवं अन्य किसी के आहार के साथ मिलाया हुआ अथवा न मिलाया हुआ सागारिक के घर का आहार अर्थात् बहिरनिष्कामित (बहिर-निर्हृत) संसृष्ट अथवा असंसृष्ट सागारिकपिण्ड साधु-साध्वियों के लिए अकल्प्य है। हाँ, घर से बाहर निकाला हुआ एवं अन्य किसी के पिण्ड के साथ मिलाया हुआ सागारिकपिण्ड उनके लिए कल्प्य है। जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी घर से बाहर निकाले हुए सागारिक के असंसृष्ट पिण्ड को संसृष्ट पिण्ड करते हैं अथवा उसके लिए सम्मति प्रदान करते हैं वे चतुर्गुरु प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।[1]

किसी के यहाँ से सागारिक के लिए आहारादि आया हुआ हो एवं सागारिक ने उसे स्वीकार कर लिया हो तो वह साधु-साध्वियों के लिए अकल्प्य है। यदि सागारिक उसे अस्वीकार कर देता है तो वह पिण्ड साधु-साध्वियों के लिए कल्प्य है। सागारिक की निर्हृतिका (दूसरे के यहाँ भेजी हुई सामग्री) दूसरे ने स्वीकार न की हो तो वह निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए अकल्प्य है किन्तु यदि उसने स्वीकार कर ली है तो वह कल्प्य है।[2]

सागारिक का अंश अर्थात् हिस्सा अलग न किया हो तो दूसरे का अंशिका-पिण्ड भी श्रमण-श्रमणियों के लिए अकल्प्य है। सागारिक का अंश अलग करने पर ही दूसरे का अंश ग्रहणीय होता है।[3]

सागारिक के कलाचार्य आदि पूज्य पुरुषों के लिए तैयार किया हुआ प्राति-हारिक अर्थात् वापिस लौटाने योग्य अशनादि सागारिक स्वयं अथवा उसके

---

१. उ० २, सू० १३–६. २. उ० २, सू० १०–८. ३. उ० २, सू० १९.

परिवार का कोई व्यक्ति साधु-साध्वी को दे तो वह अग्रहणीय है। इसी तरह इस प्रकार का अशनादिक सागारिक का पूज्य स्वयं दे तब भी वह अकल्प्य है। अप्रातिहारिक अर्थात् वापिस न लौटने योग्य अशनादि सागारिक अथवा उसका परिजन दे तो अकल्प्य है किन्तु यदि सागारिक का पूज्य स्वयं दे तो कल्प्य है।[1]

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पाँच प्रकार के वस्त्र धारण करना कल्प्य है: जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरीटपट्टक।[2]

श्रमण श्रमणियों को पाँच प्रकार के रजोहरण रखना कल्प्य है: और्णिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक और मुंजचिप्पक।[3]

तृतीय उद्देश :

तृतीय उद्देश में इकतीस सूत्र हैं। उपाश्रय-प्रवेशसम्बन्धी प्रथम सूत्र में बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में बैठना, सोना, खाना, पीना, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग इत्यादि कुछ भी नहीं करना चाहिए। द्वितीय सूत्र मे निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय में बैठने आदि की मनाही की गई है।

चर्मविषयक चार सूत्रों मे बताया है कि निर्ग्रन्थियों को रोमयुक्त—सलोम चर्म का बैठने आदि मे उपयोग करना अकल्प्य है। निर्ग्रन्थ गृहस्थ द्वारा परिभोग किया हुआ—काम में लिया हुआ सलोम चर्म एक रात के लिए अपने काम में ले सकता है। तदनन्तर उसे वापिस मालिक को लौटा देना चाहिए। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को कृत्स्न अर्थात् वर्ण-प्रमाणादि से प्रतिपूर्ण चर्म का उपयोग अथवा संग्रह करना अकल्प्य है। वे अकृत्स्न चर्म का उपयोग एवं संग्रह कर सकते हैं।

---

१. उ० २, सू० २०–३.

२. उ० २, सू० २४ (जङ्गमाः त्रसाः तदवयवनिष्पन्नं जाङ्गमिकम्, सूत्रे प्राकृतत्वाद् मकारलोपः, भङ्गा अतसी तन्मयं भाङ्गिकम्, सनसूत्रमयं सानकम्, पोतकं कार्पासिकम्, तिरीटः वृक्षविशेषस्तस्य यः पट्टो वल्कललक्षणस्तन्निष्पन्नं तिरीटपट्टकं नाम पञ्चमम्).

३. उ० २, सू० २५ ('और्णिकं' ऊरणिकानामूर्णाभिर्निर्वृत्तम्, 'औष्ट्रिकं' उष्ट्ररोमभिर्निर्वृत्तम्, सानकं' 'सनवृक्षवल्काद् जातम्, 'वच्चकः' तृणविशेषस्तस्य 'चिप्पकः' कुट्टितः त्वग्रूपः तेन निष्पन्नं वच्चकचिप्पकम्, 'मुञ्जः' शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाद् जातं मुञ्जचिप्पकं नाम पञ्चममिति).

वस्त्रविषयक सूत्रों में यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को कृत्स्न वस्त्र का संग्रह एवं उपयोग करना अकल्प्य है। उन्हें अकृत्स्न वस्त्र का संग्रह एवं उपयोग करना चाहिए। इसी प्रकार साधु-साध्वियों को अभिन्न अर्थात् अच्छिन्न (बिना फाड़ा) वस्त्र काम में नहीं लेना चाहिए।[1] निर्ग्रंथियों को अवग्रहानन्तक (गुह्यदेशपिधानक—कच्छा) व अवग्रहपट्टक (गुह्यदेशाच्छादक—पट्टा) का उपयोग करना चाहिए।

त्रिकृत्स्नविषयक सूत्र में बताया गया है कि प्रथम बार दीक्षा लेने वाले साधु को रजोहरण, गोच्छक, प्रतिग्रह (पात्र) एवं तीन पूरे वस्त्र (जिनके आवश्यक उपकरण बन सकते हों) लेकर प्रव्रजित होना चाहिए। पूर्व-प्रव्रजित साधु को पुनः दीक्षा ग्रहण करते समय नई उपधि न लेते हुए अपनी पुरानी उपधि के साथ ही दीक्षित होना चाहिए। चतुःकृत्स्नविषयक सूत्र में पहले-पहल दीक्षा लेने वाली साध्वी के लिए चार पूरे वस्त्रों का विधान किया गया है। शेष उपकरण साधु के समान ही समझने चाहिए।

समवसरणसम्बन्धी सूत्र में ग्रन्थकार ने बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को प्रथम समवसरण अर्थात् वर्षाकाल में वस्त्र ग्रहण करना अकल्प्य है। द्वितीय समवसरण अर्थात् ऋतुबद्धकाल—हेमन्त-ग्रीष्मऋतु में वस्त्र लेने में कोई दोष नहीं।

यथारात्निकवस्त्रपरिभाजनप्रकृत सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को यथारत्नाधिक अर्थात् छोटे-बड़े की मर्यादा के अनुसार वस्त्र-विभाजन करने का आदेश दिया गया है। इसी प्रकार सूत्रकार ने यथारत्नाधिक शय्या-संस्तारक-परिभाजन का भी विधान किया है एवं बताया है कि कृतिकर्म—वन्दनादि कर्म के विषय में भी यही नियम लागू होता है।

अन्तरगृहस्थानादिप्रकृत सूत्र में आचार्य ने बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को घर के भीतर अथवा दो घरों के बीच में बैठना, सोना आदि अकल्प्य है। कोई रोगी, वृद्ध, तपस्वी आदि मूर्च्छित हो जाए अथवा गिर पड़े तो बैठने आदि में कोई दोष नहीं है। निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को अन्तरगृह में चार-पाँच

---

१. रंग आदि से जिसका आकार आकर्षक एवं सुन्दर बनाया गया है वह कृत्स्न वस्त्र है। अभिन्न वस्त्र बिना फाड़े हुए पूरे वस्त्र को कहते हैं, चाहे वह सादा हो अथवा रंगीन। श्रमण-श्रमणियों के लिए इन दोनों प्रकार के वस्त्रों का निषेध किया गया है।

गाथाओं का आख्यान नहीं करना चाहिए। एक गाथा आदि का आख्यान खड़े-खड़े किया जा सकता है।

शय्या-संस्तारकसम्बन्धी सूत्रों में बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को प्रातिहारिक (वापिस देने योग्य) उपकरण मालिक को सौंपे बिना अन्यत्र विहार नहीं करना चाहिए। शय्यातर अर्थात् मकान-मालिक के शय्या-संस्तारक को अपने लिए जमाये हुए रूप में न छोड़ते हुए बिखेर कर व्यवस्थित करने के बाद ही अन्यत्र विहार करना चाहिए। अपने पास के शय्यातर के शय्या-संस्तारक को यदि कोई चुरा ले जाए तो उसकी खोज करनी चाहिए एवं वापिस मिलने पर शय्यातर को सौंप देना चाहिए। पुनः आवश्यकता होने पर याचना करके उसका उपयोग करना चाहिए।

अवग्रहविषयक सूत्रों में सूत्रकार ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि जिस दिन कोई श्रमण वसति एवं संस्तारक का त्याग करें उसी दिन दूसरे श्रमण वहाँ आ जावें तो भी एक दिन तक पहले के श्रमणों का अवग्रह (अधिकार) कायम रहता है।

सेनाप्रकृत सूत्र में बताया है कि ग्राम, नगर आदि के बाहर सेना का पड़ाव पड़ा हो तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को उसी दिन भिक्षाचर्या करके अपने स्थान पर लौट आना चाहिए। वैसा न करने पर प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

अवग्रप्रमाणप्रकृत सूत्र में ग्रन्थकार ने बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को चारों ओर से सवा वर्ग योजन का अवग्रह रख कर ग्राम, नगर आदि में रहना कल्प्य है।

चतुर्थ उद्देश :

चतुर्थ उद्देश में सैंतीस सूत्र हैं। प्रारम्भिक सूत्रों में आचार्य ने बताया है कि हस्तकर्म, मैथुन[1] एवं रात्रिभोजन अनुद्घातिक अर्थात् गुरुप्रायश्चित्त के योग्य हैं। दुष्ट, प्रमत्त एवं अन्योन्यकारक के लिए पाराञ्चिक प्रायश्चित्त का विधान है। साधर्मिकस्तैन्य, अन्यधार्मिकस्तैन्य एवं हस्तातात (हस्तताडन—मुष्टि आदि द्वारा प्रहार) अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

---

१. विनय-पिटक के पाराजिक प्रकरण में मैथुनसेवन के लिए पाराजिक प्रायश्चित्त का विधान है। पाराजिक का अर्थ है भिक्षु को भिक्षुपन से हमेशा के लिए हटा देना।

पंडक, वातिक एवं क्लीब प्रव्रज्या के लिए अयोग्य हैं[1]। इतना ही नहीं, ये मुंडन, शिक्षा, उपस्थापना, सम्भोग (एक मण्डली में भोजन), संवास इत्यादि के लिए भी अयोग्य हैं।[2]

अविनीत, विकृतिप्रतिबद्ध व अव्यवशमित-प्राभृत (क्रोधादि शान्त न करने वाला) वाचना—सूत्रादि पढ़ाने के लिए अयोग्य हैं। विनीत, विकृतिविहीन एवं उपशान्तकषाय वाचना के लिए सर्वथा योग्य हैं।[3]

दुष्ट, मूढ़ एवं व्युद्ग्राहित (विपरीत बोध में दृढ़) दुःसंज्ञाप्य हैं अर्थात् कठिनाई से समझाने योग्य हैं। ये उपदेश, प्रव्रज्या आदि के अनधिकारी हैं। अदुष्ट, अमूढ़ तथा अव्युद्ग्राहित उपदेश आदि के अधिकारी हैं।[4]

निर्ग्रन्थी ग्लान—रुग्ण अवस्था में हो एवं किसी कारण से अपने पिता, भ्राता, पुत्र आदि का सहारा लेकर उठे-बैठे तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त–गुरु प्रायश्चित्त का सेवन करना पड़ता है। इसी प्रकार रुग्ण निर्ग्रन्थ अपनी माता, भगिनी, पुत्री आदि का सहारा ले तो उसे भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का सेवन करना पड़ता है।[5]

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को कालातिक्रान्त एवं क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना अकल्प्य है। प्रथम पौरुषी (पहर) का लाया हुआ आहार चतुर्थ पौरुषी तक रखना अकल्प्य है। कदाचित् अनजान में इस प्रकार का आहार रह भी जाए तो उसे न खुद को खाना चाहिए, न अन्य साधु को देना चाहिए। एकान्त निर्दोष स्थान देखकर उसकी यतनापूर्वक परिष्ठापना कर देनी चाहिए–उसे सावधानी से रख देना चाहिए। अन्यथा चातुर्मासिक लघु प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है। इसी प्रकार क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन करने पर भी चातुर्मासिक लघु प्रायश्चित्त का सेवन करना पड़ता है।[6]

---

१. उ० ४, सू० ४ ('पण्डकः' नपुंसकः, 'वातिको' नाम यदा स्वनिमित्ततोऽन्यथा वा मेहनं काषायितं भवति तदा न शक्नोति वेदं धारयितुं यावन्न प्रतिसेवा कृता, 'क्लीबः' असमर्थः).
विनय-पिटक के उपसम्पदा और प्रव्रज्या प्रकरण में प्रव्रज्या के लिए अयोग्य व्यक्ति का विस्तार से विचार किया गया है।

२. उ० ४, सू० ५–९. ३. उ० ४, सू० १०–१. ४. उ० ४, सू० १२–३. ५. उ० ४, सू० १४–५. ६. उ० ४, सू० १६–७.

भिक्षाचर्या में अनजाने अनेषणीय स्निग्ध अशनादि ले लिया गया हो तो उसे अनुपस्थापित-श्रमण (अनारोपितमहाव्रत) को दे देना चाहिए। यदि वैसा श्रमण न हो तो उसकी निर्दोष भूमि में परिष्ठापना कर देनी चाहिए।[१]

कल्पस्थित अर्थात् आचेलक्यादि दस प्रकार के कल्प में स्थित श्रमणों के लिए बनाया हुआ आहार आदि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए कल्प्य है, कल्पस्थित श्रमणों के लिए नहीं। जो आहार आदि अकल्पस्थित श्रमणों के लिए बनाया गया हो वह कल्पस्थित श्रमणों के लिए अकल्प्य होता है किन्तु अकल्पस्थित श्रमणों के लिए कल्प्य होता है।[२] कल्पस्थित का अर्थ है पञ्चयामधर्मप्रतिपन्न—पंचयामिक एवं अकल्पस्थित का अर्थ है चतुर्यामधर्मप्रतिपन्न—चातुर्यामिक।

किसी निर्ग्रन्थ को ज्ञानादि के कारण अन्य गण में उपसंपदा लेनी हो—दूसरे समुदाय के साथ विचरना हो तो आचार्य आदि की अनुमति लेना अनिवार्य है। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि को भी अपने समुदाय की आवश्यक व्यवस्था करके ही अन्य गण में सम्मिलित होना चाहिए।[३]

संध्या के समय अथवा रात में कोई साधु अथवा साध्वी मर जाए तो दूसरे साधुओं अथवा साध्वियों को उस मृत शरीर को रात भर ठीक तरह रखना चाहिए। प्रातःकाल गृहस्थ के यहाँ से बाँस आदि लाकर मृतक को बाँध कर जंगल मे निर्दोष भूमि देख कर प्रतिष्ठापित कर देना चाहिए—त्याग देना चाहिए एवं बाँस आदि वापिस गृहस्थ को सौंप देने चाहिए।[४]

भिक्षु ने गृहस्थ के साथ अधिकरण—झगड़ा किया हो तो उसे शान्त किये बिना भिक्षु को भिक्षाचर्या आदि करना अकल्प्य है।[५]

परिहारकल्प मे स्थित भिक्षु को आचार्य-उपाध्याय इन्द्रमह आदि उत्सव के दिन विपुल भक्त-पानादि दिला सकते हैं। तदुपरान्त वैसा नहीं कर सकते। जहाँ तक उसकी वैयावृत्य—सेवा का प्रश्न है, किसी भी प्रकार की सेवा की-कराई जा सकती है।[६]

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को निम्नोक्त पाँच महानदियाँ महीने में एक से अधिक बार पार नहीं करनी चाहिए : गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका और मही। ऐरावती आदि छिछली नदियाँ महीने में दो-तीन बार पार की जा सकती हैं।[७]

---

१. उ० ४, सू० १८. २. उ० ४, सू० १९. ३. उ० ४, सू० २०-८.
४. उ० ४, सू० २९. ५. उ० ४, सू० ३०. ६. उ० ४, सू० ३१.
७. उ० ४, सू० ३२-३ (ऐरावती नदी कुणाला नगरी के पास है).

साधु-साध्वियों को घास के ऐसे निर्दोष घर में जिसमें मनुष्य अच्छी तरह खड़ा नहीं रह सकता, हेमन्त-ग्रीष्मऋतु में रहना वर्जित है। यदि इस प्रकार के घर में अच्छी तरह खड़ा रहा जा सकता है तो उसमें साधु-साध्वी हेमन्त-ग्रीष्म-ऋतु में रह सकते हैं। यदि तृणादि का बनाया हुआ निर्दोष घर मनुष्य के दो हाथ से कम ऊँचा है तो वह साधु-साध्वियों के लिए वर्षाऋतु में रहने योग्य नहीं है। यदि इस प्रकार का घर मनुष्य के दो हाथ से अधिक ऊँचा है तो उसमे साधु-साध्वी वर्षाऋतु में रह सकते हैं।[1]

पंचम उद्देश :

पंचम उद्देश में ब्रह्मापाय आदि दस प्रकार के विषयों से सम्बन्धित बयालीस सूत्र हैं। ब्रह्मापायसंबन्धी प्रथम चार सूत्रों में आचार्य ने बताया है कि यदि कोई देव स्त्री का रूप बनाकर साधु का हाथ पकड़े और वह साधु उस हस्तस्पर्श को सुखजनक माने तो उसे अब्रह्म की प्राप्ति होती है अर्थात् वह मैथुनप्रतिसेवन के दोष को प्राप्त होता है एवं उसे चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है। इसी प्रकार साध्वी के लिए भी उपर्युक्त अवस्था में (पुरुष के हाथ का स्पर्श होने पर) चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

अधिकरणविषयक सूत्र में यह बताया है कि यदि कोई भिक्षु क्लेश को शान्त किये बिना ही अन्य गण में जाकर मिल जाए एवं उस गण के आचार्य को यह मालूम हो जाए कि यह साधु कलह करके आया हुआ है तो उसे पाँच रात-दिन का छेद प्रायश्चित्त देना चाहिए तथा अपने पास रखकर समझा-बुझा कर शान्त करके पुनः अपने गण में भेज देना चाहिए।

संस्तृतासंस्तृतनिर्विचिकित्सविषयक सूत्रों में बताया गया है कि सशक्त अथवा अशक्त भिक्षु सूर्य के उदय एवं अनस्त के प्रति निःशंक होकर भोजन करता हो और बाद में मालूम हो कि सूर्य उगा ही नहीं है अथवा अस्त हो गया है एवं ऐसा मालूम होते ही भोजन छोड़ दे तो उसकी रात्रिभोजनविरति अखंडित रहती है। सूर्योदय एवं सूर्यास्त के प्रति शंकाशील होकर आहार करने वाले की रात्रि-भोजनविरति खंडित होती है।

उद्गारप्रकृत सूत्र में बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को डकार (उद्गार) आदि आने पर थूंक कर मुख साफ कर लेने से रात्रिभोजन का दोष नहीं लगता।

---

1. उ० ४, सू० २४-७.

आहारविषयक सूत्र में बताया है कि आहारादि ग्रहण करते समय साधु-साध्वी के पात्र में द्वीन्द्रियादिक जीव, बीज, रज आदि आ पड़े तो उसे यतनापूर्वक निकाल कर आहार को शुद्ध करके खाना चाहिए। यदि रज आदि आहार से न निकल सके तो वह आहार लेनेवाला न स्वयं खाए, न अन्य साधु-साध्वी को खिलाए अपितु उसे एकान्त निर्दोष स्थान में परिष्ठापित कर दे। आहारादि लेते समय सचित्त पानी की बूंदें आहार में गिर जाएँ और वह आहार गर्म हो तो उसे खाने में कोई दोष नहीं है क्योंकि उसमें पड़ी बूंदें अचित्त हो जाती हैं। यदि वह आहार ठंडा है तो उसे न स्वयं खाना चाहिए, न दूसरों को दिलाना चाहिए अपितु एकान्त स्थान में यतनापूर्वक रख देना चाहिए।

ब्रह्मरक्षाविषयक सूत्रों में बताया गया है कि पेशाब आदि करते समय साधु-साध्वी की किसी इन्द्रिय का पशु-पक्षी स्पर्श करे और वह उसे सुखदायी माने तो उसे चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त लगता है। निर्ग्रन्थी के एकाकी वास आदि का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि निर्ग्रन्थी को अकेली रहना अकल्प्य है। इसी प्रकार साध्वी को नग्न रहना, पात्ररहित रहना, व्युत्सृष्टकाय होकर (शरीर को ढीला-ढाला रखकर) रहना, ग्रामादि के बाहर आतापना लेना, उत्कटुकासन पर बैठकर कायोत्सर्ग करना, वीरासन पर बैठ कर कायोत्सर्ग करना, दंडासन पर बैठकर कायोत्सर्ग करना, लगंडशायी होकर कायोत्सर्ग करना, आकुंचनपट्ट (पर्यस्तिकापट्ट) रखना, सावश्रय[1] आसन पर बैठना-सोना, सविषाण पीठ-फलक पर बैठना-सोना, नालयुक्त अलाबुपात्र रखना, सवृन्त पादकेसरिका[2] रखना, दारुदण्डक (पादप्रोंछनक) रखना आदि भी कल्प्य नहीं है।

मोकविषयक सूत्र में बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को परस्पर मोक (पेशाब अथवा थूक) का आचमन करना—पान करना अकल्प्य है। रोगादिक कारणों से वैसा करने की छूट है।

परिवासितप्रकृत प्रथम सूत्र में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को परिवासित अर्थात् रात्रि में रखा हुआ आहार खाने की मनाही की गई है। शेष सूत्रों में परिवासित आलेपन, परिवासित तैल आदि का उपयोग करने का निषेध किया गया है।

परिहारकल्पविषयक सूत्र में बताया गया है कि परिहारकल्प में स्थित भिक्षु को यदि स्थविर आदि के आदेश से अन्यत्र जाना पड़े तो तुरन्त जाना चाहिए

---

१. पीठवाला—सावश्रयं नाम यस्य पृष्ठतोऽवष्टम्भो भवति।

२. "पादकेसरिया णाम डहरयं चीरं। असईए चीराणां दारुए बज्झति" इति चूर्णौ।

एवं काम पूरा करके वापिस लौट आना चाहिए। ऐसा करने में यदि चारित्र में किसी प्रकार का दोष लगे तो उसका यथोचित प्रायश्चित्त करना चाहिए।

पुलाकभक्तप्रकृत सूत्र में सूत्रकार ने इस बात पर जोर दिया है कि साध्वियों को एक स्थान से पुलाकभक्त अर्थात् सरस आहार (भारी भोजन) प्राप्त हो जाए तो उस दिन उसी आहार से संतोष करते हुए दूसरी जगह और आहार लेने नहीं जाना चाहिए। यदि उस आहार से पूरा पेट न भरे तो दूसरी बार भिक्षा के लिए जाने में कोई हर्ज नहीं है।

षष्ठ उद्देश :

षष्ठ उद्देश में बीस सूत्र हैं। इसमें बताया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को निम्नलिखित छः प्रकार के वचन नहीं बोलने चाहिए : अलीकवचन, हीलितवचन, खिंसितवचन, परुषवचन, गार्हस्थिकवचन और व्यवशमितोदीरणवचन।[1]

कल्प (साध्वाचार) के विशुद्धिमूलक छः प्रस्तार (प्रायश्चित्त की रचना-विशेष) हैं : प्राणातिपात का आरोप लगानेवाले से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, मृषावाद का आरोप लगानेवाले से संबन्धित प्रायश्चित्त, अदत्तादान का आरोप लगाने वाले से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, अविरतिका (स्त्री) अथवा अब्रह्म (मैथुन) का आरोप लगाने वाले से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, अपुरुष-नपुंसक का आरोप लगाने वाले से सम्बन्धित प्रायश्चित्त और दास का आरोप लगाने वाले से सम्बन्धित प्रायश्चित्त।[2]

निर्ग्रन्थ के पैर में काँटा आदि लग जाए और निर्ग्रन्थ उसे निकालने मे असमर्थ हो तो निर्ग्रन्थी उसे निकाल सकती है। इसी प्रकार निर्ग्रन्थ के आँख में मच्छर आदि गिर जाने पर निर्ग्रन्थी उसे अपने हाथ से निकाल सकती है। यही बात निर्ग्रन्थियों के पैर के काँटे एवं आँख के मच्छर आदि के विषय में समझनी चाहिए।[3]

साधु के डूबने, गिरने, फिसलने आदि का मौका आने पर साध्वी एवं साध्वी के डूबने आदि के अवसर पर साधु हाथ आदि पकड़ कर एक-दूसरे को डूबने से बचा सकते हैं।[4]

क्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ अपने हाथ से पकड़ कर उसके स्थान आदि पर पहुँचा दे तो उसे कोई दोष नहीं लगता। इसी प्रकार दीप्तचित्त साध्वी को भी साधु अपने हाथ से पकड़ कर उपाश्रय आदि तक पहुँचा सकता है।[5]

1. उ० ६, सू० १. 2. उ० ६, सू० २. 3. उ० ६, सू० ३-६. 4. उ० ६, सू० ७-९. 5. उ० ६, सू० १०-८.

साध्वाचार के छः परिमंथ—व्याघातक कहे गये हैं : कौकुचित (कुचेष्टा), मौखरिक (बहुभाषी), चक्षुर्लोल, तिन्तिणिक (खेदयुक्त), इच्छालोभ और भिज्जानिदानकरण (लोभवशात् निदानकरण)।[1]

छः प्रकार की कल्पस्थिति कही गयी है : सामायिकसंयतकल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थिति, निर्विशमानकल्पस्थिति, निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति और स्थविरकल्पस्थिति।[2] कल्पशास्त्रोक्त साध्वाचार की मर्यादा का नाम कल्पस्थिति है।

बृहत्कल्प सूत्र के इस परिचय से स्पष्ट है कि इस लघुकाय ग्रंथ का जैन आचारशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। साधु-साध्वियों के जीवन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का सुनिश्चित विधान इसकी विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह कल्पशास्त्र (आचारशास्त्र) कहा जाता है।

---

१. उ० ६, सू० १९ (इनका विशेष अर्थ वृत्ति आदि में देखना चाहिए).
२. उ० ६, सू० २०.

प्रकरण ३

व्यवहार

तृतीय प्रकरण

व्यवहार

बृहत्कल्प और व्यवहार एक दूसरे के पूरक हैं। बृहत्कल्प की तरह व्यवहार[1] भी गद्य में ही है। इसमें दस उद्देश हैं जिनमें लगभग ३०० सूत्र हैं। प्रथम उद्देश मे निष्कपट और सकपट आलोचक, एकल विहारी साधु आदि से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय उद्देश में समान सामाचारी वाले दोषी साधुओं से सम्बन्धित प्रायश्चित्त, सदोष रोगी आदि की वैयावृत्य—सेवा, अनवस्थित आदि की पुनः संयम मे स्थापना, गच्छ त्याग कर पुनः गच्छ मे सम्मिलित होने वाले की परीक्षा एवं प्रायश्चित्तदान, साधुओं का पारस्परिक व्यवहार आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय उद्देश में निम्न बातों का विचार किया गया है : गच्छाधिपति होने वाले साधु की योग्यता, पदवीधारियों का आचार, तरुण साधु का आचार, गच्छ में रह कर अथवा गच्छ छोड़ कर अनाचार का सेवन करने वाले के लिए प्रायश्चित्त, मृषावादी को पदवी देने का निषेध। चतुर्थ उद्देश मे निम्न विषयों का समावेश है : आचार्य आदि पदवीधारियों का परिवार, आचार्य आदि के साथ विहार मे रहने वाला परिवार, आचार्य आदि की मृत्यु और साधुओं का कर्तव्य, युवाचार्य की स्थापना, ज्ञानादि के निमित्त अन्य गच्छ में जाना आदि। पंचम उद्देश मे साध्वी के आचार, साधु साध्वी के पारस्परिक व्यवहार, आचार्यादि की प्रायश्चित्त प्रदान करने की

---

१. (अ) W. Schubring, Leipzig, 1918; जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना, सन् १९२३.

(आ) अमोलकऋषिकृत हिन्दी अनुवादसहित—सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी० सं० २४४५.

(इ) गुजराती अनुवादसहित—जीवराज घेलाभाई दोशी, अहमदाबाद, सन् १९२५.

(ई) निर्युक्ति, भाष्य तथा मलयगिरिविरचित विवरणयुक्त—केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद, वि० सं० १९८२-८५.

योग्यता, साधु-साध्वी की पारस्परिक वैयावृत्य आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। षष्ठ उद्देश में निम्न बातों का विचार किया गया है : साधुओं को सम्बन्धियों के घर कैसे जाना चाहिए, आचार्य-उपाध्याय आदि के क्या अतिशय हैं, शिक्षित एवं अशिक्षित साधुओं मे क्या विशेषता है, खुले एवं ढके स्थानक मे रहने की क्या विधि है, मैथुनेच्छा के लिए क्या प्रायश्चित्त है, अन्य गच्छ से आने वाले साधु-साध्वियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए आदि। सप्तम उद्देश में निम्नोक्त विषयों का समावेश किया गया है : संभोगी (परस्पर आहार-विहार का सम्बन्ध रखने वाले) साधु-साध्वियों का परस्पर व्यवहार, साधु-साध्वी की दीक्षा, साधु-साध्वी के आचार की भिन्नता, साधु-साध्वी को पदवी प्रदान करने का उचित काल, राज्यव्यवस्था में परिवर्तन होने की दशा मे साधुओं का कर्तव्य इत्यादि। अष्टम उद्देश मे शय्या-संस्तारक आदि विविध उपकरण ग्रहण करने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। नवम उद्देश में शय्यातर—सागारिक (मकान-मालिक) के अतिथि आदि के आहार से सम्बन्धित विधि-निषेध का विचार करते हुए भिक्षु-प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। दशम उद्देश में यवमध्य-प्रतिमा, वज्रमध्य-प्रतिमा, पाँच प्रकार के व्यवहार एवं बालदीक्षा की विधि पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

प्रथम उद्देश :

पहले उद्देश के प्रारम्भ में सूत्रकार ने बताया है कि मासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष का सेवन कर उसकी आचार्यादि के समक्ष कपटरहित आलोचना करने वाले साधु को एकमासिक प्रायश्चित्त ही करना पड़ता है, जबकि कपटयुक्त आलोचक उससे दुगुने अर्थात् द्विमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। द्विमासिक प्रायश्चित्त के योग्य निष्कपट आलोचक को द्विमासिक एवं सकपट आलोचक को त्रिमासिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है। इस प्रकार त्रि, चतुर्, पंच एवं अधिक से अधिक षण्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। पंचमासिक प्रायश्चित्त के योग्य निष्कपट आलोचक को पंचमासिक एवं सकपट आलोचक को षण्मासिक प्रायश्चित्त लगता है। इसके उपरान्त सकपट अथवा निष्कपट किसी भी प्रकार के आलोचक के लिए षण्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। अनेक दोषों का सेवन करने वाले के लिए बताया गया है कि अनेक दोषों मे से जिसका पहले सेवन किया हो उसकी पहले आलोचना करे एवं जिसका पीछे सेवन किया हो उसकी पीछे आलोचना करे। इस प्रकार आलोचना करता हुआ सब दोषों का एक साथ प्रायश्चित्त ले। प्रायश्चित्त करते हुए पुनः दोष लगे तो पुनः उसका प्रायश्चित्त

करना चाहिए। प्रायश्चित्त समाप्त होते ही कोई दोष लग जाए तो फिर से प्रायश्चित्त प्रारम्भ करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले साधु को स्थविर आदि से पूछ कर ही अन्य साधुओं के साथ उठना-बैठना चाहिए। उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर किसी के साथ उठने-बैठने वाले को जितने दिन तक आज्ञा का उल्लंघन किया हो उतने ही दिन का छेद-प्रायश्चित्त आता है अर्थात् उतने दिन उसकी दीक्षा की समय-गणना में कम हो जाते हैं। परिहारकल्प मे स्थित अर्थात् पारिहारिक प्रायश्चित्त का सेवन करने वाला साधु अपने आचार्य की आज्ञा से बीच ही में परिहारकल्प का त्याग कर स्थविर[1] आदि की वैयावृत्य के लिए अन्यत्र जा सकता है। सामर्थ्य रहते हुए परिहारकल्प का सेवन करते हुए जाना चाहिए। सामर्थ्य न होने पर उसका त्याग कर देना चाहिए।

एकलविहारी साधु के विषय में सूत्रकार कहते हैं कि कोई साधु गण का त्याग कर अकेला ही विचरे एवं अकेला विचरता हुआ अपने को शुद्ध आचार का पालन करने में असमर्थ पाकर पुनः उसी गण में सम्मिलित होना चाहे तो उसे आलोचना आदि करवाकर प्रथम दीक्षा को छेदकर—भंगकर दूसरी दीक्षा अंगीकार करवानी चाहिए। जो नियम सामान्य एकलविहारी साधु के लिए है वही एकलविहारी गणावच्छेदक, आचार्य आदि के लिए भी है। शिथिलाचारियों के लिए भी इसी प्रकार का विधान है।

आलोचना किसके सम्मुख करनी चाहिए? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि आचार्य-उपाध्याय आदि की उपस्थिति में उन्हीं के समक्ष आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि करके विशुद्ध होना चाहिए। आचार्यादि की अनुपस्थिति मे सम्भोगी (सहभोजी), साधर्मिक (समानधर्मी), बहुश्रुत आदि के सन्मुख आलोचना आदि करना कल्प्य है। कदाचित् सम्भोगी आदि भी पास में न हों तो जहाँ अन्य गण के सम्भोगी, बहुश्रुत आदि हों वहाँ जाकर आलोचना कर प्रायश्चित्त अङ्गीकार करना चाहिए। कदाचित् इस प्रकार के साधु भी देखने में न आवें तो जहाँ सारूपिक (सारूविय—सदोषी) बहुश्रुत साधु हों वहाँ जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। सारूपिक बहुश्रुत साधु के अभाव मे बहुश्रुत श्रमणोपासक (श्रावक) एवं उसके अभाव में समभावी सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के पास जाकर

---

1. जघन्य तीन वर्ष, मध्यम पाँच वर्ष एवं उत्कृष्ट बीस वर्ष का दीक्षित साधु स्थविर कहा जाता है।

प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। इन सब का अभाव होने पर गाँव के बाहर जाकर पूर्व अथवा उत्तर दिशा के सन्मुख खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर अपने अपराध की आलोचना करते हुए प्रायश्चित्त अङ्गीकार करना चाहिए।

द्वितीय उद्देश :

व्यवहार के दूसरे उद्देश मे ग्रन्थकार ने बताया है कि एक-सी सामाचारी (आचार के नियम) वाले दो साधर्मिक साथ में हों और उनमें से किसी एक ने दोष-स्थान का सेवन किया हो तो दूसरे के सन्मुख प्रायश्चित्त अङ्गीकार करना चाहिए। प्रायश्चित्त करने वाले की वैयावृत्य आदि का भार दूसरे साधु पर ही रहता है। दो साथ के साधर्मिकों में से दोनों ने दोषस्थान का सेवन किया हो तो क्रमशः एक के बाद दूसरे के सामने आलोचना कर प्रायश्चित्त करना चाहिए एवं परस्पर वैयावृत्य करनी चाहिए। अनेक साधर्मिक साधुओं में से किसी एक साधु ने अपराध किया हो तो गीतार्थ (शास्त्रज्ञ) साधु का कर्तव्य है कि वह उसे प्रायश्चित्त दे। कदाचित् सब साधुओं ने अपराध-स्थान का सेवन किया हो तो पहले उनमें से एक को छोड़कर शेष प्रायश्चित्त स्वीकार करें एवं उनका प्रायश्चित्त पूरा होने पर वह भी प्रायश्चित्त कर ले।

परिहारकल्पस्थित साधु कदाचित् रुग्ण हो जाए तो उसे गच्छ से बाहर निकालना अकल्प्य है। जहाँ तक वह स्वस्थ न हो जाए, उसकी वैयावृत्य करवाना गणावच्छेदक का कर्तव्य है। स्वस्थ होने के बाद उसे थोड़ा-सा प्रायश्चित्त दे देना चाहिए क्योंकि उसने सदोषावस्था में अपनी सेवा करवाई है। इसी प्रकार अनवस्थाप्य एवं पारांचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था में गच्छ से बाहर नहीं निकालना चाहिए।

क्षिप्तचित्त (जिसका चित्त अपमानादि के कारण विक्षिप्त हो गया है) साधु को गच्छ से बाहर निकालना गणावच्छेदक को अकल्प्य है। जहाँ तक उसका चित्त स्थिर न हो जाए, उसकी यथोचित सेवा करनी चाहिए। स्वस्थ होने के बाद उसे नाममात्र का प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार दीप्तचित्त (जिसका चित्त अभिमानादि के कारण उद्दीप्त हो गया है), उन्मादप्राप्त, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण (क्रोधादि के आवेश से युक्त), सप्रायश्चित्त (प्रायश्चित्त से अति व्याकुल) आदि को गच्छ से बाहर निकालना अकल्प्य है।

अनवस्थाप्य तप (नवम प्रायश्चित्त) करने वाले साधु को गृहस्थलिंग धारण कराये बिना संयम में स्थापित करना निषिद्ध है क्योंकि उसका अपराध इतना

पड़ता है कि बिना वैसा किए उसका पूरा प्रायश्चित्त नहीं हो पाता और न दूसरे साधुओं के मन में उस प्रकार के अपराध के प्रति भय ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पारांचिक तप (दशम प्रायश्चित्त) वाले साधु को भी गृहस्थ का वेष पहिनाने के बाद ही पुनः संयम में स्थापित करना चाहिए। प्रायश्चित्तदाता को यह भी अधिकार है कि वह गृहस्थ का वेष न पहिना कर अन्य प्रकार का वेष भी पहिना सकता है।

अनेक पारिहारिक (प्रायश्चित्तवाले) और अपारिहारिक साधु एक साथ भोजन करना चाहें, यह ठीक नहीं है। पारिहारिक साधुओं के साथ तप पूर्ण हुए बिना अपारिहारिक साधुओं को भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि जो तपस्वी हैं उनका तप पूरा होने के बाद एक महीने के तप पर पाँच दिन यावत् छः महीने के तप पर एक महीना व्यतीत हो जाने के पूर्व उनके साथ कोई भोजन नहीं कर सकता। इन दिनों में उन्हें विशेष प्रकार के आहार की आवश्यकता रहती है जो दूसरों के लिए जरूरी नहीं होता।

तृतीय उद्देश :

तीसरे उद्देश में बताया गया है कि किसी साधु के मन में अपना अलग गण—गच्छ बना कर विचरने की इच्छा हो किन्तु वह आचाराङ्गादि सूत्रों का जानकार न हो तो उसे शिष्यादि परिवारसहित होने पर भी अलग गण बनाकर स्वेच्छाचारी होना शोभा नहीं देता। यदि वह आचाराङ्गादि सूत्रों का ज्ञाता है तो अपना अलग गण बनाकर घूम सकता है किन्तु वैसा करने के लिए स्थविर की अनुमति लेना अनिवार्य है। स्थविर की इच्छा के विरुद्ध अलग गण बनाकर विचरने वाले को उतने ही दिन के छेद अथवा पारिहारिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है। उसके साथ के साधर्मिक साधुओं के लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नहीं है।

उपाध्याय-पद की योग्यताओं का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला है, निर्ग्रन्थ के आचार में कुशल है, संयम में प्रवीण है, आचाराङ्गादि प्रवचन-शास्त्रों में निष्णात है, प्रायश्चित्त देने में समर्थ है, गच्छ के लिए क्षेत्रादि का निर्णय करने में कुशल है, निर्दोष आहारादि ढूंढने में प्रवीण है, संक्लिष्ट परिणामों से अस्पृष्ट है, चारित्रवान् है, बहुश्रुत है उसे उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना कल्प्य है। जो पाँच वर्ष की निर्ग्रन्थपर्याय वाला है, श्रमण के आचार में कुशल है, प्रवचन में प्रवीण है यावत् कम से

कम दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार का ज्ञाता है उसे आचार्य एवं उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना कल्प्य है। आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण यदि आचारकुशल, प्रवचनप्रवीण एवं असंक्लिष्टमना है तथा कम-से-कम स्थानाङ्ग व समवायांग का ज्ञाता है तो उसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी (साध्वियों में प्रधान), स्थविर, गणी (सूत्रार्थदाता) एवं गणावच्छेदक (साधुओं का नियन्त्रणकर्ता) की पदवी प्रदान की जा सकती है। इन नियमों का अपवाद भी है। निरुद्ध पर्याय वाले अर्थात् कारणवशात् संयम से भ्रष्ट हो पुनः संयमी बनने वाले एक ही दिन की दीक्षापर्याय वाले साधु को भी आचार्य-उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इस प्रकार का साधु प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत एवं बहुमत कुल का होना आवश्यक है। साथ ही उसमें भी प्रतीति, धैर्य, समभाव आदि स्वकुलोपलब्ध गुणों का होना जरूरी है। आचारांगादि सूत्रों का ज्ञान तो आवश्यक है ही। इस प्रकार का पुरुष जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न एवं गुणसम्पन्न होने के कारण अपने दायित्व का सम्यक् प्रकार से निर्वाह कर सकता है।

तरुण साधुओं को आचार्य-उपाध्याय का देहावसान हो जाने पर उन पदों पर किसी की प्रतिष्ठा किये बिना रहना अकल्प्य है। उन्हे आचार्य एवं उपाध्याय की योग्यता वाले साधुओं को तत्तद् पद पर प्रतिष्ठित कर उनकी आज्ञा के अनुसार ही संयम का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार नवदीक्षित तरुण साध्वियों को भी प्रवर्तिनी आदि के अभाव में रहना अकल्प्य है।

मैथुन का सेवन करने वाले साधुओं को आचार्यादि की पदवी के अयोग्य बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जो गच्छ से अलग हुए बिना अर्थात् गच्छ में रहते हुए ही मैथुन का सेवन करे वह यावज्जीवन आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी एवं गणावच्छेदक की पदवी के अयोग्य है। गच्छ का त्याग कर मैथुन सेवन करने वाले को पुनः दीक्षा धारण कर गच्छ मे सम्मिलित होने के बाद तीन वर्ष तक आचार्यादि की पदवी प्रदान करने का निषेध है। तीन वर्ष बीतने पर यदि उसका मन स्थिर हो, विकार शान्त हों, कषायादि का अभाव हो तो उसे आचार्यादि के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

चतुर्थ उद्देश :

चौथे उद्देश में सूत्रकार ने बताया है कि हेमन्त और ग्रीष्मऋतु में आचार्य एवं उपाध्याय के साथ कम से कम एक अन्य साधु होना ही चाहिए। गणाव-

च्छेदक को हेमन्त एवं ग्रीष्मऋतु में कम से कम दो अन्य साधुओं के साथ रहने पर ही विचरना चाहिए। वर्षाऋतु में आचार्य एवं उपाध्याय के साथ दो एवं गणावच्छेदक के साथ तीन अन्य साधुओं का होना अनिवार्य है।

ग्रामानुग्राम विचरते हुए अपने गण के आचार्य आदि की मृत्यु हो जाए तो अन्य गण के आचार्य आदि को प्रधानरूप से अंगीकार कर रागद्वेष से रहित होकर भ्रमण करना चाहिए। यदि कोई योग्य आचार्य उस समय उपलब्ध न हो सके तो अपने में से किसी योग्य साधु को आचार्यादि की पदवी देकर उसकी आज्ञा के अनुसार रहना चाहिए। योग्य साधु के अभाव में जहाँ तक अपने अमुक साधर्मिक साधु न मिल जाएँ वहाँ तक रास्ते में एक रात्रि से अधिक न ठहरते हुए बराबर विहार करते रहना चाहिए। रोगादि विशेष कारणों से अधिक ठहरना पड़े तो कोई हर्ज नहीं। बिना कारण के अधिक रहने पर उतने ही दिन के छेद अथवा परिहार के प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है। वर्षाऋतु के दिनों में आचार्यादि का अवसान होने पर भी यही नियम लागू होता है। इस प्रकार की विशेष परिस्थिति में वर्षाऋतु में भी यदि विहार करना पड़े तो कल्प्य है।

आचार्य-उपाध्यायादि अधिक बीमार हों और उन्हें अपने जीवन की विशेष आशा न हो तो अपने पास के साधुओं को बुलाकर कहें कि आर्यो! मेरी आयु पूर्ण होने के बाद अमुक साधु को अमुक पदवी प्रदान करना। उनकी मृत्यु के बाद यदि वह साधु योग्य प्रतीत हो तो उसे उस पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। योग्य प्रतीत न होने की दशा में अन्य योग्य साधु को वह पदवी प्रदान करनी चाहिए। अन्य योग्य साधु आचारांगादि पढ़कर कुशल न हो जाए तब तक आचार्यादि के सुझाव के अनुसार किसी भी साधु को अस्थायीरूप से किसी भी पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। दूसरे योग्य साधु के प्रवचन-कुशल हो जाने पर अस्थायी पदाधिकारी को तुरन्त अपने पद से अलग हो जाना चाहिए। वैसा न करने पर उसे छेद अथवा पारिहारिक तप का भागी होना पड़ता है।

दो साधु साथ में विचरते हों तो उन्हें बराबरी के न रहते हुए योग्यतानुसार छोटा-बड़ा होकर रहना चाहिए। इसी प्रकार दो गणावच्छेदकों, दो आचार्यों, दो उपाध्यायों को भी समानता का दावा करते हुए साथ रहना अकल्प्य है। अनेक साधुओं, गणावच्छेदकों, आचार्यों एवं उपाध्यायों को भी इसी प्रकार बराबरी के दावे के साथ एक साथ न रहते हुए योग्यतानुसार छोटे-बड़े की स्थापना कर

वन्दनादि व्यवहारपूर्वक एक-दूसरे का सम्मान करना चाहिए। साध्वियों के लिए भी यही नियम है।

पञ्चम उद्देश :

पाँचवें उद्देश में साध्वियों की विहारकालीन न्यूनतम संख्या का विधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि प्रवर्तिनी (प्रधान आर्या) को कम से कम दो अन्य साध्वियों के साथ ही शीतोष्णकाल में ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए। गणावच्छेदिका के साथ उपर्युक्त काल में कम से कम तीन अन्य साध्वियाँ होना अनिवार्य है। वर्षाकाल अर्थात् चातुर्मास के लिए उपर्युक्त दोनों संख्याओं मे एक-एक की वृद्धि की गई है। प्रवर्तिनी आदि की मृत्यु, विविध पदाधिकारिणियों की प्रतिष्ठा आदि के विषय मे वे ही नियम हैं जो चतुर्थ उद्देश में साधु-समाज के लिए बताये गये हैं।

वैयावृत्य के विषय में सामान्य नियम यही है कि साधु साध्वी से एवं साध्वी साधु से किसी प्रकार की वैयावृत्य—सेवा नहीं करावे। अपवादरूप से साधु-साध्वी परस्पर सेवा-सुश्रूषा कर सकते हैं। इसी प्रकार सर्पदंश आदि किसी विषम परिस्थिति की उपस्थिति में साधु-साध्वी की आवश्यकतानुसार स्त्री अथवा पुरुष कोई भी औषधोपचाररूप सेवा कर सकता है। इसके लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। प्रस्तुत विधान स्थविरकल्पिकों के लिए है। जिनकल्पिकों को किसी भी प्रकार की सेवा करवाना अकल्प्य है। सेवा करवाने पर पारिहारिक तपरूप प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

षष्ठ उद्देश :

छठे उद्देश में ग्रन्थकार ने बतलाया है कि किसी भी साधु को स्थविर की अनुमति के बिना अपने ज्ञातिजनों के यहाँ नहीं जाना चाहिए। जो साधु-साध्वी अल्पश्रुत एवं अल्पागम हैं उन्हें अकेले अपने ज्ञातिजनों—सम्बन्धियों के घर नहीं जाना चाहिए अपितु बहुश्रुत एवं बह्वागम साधु-साध्वी को साथ में लेकर जाना चाहिए। वहाँ जो वस्तु उनके पहुँचने के पूर्व पक कर तैयार हो चुकी होती है वही ग्रहणीय होती है, अन्य नहीं।

आचार्य और उपाध्याय के पाँच अतिशय—अतिशेष (विशेषाधिकार) होते हैं : १. बाहर से उपाश्रय मे आने पर उनके पाँव पोंछ कर साफ करना, २. उनके प्रस्रवण (पेशाब) आदि का यतनापूर्वक भूमि पर त्याग करना, ३. यथाशक्ति उनकी वैयावृत्य करना, ४. उपाश्रय के भीतर रहने पर उनके

साथ भीतर रहना, ५. उपाश्रय के बाहर रहने पर उनके साथ बाहर वृक्षादि के नीचे रहना। गणावच्छेदक के दो अतिशय होते हैं : गणावच्छेदक के उपाश्रय के भीतर रहने पर भीतर एवं बाहर रहने पर बाहर रहना।

साधु-साध्वियों को आचारांगादि शास्त्रों के ज्ञाता साधु-साध्वी के साथ में न होने पर कहीं पर रहना अकल्प्य है। शास्त्रज्ञ साधु-साध्वी के अभाव में रहने पर छेद अथवा पारिहारिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

कारणविशेष अथवा प्रयोजनविशेष से अन्य गच्छ से निकल कर आने वाला साधु अथवा साध्वी अखंडित आचार से युक्त हो, शबल दोष[1] से रहित हो, क्रोधादि से असंक्लिष्ट हो, अपने दोषों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे, लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त करे तो उसके साथ समानता का व्यवहार करना कल्प्य है, अन्यथा नहीं।

सप्तम उद्देश :

सातवें उद्देश में बताया गया है कि सामान्यतया साधु स्त्री को तथा साध्वी पुरुष को दीक्षा न दे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री को वैराग्य उत्पन्न हुआ हो जहाँ आसपास में कोई साध्वी न हो तो साधु उसे इस शर्त पर दीक्षा दे सकता है कि उसे दीक्षित होने के बाद यथाशीघ्र किसी साध्वी को सुपुर्द कर दे। इसी प्रकार साध्वी भी पुरुष को दीक्षा प्रदान कर सकती है।

निर्ग्रन्थियों को विकट दिशा (जिस दिशा में चोर, बदमाश, गुंडे आदि रहते हों उस दिशा) में विचरना अकल्प्य है क्योंकि वहाँ वस्त्रादि के अपहरण तथा व्रतभंग आदि का भय रहता है। निर्ग्रन्थ विकट दिशा मे विचर सकते हैं। किसी साधु का किसी ऐसे साधु आदि से वैर-विरोध हो गया हो जो विकट दिशा में रहता हो तो उसे विकट दिशा में जाकर ही उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, अपने स्थान में रहकर नहीं। किसी निर्ग्रन्थी का किसी साधु आदि से वैर-विरोध हो गया हो और वह विकट दिशा में रहता हो तो उसे वहाँ क्षमायाचना करने के लिए जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अपने स्थान पर बैठी हुई ही उससे क्षमा माँग सकती है।

साधु-साध्वियों को विकाल—अकाल—विकट काल में स्वाध्याय करना अकल्प्य है किन्तु स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना कल्प्य है। अपनी शारीरिक स्थिति

---

1. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के द्वितीय उद्देश में २१ प्रकार के शबल-दोष बताये गये हैं।

ठीक न होने पर (व्रण आदि की अवस्था में) स्वाध्याय करना वर्जित है। हाँ, ऐसी स्थिति में परस्पर वाचना का आदान-प्रदान हो सकता है।

तीन वर्ष की श्रमण-पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को तीस वर्ष की श्रमण-पर्याय वाली निर्ग्रन्थी के लिए उपाध्याय-पद पर प्रतिष्ठित करना कल्प्य है। इसी प्रकार पाँच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले साधु को साठ वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाली साध्वी के लिए आचार्य अथवा उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित करना कल्प्य है। तात्पर्य यह है कि साधु-साध्वियों को बिना आचार्य-उपाध्याय के नियन्त्रण के स्वच्छन्दतापूर्वक घूमते नहीं रहना चाहिए।

जिस प्रदेश में साधु रहते हों वहाँ की राज्य-व्यवस्था बदल जाए एवं सारी सत्ता अन्य राजा के हाथ मे आ जाए तो उस प्रदेश मे रहने के लिए पुनः नये राज्याधिकारियों की अनुमति लेना आवश्यक है। यदि दूसरे राजा का पूर्ण अधिकार न हुआ हो तथा पहले की सत्ता उखड़ न गई हो तो पुनः अनुमति लेने की कोई आवश्यकता नहीं।

अष्टम उद्देश :

आठवें उद्देश में सूत्रकार ने बताया है कि साधु एक हाथ से उठाने योग्य छोटे-मोटे शय्या-संस्तारक तीन दिन जितनी दूरी से भी ला सकते हैं। किसी वृद्ध निर्ग्रन्थ के लिए आवश्यकता होने पर पाँच दिन जितनी दूरी से भी लाने का विधान है।

स्थविर के लिए निम्नोक्त उपकरण कल्प्य हैं : १. दड, २. भांड, ३. छत्र, ४. मात्रिका (पेशाब के लिए), ५. लाष्टिक (पीठ पीछे रखने का तकिया या पाटा), ६. भिसि (स्वाध्यायादि के लिए बैठने का पाटा), ७. चेल (वस्त्र), ८. चेल-चिलिमिलिका (वस्त्र का पर्दा), ९. चर्म, १०. चर्मकोश (चमड़े की थैली), ११. चर्म-पलिछ (लपेटने के लिए चमड़े का टुकड़ा)। इनमें से जो उपकरण साथ मे रखने अथवा लाने-लेजाने के योग्य न हों उन्हें उपाश्रय के समीप किसी गृहस्थ के यहाँ रख कर उसकी अनुमति से समय-समय पर उनका यथोचित उपयोग किया जा सकता है।

कहीं पर अनेक साधु रहते हों और उनमें से कोई गृहस्थ के घर अपना उपकरण भूल आया हो तथा दूसरा कोई साधु गृहस्थ के वहाँ गया हो एवं गृहस्थ उसे वह उपकरण सौंपते हुए कहे कि यह आपके साधु का है अतः इसे ले जाइए। तब वह साधु उपकरण लेकर अपने स्थान पर आकर सब साधुओं को दिखावे

एवं जिसका हो उसे सौंप दे। यदि उनमें से किसी का न निकले तो उसका न वह स्वयं उपयोग करे, न उसे किसी दूसरे को उपयोग के लिए दे वरन् एकान्त निर्दोष स्थान देख कर उसका त्याग कर दे। इसी प्रकार कोई साधु अपना उपकरण भूल कर अन्यत्र चला गया हो तो उसकी जाँच-पड़ताल करके स्वयं उसके पास पहुँचावे। पता न लगने की हालत में एकान्त निर्दोष स्थान देख कर उसका त्याग कर दे।

आहारप्रमाण के वैविध्य की चर्चा करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि कुक्कुटाण्डकप्रमाण प्रति ग्रास के हिसाब से आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्पाहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमौदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभागप्राप्त, चौबीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी एवं बत्तीस ग्रास से एक भी ग्रास कम खाने वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नवम उद्देश :

नौवें उद्देश में बताया गया है कि सागारिक (मकान-मालिक) के यहाँ आए हुए अतिथि आदि सागारिक से इस शर्त पर भोजन आदि लें कि बचा हुआ सामान वापिस लौटाना होगा और यदि उस आहार में से आगन्तुक अतिथि साधु साध्वी को कुछ देना चाहें तो वह उनके लिए अकल्प्य है। यदि उस आहार पर आगन्तुक का पूरा अधिकार हो तो साधु साध्वी के लिए वह कल्प्य है। बृहत्कल्प सूत्र (द्वितीय उद्देश) में भी ठीक यही विधान है। इस प्रकार के कुछ और विधान प्रस्तुत उद्देश के प्रारम्भ मे हैं जो बृहत्कल्प सूत्र के विधानों से हूबहू मिलते हैं। इन सब विधानों का तात्पर्य इतना ही है कि सागारिक के अधिकार अथवा अंशाधिकार का कोई भी पदार्थ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के लिए अकल्प्य है। अन्त में आचार्य ने सप्तमादि छः भिक्षुप्रतिमाओं का संक्षेप में वर्णन किया है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के सप्तम उद्देश में द्वादश भिक्षुप्रतिमाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

दशम उद्देश :

दसवें उद्देश के प्रारम्भ में यवमध्य-चन्द्रप्रतिमा व वज्रमध्य-चन्द्रप्रतिमा का स्वरूप बताया गया है। जौ के समान मध्य में मोटी व दोनों ओर पतली तपस्या का नाम यवमध्य-चन्द्रप्रतिमा है। जो तपस्या वज्र के समान मध्य में पतली व दोनों ओर मोटी हो वह वज्रमध्य-चन्द्रप्रतिमा कहलाती है। यवमध्य-चन्द्रप्रतिमा

धारण करने वाला श्रमण एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व का त्याग कर प्रत्येक प्रकार के उपसर्ग—कष्ट को समभावपूर्वक सहता है। उपसर्ग तीन प्रकार के होते हैं : देवजन्य, मनुष्यजन्य और तिर्यञ्चजन्य। ये तीनों प्रकार के उपसर्ग अनुलोम—अनुकूल एवं प्रतिलोम—प्रतिकूल के भेद से दो प्रकार के होते हैं। यवमध्य चन्द्रप्रतिमा को धारण करने वाला साधु शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति[1] आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण करता है। द्वितीया को दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाता हुआ पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ति आहार की व पन्द्रह दत्ति पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष मे क्रमशः एक-एक दत्ति कम करता जाता है। अन्त में अमावस्या के दिन उपवास करता है। वज्रमध्य-चन्द्रप्रतिमा में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्ति आहार की एवं पन्द्रह दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ली जाती है। शुक्लपक्ष मे क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस प्रकार तीस दिन की प्रत्येक प्रतिमा में प्रारम्भ के उनतीस दिन आहार-पानी व अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

व्यवहार पाँच प्रकार का कहा गया है : आगम-व्यवहार, श्रुत-व्यवहार, आज्ञा-व्यवहार, धारणा-व्यवहार और जीत-व्यवहार। इनमें से आगम-व्यवहार का स्थान सर्वप्रथम है, फिर क्रमशः श्रुतव्यवहार आदि का स्थान है। जीतकल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य आदि मे पाँच प्रकार के व्यवहार का विस्तृत विवेचन है।

स्थविर तीन प्रकार के कहे गये हैं : जाति-स्थविर, सूत्र-स्थविर और प्रव्रज्या-स्थविर। साठ वर्ष की आयु वाला श्रमण जाति-स्थविर कहलाता है। स्थानांग-समवायांग आदि सूत्रों का ज्ञाता (साधु) सूत्र-स्थविर कहलाता है। दीक्षा धारण करने के बीस वर्ष बाद निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या-स्थविर कहलाता है।

शैक्ष-भूमियाँ तीन प्रकार की होती हैं : सप्तरात्रिंदिनी, चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। दीक्षा के छः महीने बाद महाव्रतारोपण (बड़ी दीक्षा) करने का नाम षण्मासिकी शैक्ष-भूमि है। दीक्षा के चार महीने बाद महाव्रतारोपण करना चातुर्मासिकी शैक्ष-भूमि कहलाता है। दीक्षा के सात दिन बाद जो महाव्रतारोपण

---

१. एक ही समय में एक साथ बिना धारा तोड़े जितना आहार अथवा पानी साधु के पात्र में डाल दिया जाता है उसे 'दत्ति' कहते हैं।

किया जाता है वह सप्तरात्रिंदिनी शैक्ष-भूमि है। षण्मासिकी शैक्ष-भूमि उत्कृष्ट, चातुर्मासिकी मध्यम तथा सप्तरात्रिंदिनी जघन्य है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आठ वर्ष से कम आयु के बालक-बालिकाओं के साथ भोजन करना अकल्प्य है अर्थात् आठ वर्ष से कम उम्र के बालक-बालिकाओं को दीक्षा नहीं देनी चाहिए। छोटी उम्र वाले साधु-साध्वी जिनके कक्षादि में बाल न उगे हों, आचारकल्प—आचारांग सूत्र के अधिकारी नहीं हैं। उन्हें कक्षादि में बाल उगने पर ही (परिपक्व अवस्था होने पर ही) आचारांग पढ़ाना चाहिए। (परिपक्व अवस्था होने पर भी) कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले साधु को आचारांग पढ़ाना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को सूत्रकृतांग, पाँच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानांग और समवायांग, दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघुविमान-प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वंगचूलिका और विवाहचूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अरुणोपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक और वेलंधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत, समुपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात और नागपरियापनिका (नागपरियावणिआ), चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारणभावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनीशतक, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढ़ाना कल्प्य है।

वैयावृत्य (सेवा) दस प्रकार की कही गई है: १. आचार्य की वैयावृत्य, २. उपाध्याय की वैयावृत्य, ३. स्थविर की वैयावृत्य, ४. तपस्वी की वैयावृत्य, ५. शैक्ष—छात्र की वैयावृत्य, ६. ग्लान—रुग्ण की वैयावृत्य, ७. साधर्मिक की वैयावृत्य, ८. कुल की वैयावृत्य, ९. गण की वैयावृत्य और १०. संघ की वैयावृत्य। उपर्युक्त दस प्रकार की वैयावृत्य से महानिर्जरा का लाभ होता है। दस प्रकार की वैयावृत्य के वर्णन के साथ दसवां उद्देश समाप्त होता है और साथ ही व्यवहार सूत्र भी।

प्रकरण ४

नि शी थ

पहला उद्देश

दूसरा उद्देश

तीसरा उद्देश

चौथा उद्देश

पाँचवाँ उद्देश

छठा उद्देश

सातवाँ उद्देश

आठवाँ उद्देश

नौवाँ उद्देश

दसवाँ उद्देश

ग्यारहवाँ उद्देश

बारहवाँ उद्देश

तेरहवाँ उद्देश

चौदहवाँ उद्देश

पन्द्रहवाँ उद्देश

सोलहवाँ उद्देश

सत्रहवाँ उद्देश

अठारहवाँ उद्देश

उन्नीसवाँ उद्देश

बीसवाँ उद्देश

चतुर्थ प्रकरण

निशीथ

निशीथ[1] नामक छेदसूत्र में चार प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। ये प्रायश्चित्त साधुओं व साध्वियों के लिए हैं[2]। प्रथम उद्देश में गुरुमासिक प्रायश्चित्त का अधिकार है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम उद्देश में लघुमासिक प्रायश्चित्त का विवेचन है। छठे से लेकर ग्यारहवें उद्देश तक गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का अधिकार है। बारहवें उद्देश से उन्नीसवें उद्देश तक लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का प्रतिपादन किया गया है। बीसवें उद्देश में आलोचना एवं प्रायश्चित्त करते समय लगने वाले दोषों का विचार किया गया है एवं उनके लिए विशेष प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देश में भी प्रायः इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लगभग १५०० सूत्र हैं। कुछ सूत्रों का तो पुनरावृत्ति के भय से केवल सांकेतिक (संक्षिप्त) निर्देश कर दिया गया है। प्रत्येक उद्देश में पहले तत्तद् प्रायश्चित्त के योग्य कार्यों—दोषों का उल्लेख किया गया है एवं अंत में उन सब के लिए तत्सम्बद्ध प्रायश्चित्तविशेष का नामोल्लेख कर दिया गया है।

पहला उद्देश :

प्रथम उद्देश में निम्नोक्त क्रियाओं के लिए गुरु-मास अथवा मास-गुरु (उपवास) प्रायश्चित्त का विधान किया गया है :—

हस्तकर्म करना, अंगादान (लिंग अथवा योनि) को काष्ठादि की नली में प्रविष्ट करना अथवा काष्ठादि की नली को अंगादान में प्रविष्ट करना, अंगुली आदि को

---

१. (अ) W. Schubring, Leipzig, 1918; जैन साहित्य संशोधक समिति, पूना, सन् १९२३.

(आ) अमोलकऋषिकृत हिन्दी अनुवादसहित—सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी० सं० २४४६.

(इ) भाष्य व विशेषचूर्णिसहित—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९५७–१९६०.

२. विनय-पिटक के पातिमोक्ख विभाग में भिक्षु-भिक्षुणियों के विविध अपराधों के लिए विविध प्रायश्चित्तों का विधान है।

अंगादान में प्रविष्ट करना अथवा अंगादान को अंगुलियों से पकड़ना-हिलाना, अंगादान का मर्दन करना, तेल आदि से अंगादान का अभ्यंग करना, पद्मचूर्ण आदि से अंगादान का उबटन करना, अंगादान को पानी से धोना, अंगादान के ऊपर की त्वचा दूर कर अन्दर का भाग खुला करना, अंगादान को सूंघना, अंगादान को किसी अचित्त छिद्र में प्रविष्ट कर शुक्र-पुद्गल निकालना, सचित्त पुष्पादि सूंघना, सचित्त पदार्थ पर रखा हुआ सुगन्धित द्रव्य सूंघना, मार्ग मे कीचड़ आदि से पैरों को बचाने के लिए दूसरों से पत्थर आदि रखवाना, ऊंचे स्थान पर चढ़ने के लिए दूसरों से सीढ़ी आदि रखवाना, भरे हुए पानी को निकालने के लिए नाली आदि बनवाना, दूसरों से पर्दा आदि बनवाना, सूई आदि तीखी करवाना, कैंची (पिप्पलक) को तेज करवाना, नखछेदक को ठीक करवाना, कर्ण-शोधक को साफ करवाना, निष्प्रयोजन सूई की याचना करना, निष्प्रयोजन कैंची माँगना, निष्प्रयोजन नखछेदक एवं कर्णशोधक की याचना करना, अविधिपूर्वक सूई आदि मांगना, अपने लिए मांग कर लाई हुई सूई आदि दूसरों को देना, वस्त्र सीने के लिए लाई हुई सूई से पैर आदि का काँटा निकालना, सूई आदि अविधिपूर्वक वापिस सौंपना, अलाबु अर्थात् तुंबे का पात्र, दारु अर्थात् लकड़े का पात्र और मृत्ति अर्थात् मिट्टी का पात्र दूसरों से साफ करवाना-सुधरवाना, दण्ड, लाठी आदि दूसरों से सुधरवाना, पात्र पर शोभा के लिए कारी आदि लगाना, पात्र को अविधिपूर्वक बाँधना, पात्र को एक ही बंध (गाँठ) से बाँधना, पात्र को तीन से अधिक बंध से बांधना, पात्र को अतिरिक्त बंध से बाँध कर डेढ़ महीने से अधिक रखना, वस्त्र पर (शोभा के लिए) एक कारी लगाना, वस्त्र पर तीन से अधिक कारियां लगाना, अविधि से वस्त्र सीना, वस्त्र के एक पल्ले के (शोभा के निमित्त) एक गांठ देना, वस्त्र के तीन पल्लों (फलित) के तीन से अधिक गांठें देना (जीर्ण वस्त्र को अधिक समय तक चलाने के लिए), वस्त्र को निष्कारण ममत्व भाव से गांठ देकर बँधा रखना, वस्त्र के अविधिपूर्वक गांठ लगाना, अन्य जाति के (श्वेत रंग के अतिरिक्त) वस्त्र ग्रहण करना, अतिरिक्त वस्त्र डेढ़ महीने से अधिक रखना, अपने रहने के मकान का धूआं दूसरे से साफ करवाना, निर्दोष आहार में सदोष आहार की थोड़ी-सी मात्रा मिली हो उस आहार (पूतिकर्म) का उपभोग करना।

दूसरा उद्देश :

द्वितीय उद्देश में लघु-मास अथवा मास-लघु (एकाशन) प्रायश्चित्त के योग्य निम्न क्रियाओं का निर्देश किया गया है :—

दारुदंड का पादप्रोंछन बनाना (जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं करेइ....), दारुदण्ड का पादप्रोंछन ग्रहण करना, दारुदण्ड का पादप्रोंछन रखना, दारुदण्ड का पादप्रोंछन डेढ़ महीने से अधिक रखना, दारुदण्ड का पादप्रोंछन (शोभा के लिए) धोना, अचित्त भाजन आदि में रखी हुई गन्ध को सूंघना, कीचड़ के रास्ते में पत्थर आदि रखना, पानी निकलने की नाली आदि बनाना, बाँधने का पर्दा आदि बनाना, सूईको स्वयमेव सुधारना, कैंची आदि को स्वयमेव सुधारना, जरा-सा भी कठोर वचन बोलना, जरा-सा भी झूठ बोलना, जरा-सी भी चोरी करना, थोड़े से भी अचित्त पानी से हाथ-पाँव-कान-आँख-दाँत-नख-मुख धोना, अखण्ड चर्म रखना, अखण्ड (पूरा का पूरा) वस्त्र रखना, अभिन्न (बिना फाड़ा) वस्त्र रखना, अलाबु आदि के पात्र को स्वयमेव सुधारना-घिसना, दण्ड आदि को स्वयमेव सुधारना, (गुरु की अनुमति के बिना) खुद का लाया हुआ पात्र आदि खुद रख लेना अथवा दूसरे का लाया हुआ पात्र आदि स्वीकार कर लेना, किसी पर दबाव डाल कर पात्र आदि लेना, हमेशा अग्रपिण्ड (चावल आदि पके हुए पदार्थों का ऊपर का भाग, पहली ही पहली रोटी आदि) ग्रहण करना, हमेशा एक ही घर का आहार खाना, सदैव अर्धभाग (दान के लिए निकाला हुआ भोजन का आधा हिस्सा) का उपभोग करना, नित्यभाग (दान के लिए निकाला जाने वाला कुछ हिस्सा) का उपभोग करना, हमेशा एक ही स्थान पर रहना, (दानादि देने के) पहले अथवा बाद में (दाता की) प्रशंसा करना, भिक्षाकाल के पूर्व अथवा पश्चात् निष्कारण अपने परिचित घरों में प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक, गृहस्थ, पारिहारिक (सदोषी) साधु आदि के साथ गृहस्थ के घर में आहारादि के निमित्त प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक आदि के साथ स्थंडिलभूमि—विचारभूमि के लिए (शौच के निमित्त) जाना, अन्यतीर्थिक के साथ ग्रामानुग्राम विचरना, अनेक प्रकार के खाद्यपदार्थ ग्रहण कर उनमें से अच्छी-अच्छी चीजें खा जाना एवं खराब-खराब चीजें फेंक देना (सावधानीपूर्वक), अधिक आहार-पानी ले आने की अवस्था में बचे हुए आहार-पानी को समीप के साधर्मिक शुद्धाचारी सम्भोगी साधु को पूछे बिना (आमन्त्रित किये बिना) फेंक देना, शय्यातर (गृहस्वामी) के घर का आहार-पानी ग्रहण करना, शय्यातर की निश्रा—दलाली में आहार-पानी माँगना, माँग कर लाये हुए शय्या-संस्तारक को मर्यादा से अधिक समय तक रखना, उपाश्रय (निवास-स्थान) का परिवर्तन करते समय बिना स्वामी की अनुमति के किसी प्रकार का सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना, प्रातिहारिक (वापिस देने योग्य) शय्या-संस्तारक स्वामी को वापिस

सौंपे बिना एक गाँव से दूसरे गाँव चले जाना—विहार कर जाना, बिखरे हुए सामान को ठीक किये बिना विहार कर जाना, बिना प्रतिलेखना के उपधि—उपकरण रखना।

तीसरा उद्देश :

तृतीय उद्देश में भी मास-लघु प्रायश्चित्त से सम्बन्धित क्रियाओं का उल्लेख है। वे क्रियाएँ निम्नलिखित हैं:—

धर्मशाला (आगंतार), आरामगृह (आरामागार—बगीचे मे बनाया हुआ घर), गृहपतिकुल (घर के मालिक का कुल) तथा अन्यतीर्थिकगृह में जाकर अशनादि की याचना करना, मना कर देने पर भी किसी के घर में आहारादि के निमित्त प्रवेश करना, भोज आदि होता हुआ देख कर वहाँ जाकर आहारादि ग्रहण करना, तीन घरों–तीन दरवाजों को पार कर लाये हुए आहारादि को स्वीकार करना, पांवों को (शोभा के लिए) झाड़-पोंछ कर साफ करना, पांवों को दबाना, पैरों मे तैल आदि लगाना, पैरों को ठंडे अथवा गर्म (अचित्त) पानी से धोना, पैरों में रंग अथवा रस लगाना, यावत् सारे शरीर को साफ करना-दबाना-धोना आदि, गण्ड आदि रोग होने पर उसे तीक्ष्ण शस्त्र से छिदवाना-कटवाना एवं शोणित आदि निकलवा कर विशुद्ध करना अथवा अपने ही हाथ से छेद-काट कर विशुद्ध करना, आलेपन (मलहम) आदि का लेप करना-करवाना, गुदे अथवा कुक्षि में उत्पन्न कृमियों को अंगुली से निकालना, लंबे नाखुनों को काटना, गुह्य स्थान के लंबे बालों को काटना, आँखों के लंबे बालों को काटना, जंघा के लंबे बालों को काटना, कुक्षि के लंबे बालों को काटना, दाढ़ी-मूछों के लम्बे बालों (दीहाइं मंसुरोमाइं) को काटना, सिर के लंबे बालों को काटना, नाक के लंबे बालों को काटना (ये सब क्रियाएँ शोभा के लिए नहीं की जानी चाहिए), दाँतों को घिसना, दाँतों को ठंडे अथवा गर्म (अचित्त) पानी से धोना, दाँतों में रंग आदि लगाना, आँखें मसल-मसल कर साफ-सुथरी करना, पाँव आदि रगड़-रगड़ कर साफ-सुथरे करना, आँख आदि के मैल को निकालना, शरीर का स्वेद–पसीना साफ करना, सन आदि का धागा वशीकरण के लिए बटना, घर में, घर के द्वार पर, घर के सामने, घर के आंगन में टट्टी-पेशाब (उच्चारं वा पासवणं वा) फेंकना, किसी सार्वजनिक स्थान पर—लोगों के आने-जाने की जगह पर टट्टी-पेशाब फेंकना, कीचड़, फूलन (पंकंसि वा पणगंसि वा) आदि की जगह टट्टी-पेशाब फेंकना, इक्षुवन (ईख का खेत), शालिवन, कुसुमवन, कार्पासवन

आदि में टट्टी-पेशाब फेंकना, अशोकवन, सप्तवन (सप्तपर्ण वृक्षों का वन), चंपावन, चूतवन (आम्रवन) आदि में टट्टी-पेशाब फेंकना, स्वपात्र अथवा परपात्र में किया हुआ टट्टी पेशाब सूर्योदय के बाद पहले से न देखे हुए स्थान पर फेंकना।

चौथा उद्देश :

चतुर्थ उद्देश में भी लघु-मास प्रायश्चित्त से सम्बन्धित क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। जो साधु (अथवा साध्वी) राजा को अपने वश में करे, राजा की अर्चा-पूजा करे, राजा की प्रशंसा करे, राजा से कुछ माँगे, राजरक्षक को वश मे करे, उसकी पूजा आदि करे, नगररक्षक को वश में करे, उसकी पूजा आदि करे, निगमरक्षक को वश में करे, उसकी पूजा आदि करे, सर्वरक्षक को वश में करे, उसकी पूजा आदि करे, अखण्ड औषधि (बिना पिसे अन्न) का आहार करे, आचार्य-उपाध्याय को बिना दिये आहार करे, बिना जाँच-पड़ताल किये आहारादि ग्रहण करे, निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी के (साधु निर्ग्रन्थी के एवं साध्वी निर्ग्रन्थ-के) उपाश्रय मे बिना किसी प्रकार का संकेत किये (खांसी आदि किये बिना) प्रवेश करे, निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी के आने-जाने के मार्ग में दण्ड, लाठी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि (हंसी करने के लिए) रखे, नया क्लेश उत्पन्न करे, क्षमा माँगने-देने के बाद पुनः क्लेश करे, मुँह फाड़-फाड़ कर हंसे, पार्श्वस्थ (शिथिलाचारी) के साथ सम्बन्ध रखे, कुशील आदि के साथ सम्बन्ध रखे, गीले हाथ, बर्तन, चमच आदि से आहारादि ग्रहण करे, सचित्त रज, सचित्त मिट्टी, नमक, गेरू, अंजन, लोद्र, कंद, मूल, फल, फूल से भरे हुए हाथ आदि से आहारादि ग्रहण करे, टट्टी-पेशाब आदि डालने की भूमि की प्रतिलेखना न करे, संकड़ी जगह में टट्टी-पेशाब डाले, अविधि से टट्टी-पेशाब डाले, मालिक की अनुमति के बिना किसी स्थान पर टट्टी-पेशाब डाले, टट्टी-पेशाब डाल कर अथवा करके काष्ठ, बाँस, अँगुली, लोह-शलाका आदि से पोंछे, टट्टी-पेशाब डाल कर अथवा करके शुद्ध नहीं होवे, टट्टी-पेशाब करके तीन अंजलि से अधिक पानी लेकर शुद्धि करे उसके लिए मासिक उद्घातिक परिहारस्थान अर्थात् लघु-मासिक (मास लघु) प्रायश्चित्त का विधान है।

पाँचवाँ उद्देश :

पंचम उद्देश भी मास-लघु प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है। जो साधु-साध्वी सचित्त वृक्ष के मूल पर कायोत्सर्ग करे, बिछौना करे, बैठे, खड़ा रहकर इधर-उधर देखे, अशनादि चारों प्रकार (अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य) का आहार करे,

टट्टी-पेशाब करे, स्वाध्याय करे, पढ़ावे, वाचना दे, वाचना ले, अपनी चादर (संघाटिक) अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से सिलावे, चादर मर्यादा से अधिक लंबी बनावे, पलाश आदि के पत्ते धोकर उन पर आहार करे, प्रातिहारिक पादप्रोंछन को उसी दिन वापिस न लौटावे, सन आदि के धागे को बट कर लम्बा बनावे, सचित्त लकड़ी का दण्ड आदि बनावे अथवा रखे अथवा उपयोग में ले, चित्र-विचित्र दण्ड आदि बनावे, रखे अथवा काम में ले, नये बसे हुए अथवा बसाये हुए (सेनादि के पड़ाव के कारण स्थापित हुए) ग्राम आदि में जाकर आहारादि ग्रहण करे, नई खुदी हुई लोहे, ताँबे, सीसे, चाँदी, सोने, रत्न अथवा वज्ररत्न की खान में प्रवेश कर आहारादि ग्रहण करे, मुख को वीणा जैसा बनावे, नाकादि को वीणा जैसा बनावे, पत्र, फूल, फल, बीज आदि की वीणा बनावे, उपर्युक्त वीणाओं को बजावे, अन्य प्रकार के शब्दों की नकल करे, औद्देशिक—उद्दिष्ट शय्या आदि का उपयोग करे, सामाचारीविरुद्ध आचार वाले साधु-साध्वी के साथ आहार-विहार करे, दृढ एवं पूर्ण वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि को भाँग-तोड़ कर फेंक दे, प्रमाण से अधिक लंबा रजोहरण रखे, बहुत छोटा एवं पतला रजोहरण रखे, रजोहरण को अविधि से बाँधे, रंग-विरंगे अथवा विविध जाति के धागों का रजोहरण बनावे, रजोहरण को अपने से बहुत दूर रखे अथवा गमनागमन के समय रजोहरण पास में न रखे, रजोहरण पर बैठे, रजोहरण को सिर के नीचे रखे, रजो-हरण पर सोवे उसके लिए मास-लघु प्रायश्चित्त का विधान है।

छठा उद्देश :

प्रस्तुत उद्देश में मैथुनसम्बन्धी क्रियाओं के लिए चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान अर्थात् गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं :—

स्त्री से मैथुनसेवन के लिए प्रार्थना करना, मैथुन की कामना से हस्तकर्म करना, स्त्री की योनि में लकड़ी आदि डालना, अपने लिंग का परिमर्दन करना, अपने अंगादान की तैल आदि से मालिश करना, अचित्त छिद्र आदि में अंगादान का प्रवेश कर शुक्र-पुद्गल निकालना, वस्त्र दूर कर नग्न होना, निर्लज्ज वचन बोलना, क्लेश करना, क्लेशकारी वचन बोलना, वसति छोड़कर अन्यत्र जाना, विषयभोग के लेख लिखना-लिखवाना, लेख लिखने-लिखवाने की इच्छा से बाहर जाना, गुदा अथवा योनि में लिंग डालना इत्यादि।

सातवाँ उद्देश :

इस उद्देश में भी मैथुनविषयक क्रियाओं पर ही प्रकाश डाला गया है एवं उनके लिए चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं :—

मैथुन की अभिलाषा से तृणमाला, मुंजमाला, दंतमाला, शृंगमाला, शंखमाला, पत्रमाला, पुष्पमाला, फलमाला, बीजमाला आदि बनाना, रखना एवं धारण करना, लौह, ताम्र, रौप्य, सुवर्ण आदि का संचय एवं उपभोग करना, हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, कटक, तुडिय, केयूर, कुंडल, पंजल, मुकुट, प्रलम्बसूत्र, सुवर्णसूत्र आदि बनाना एव धारण करना, चर्म के विविध प्रकार के वस्त्र बनाना एवं धारण करना, सुवर्ण के विविध जाति के वस्त्र बनाना एवं धारण करना, आँख, जंघा, उदर, स्तन आदि हाथ में पकड़ कर हिलाना अथवा मसलना, परस्पर पैर झाड़ना-पोंछना, स्त्री को अंक—पर्यंक मे बैठाना-सुलाना, गोद में बैठाकर आहारादि खिलाना-पिलाना, पशु-पक्षी के पाँव, पंख, पूँछ आदि गुप्त अंग में लगाना, पशु-पक्षी के गुह्य स्थान में लकड़ी आदि डालना, पशु-पक्षी को स्त्रीरूप मानकर उनका आलिंगन-चुम्बन करना, मैथुनेच्छा से किसी को आहारादि देना, शास्त्र पढ़ाना, वाचना देना, किसी वस्तु का काम विकार उत्पन्न करने वाला आकार बनाना इत्यादि।

आठवाँ उद्देश :

यह उद्देश भी चातुर्मासिक गुरु प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है। इसमें बताया गया है कि जो साधु धर्मशाला (आगंतार) आदि में अकेली स्त्री के साथ रहे, स्वाध्याय करे, अशनादि चारों प्रकार का आहार करे, टट्टी-पेशाब करे, कामोत्पादक पापकथा कहे, रात्रि अथवा संध्या के समय स्त्रियों से घिरा हुआ लम्बी-चौड़ी कथा कहे, स्वगण अथवा परगण की साध्वी के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए कभी उसके आगे-पीछे रह जाने पर वियोग से दुःखितहृदय हो विहार करे, अपने गृहस्थावास के स्वजनों को रातभर पास रखकर शयन करे, अपने पास रहते हुए स्वजनों को अपने से दूर रहने के लिए न कहे, उन्हीं के साथ उपाश्रय से बाहर जावे एवं भीतर आवे, राजा आदि द्वारा विशेष तौर पर तैयार किया गया आहारादि ग्रहण करे, राजा की हस्तिशाला, गजशाला, मंत्रशाला, गुह्यशाला, रहस्यशाला, मैथुनशाला आदि में जाकर आहारादि ग्रहण करे, राजा के यहाँ से दूध, घृत, शर्करा, मिश्री अथवा अन्य किसी भी प्रकार का भोजन ग्रहण

करे, राजा द्वारा दीन-दुःखियों को दिये जाने वाले आहार में से किसी प्रकार की सामग्री ग्रहण करे उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

नौवाँ उद्देश :

इस उद्देश में भी गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। निम्नलिखित क्रियाएँ इस प्रायश्चित्त के योग्य हैं :—

राजपिण्ड (राजाओं के यहाँ का आहार) ग्रहण करना, राजपिण्ड का उपभोग करना, राजा के अन्तःपुर[1] में प्रवेश करना, राजा के द्वारपाल आदि से आहारादि मँगवाना, राजा के यहाँ तैयार किये गये भोजन के चौदह भागों में से किसी भी भाग का आहार ग्रहण करना (१. द्वारपाल का भाग, २. पशुओं का भाग, ३. भृत्यों का भाग, ४. बलि का भाग, ५. दास-दासियों का भाग, ६. घोड़ों का भाग, ७. हाथियों का भाग, ८. अटवी आदि को पार कर आने वालों का भाग, ९. दुर्भिक्षपीड़ितों का भाग, १०. दुष्कालपीडितों का भाग, ११. द्रुमक—भिखारियों का भाग, १२. ग्लान—रोगियों का भाग, १३. वर्षा के निमित्त दान करने का भाग और १४. अतिथियों का भाग), नगर में प्रवेश करते समय अथवा नगर से बाहर जाते समय राजा को देखने का विचार करना राजा की सर्वालंकार विभूषित स्त्रियों के पाँव तक[2] देखने का विचार करना, राजसभा के विसर्जित होने के पूर्व आहारादि की गवेषणा के लिए निकलना, राजा के निवास-स्थान के आसपास स्वाध्याय आदि करना, निम्नोक्त दस राज्याभिषेक की राजधानियों में राज्योत्सव होते समय महीने में दो-तीन बार प्रवेश करना, अथवा निकलना : चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कंपिल्ल, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह।

दसवाँ उद्देश :

यह उद्देश भी गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है। जो साधु आचार्य को कठोर एवं कर्कश वचन कहे, आचार्य की आशातना—अवज्ञा करे, अनन्तकाय-मिश्रित (कन्दमूल आदि से मिश्रित) आहार करे, आधाकर्मिक (साधु के

---

१. निशीथ-विशेषचूर्णि में तीन प्रकार के अन्तःपुर बताये गये हैं : जीर्णान्तःपुर (नष्टयौवनाओं के लिए), नवान्तःपुर (विद्यमानयौवनाओं के लिए) और कन्यकान्तःपुर (अप्राप्तयौवनाओं के लिए)।

२. ऐसी स्त्रियों को पूरा देखना तो वर्जित है ही, उनके पाँव तक देखना भी निषिद्ध है।

निमित्त बनाया हुआ) आहार करे, लाभालाभ का निमित्त बतावे, किसी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को बहकावे, किसी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी का अपहरण करे, किसी दीक्षार्थी गृहस्थ-गृहस्थिनी को बहकावे अथवा उसका अपहरण करे, आपस में झगड़ा होने पर बिना प्रायश्चित्त एवं क्षमा-याचना के तीन रात से अधिक रहनेवाले के साथ आहार-पानी करे, उद्घातिक अर्थात् लघु प्रायश्चित्त वाले को अनुद्घातिक अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त वाला कहे अथवा अनुद्घातिक प्रायश्चित्त वाले को उद्घातिक प्रायश्चित्त वाला कहे, उद्घातिक प्रायश्चित्त वाले को अनुद्घातिक प्रायश्चित्त दे एवं अनुद्घातिक प्रायश्चित्त वाले को उद्घातिक प्रायश्चित्त दे, प्रायश्चित्त वाले के साथ आहार-पानी करे, सूर्योदय अथवा सूर्यास्त के प्रति निःशंक होकर आहारादि का उपभोग करते हुए अन्यथा प्रतीति होने पर आहारादि का त्याग न करे (मुख से ग्रास आदि बाहर न निकाले), रात को अथवा शाम को डकार (उद्गार) आने पर सावधानी-पूर्वक न थूके—मुखशुद्धि न करे, रोगी आदि (साधु अथवा साध्वी) की सेवा-सुश्रूषा न करे, प्रथम पावस में ग्रामानुग्राम विचरण करे[1], वर्षावास में विहार करे, पर्युषण (वर्षावास) के काल के बिना ही पर्युषण करे, पर्युषण के समय पर्युषण न करे, पर्युषण (संवत्सरी) के दिन[2] गोलोम-मात्र भी बाल (अपने सिर आदि पर) रखे, पर्युषण के दिन जरा-सा भी आहार सेवन करे, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को पर्युषण (सांवत्सरिक प्रतिक्रमण) करावे, प्रथम समवसरण (चातुर्मास) प्रारम्भ होने के बाद एवं समाप्त होने के पूर्व (प्रथम समवसरण में) वस्त्र की याचना करे वह गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

ग्यारहवाँ उद्देश :

इस उद्देश में भी गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त से सम्बन्धित क्रियाओं का वर्णन किया गया है। वे क्रियाएँ निम्नलिखित हैं :—

लौहपात्र बनाना, लौहपात्र रखना, लौहपात्र में आहार करना, इसी प्रकार अन्य धातुओं के पात्र उपयोग में लाना, दंत, श्रृंग, वस्त्र, चर्म, श्वेत (पत्थर), रत्न, शंख, वज्र आदि के पात्र काम में लाना (मिट्टी, अलाबु एवं काष्ठ के पात्र

---

१. इस समय पूरी वर्षाऋतु अर्थात् वर्षा के चार मास समाप्त होने के बाद ही विहार किया जाता है।

२. पर्युषण (संवत्सरी) की तिथि वर्षाऋतु प्रारम्भ होने के ५० दिन बाद एवं समाप्त होने के ७० दिन पहले (भाद्रपद शुक्ला पंचमी) आती है। देखिए—समवायांग, सू० ७०.

ही उपयोग में लेने का विधान है), लोहे के तार आदि से बंधे हुए पात्र का उपयोग करना, दो कोस—अर्ध योजन से आगे पात्र की याचना करने जाना, अर्ध-योजन के आगे से लाये हुए पात्र को ग्रहण करना, धर्म का अवर्णवाद (निन्दा) करना, अधर्म की प्रशंसा करना, अन्यतीर्थिक तथा गृहस्थ के पाँव आदि का प्रमार्जन करना, अंधकार आदि भयोत्पादक स्थान मे जाकर अपने को भयभीत करना, अन्य किसी को डराना, स्वयं विस्मित होना एवं दूसरों को विस्मित करना, स्वयं संयम-धर्म से विमुख होना एवं दूसरों को उससे विमुख करना, अयोग्य स्त्री-पुरुष की स्तुति करना, विरुद्ध राज्य में आवागमन करना, दिवाभोजन की निन्दा एवं रात्रिभोजन की प्रशंसा करना, रात के समय भोजन करना, बासी (रात्रि में) आहारादि रखना अथवा बासी आहारादि का उपभोग करना (किसी कारण से बासी आहार रह भी जाये तो उसका उपयोग नहीं करना चाहिए), मांस-मत्स्यादि विरूप आहार को देखकर उसे ग्रहण करने की आशा एवं इच्छा से अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना, नैवेद्यपिण्ड (देवादि के लिए रखा हुआ आहारादि) का उपभोग करना, अयोग्य को दीक्षा देना, अयोग्य को बड़ी दीक्षा देना, अयोग्य साधु साध्वी की वैयावृत्य करना, अचेल (निर्वस्त्र) होकर सचेल (सवस्त्र) के साथ रहना, सचेल होकर अचेल के साथ रहना, अचेल होकर अचेल के साथ रहना (क्योंकि अचेल—जिनकल्पी अकेले ही रहते हैं), निम्नोक्त बालमरण अर्थात् अज्ञानजन्य मृत्यु की प्रशंसा करना : १. पर्वत से गिर कर मरना, २. रेत में प्रवेश कर मरना, ३. खड्डे में गिर कर मरना, ४. वृक्ष से गिर कर मरना, ५. कीचड़ में फंस कर मरना, ६. पानी में प्रवेश कर मरना, ७. पानी में कूद कर मरना, ८. अग्नि में प्रवेश कर मरना, ९. अग्नि में कूद कर मरना, १०. विष का भक्षण कर मरना, ११. शस्त्र से आत्महत्या करना, १२. इन्द्रियों के वश हो मृत्यु प्राप्त कर मरना, १३. तद्भव अर्थात् आगे पुनः उसी भव में उत्पन्न होने का आयुकर्म बाँध कर मरना, १४. अन्तःकरण में शल्य (माया, निदान अथवा मिथ्यात्व) रखकर मरना, १५. फाँसी लगाकर मरना, १६. मृतक के कलेवर में प्रवेशकर मरना, १७. संयमभ्रष्ट होकर मरना इत्यादि ।

बारहवाँ उद्देश :

प्रस्तुत उद्देश में लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य निम्न क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है: करुणा अर्थात् अनुकम्पापूर्वक किसी त्रस प्राणी को तृणपाश, मुंजपाश, काष्ठपाश, चर्मपाश, वेत्रपाश, रज्जुपाश, सूत्रपाश आदि से बाँधना, बँधे हुए प्राणी को छोड़ना, प्रत्याख्यान (त्यागविशेष) का बारबार भंग करना,

प्रत्येक वनस्पतिकाय (जिस वनस्पति के एक शरीर में एक जीव रहता हो) से मिश्रित आहार का भोग करना, सलोम चर्म रखना, परवस्त्राच्छादित तृणपीठ, काष्ठपीठ आदि पर बैठना, साध्वी की संघाटी (चादर) अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से सिलाना, पृथ्वीकाय आदि की विराधना करना, सचित्त वृक्ष पर चढ़ना, गृहस्थ के भाजन में भोजन करना, गृहस्थ के वस्त्र पहनना, गृहस्थ की शय्या पर सोना, गृहस्थ का औषधोपचार करना, पूर्वकर्म (हाथ, बर्तन आदि धोकर तुरन्त तैयार होकर बैठे हुए दाता के हाथ से आहारादि ग्रहण करने पर लगने वाले) दोष से युक्त अशनादि ग्रहण करना, काष्ठ आदि के चित्र-विचित्र पुतले आदि देखने के लिए लालायित रहना, निर्झर, गुफा, सरोवर आदि विषम स्थानों को देखने के लिए उत्कण्ठित रहना, ग्राम-नगर आदि चक्षुर्दर्शन की तुष्टि के लिए देखने के लिए आतुर रहना, अश्वक्रीडा, हस्तिक्रीडा, शूकरक्रीडा आदि देखने के लिए आतुर रहना, गोशाला, अश्वशाला, हस्तिशाला आदि देखने की अभिलाषा रखना, प्रथम पौरुषी (प्रहर) में ग्रहण किया हुआ आहार पश्चिम—चतुर्थ पौरुषी तक रखना, अर्धयोजन—दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, (फोड़े-फुंसी आदि पर लगाने के लिए) एक दिन गोमय—गोबर ग्रहण कर दूसरे दिन काम में लेना, दिन को गोबर ग्रहण कर रात्रि को काम में लेना, रात्रि को गोबर ग्रहण कर दिन को काम में लेना, रात्रि को गोबर ग्रहण कर रात्रि को ही काम में लेना (जिस दिन दिन के समय ग्रहण किया हो उसी दिन दिन के समय काम में ले लेना चाहिए), इसी प्रकार आलेपन आदि का भी समय की मर्यादा का उल्लंघन कर उपयोग करना, अपने उपकरण अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से उठवाना, गृहस्थ आदि से काम करवा कर बदले में आहारादि देना, निम्नोक्त पाँच महानदियों को महीने में दो-तीन बार पार करना : १. गंगा, २. यमुना, ३. सरयू, ४. ऐरावती और ५. मही ।[1]

तेरहवाँ उद्देश :

यह उद्देश भी लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है। जो भिक्षु—साधु—निर्ग्रन्थ—मुनि—श्रमण सचित्त पृथ्वीकाय से सटकर बैठे, सोये, स्वाध्याय करे, सचित्त रज से भरी हुई शिला पर शयन करे, बैठे, स्वाध्याय करे, सचित्त पानी से आर्द्र पृथ्वी पर शयन करे, बैठे, स्वाध्याय करे, घर की देहली पर, ऊखल पर, स्नान

---

१. बृहत्कल्प सूत्र में भी इन्हीं पाँच नदियों को महीने में दो-तीन बार पार करने का निषेध किया गया है।

करने के स्थान पर उठे-बैठे, नदी पर, भीत पर, शिला पर, पाषाणखण्ड पर, खुले आकाश में सोये-बैठे, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को शिल्प-कला आदि सिखावे, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ पर कोप करे, उन्हें कठोर वचन कहे, उनसे प्रश्नोत्तर करे, उन्हें भविष्य आदि बतावे, हस्तरेखा आदि देखकर फलाफल बतावे, स्वप्न का फलाफल बतावे, मंत्र-तंत्र सिखावे, भूले भटके को मार्ग बतावे, पात्र, दर्पण, तलवार, मणि, पानी, तैल, काकब (पतला गुड़), वसा (चरबी) आदि मे अपना मुख देखे, (निष्कारण) वमन करे, विरेचन ले एवं औषधि का सेवन करे, शिथिलाचारी (पार्श्वस्थ) आदि को वंदना-नमस्कार करे, धातृपिण्ड (गृहस्थ के बाल-बच्चों को क्रीडा कराकर आहारादि) ग्रहण करे, दूतीपिण्ड (ग्रामान्तर आदि मे जाकर समाचार कह कर आहारादि) ग्रहण करे, निमित्तपिण्ड (ज्योतिष आदि से फल बताकर आहार) ग्रहण करे, आजीविकापिण्ड (ज्ञातिसम्बन्ध मिलाकर आहार) ग्रहण करे, चिकित्सापिण्ड (औषधोपचार कर आहार) ग्रहण करे, क्रोधादिपूर्वक आहार ग्रहण करे उसके लिए उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान अर्थात् लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है।

चौदहवाँ उद्देश :

इस उद्देश मे पात्रसम्बन्धी दोषपूर्ण क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है और बताया गया है कि जो भिक्षु पात्र स्वयं मोल ले, दूसरों से मोल लिवावे, दूसरा मोल लेकर देता हो उसे ग्रहण करे, उधार ले, उधार लिवावे, दूसरा उधार लेकर देता हो उसे ग्रहण करे, अदल-बदल करे, अदल-बदल करवावे, अदल-बदल कर देने वाले से ग्रहण करे, बलपूर्वक ले, स्वामी की अनुमति के बिना ले, सन्मुख लाकर देने वाले से ग्रहण करे, अतिरिक्त पात्र गणी की अनुमति के बिना दूसरे साधुओं को दे, पूर्णाङ्ग—जिनके हाथ-पैर छिन्न—टूटे नहीं हैं ऐसे छोटे साधु-साध्वी अथवा बड़े—स्थविर साधु-साध्वी को दे, अपूर्णांग साधु-साध्वी को न दे, टूटा-फूटा पात्र रखे, मजबूत एवं काम में आने लायक पात्र न रखे, वर्णयुक्त पात्र को विवर्ण करे, विवर्ण पात्र को वर्णयुक्त करे, नये पात्र मे तेल आदि लगावे, सुरभिगन्ध पात्र को दुरभिगन्ध बनावे, दुरभिगन्ध पात्र को सुरभिगन्ध बनावे, अन्तररहित सचित्त पृथ्वी पर पात्र धूप में रखे, सचित्त रज से भरी हुई भूमि पर पात्र सुखावे, सचित्त जल आदि से युक्त भूमि पर पात्र सुखावे, छत, खाट, खंभे आदि पर पात्र सुखावे, गाँव के बीच में अथवा दो गाँवों के मार्ग के बीच में किसी से पात्र की याचना करे, परिषद् के बीच में उठकर किसी से पात्र मांगे, पात्र के लोभ से कहीं रहे अथवा चातुर्मास—वर्षावास करे वह लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है।

पन्द्रहवाँ उद्देश :

प्रस्तुत उद्देश में भी लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्तसम्बन्धी क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। जो भिक्षु किसी साधु को आक्रोशपूर्ण कठोर वचन कहे, किसी साधु की आशातना करे, सचित्त आम्र आदि खावे, सचित्त पदार्थ पर रखा हुआ अचित्त आम्र आदि खावे, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ आदि से अपने हाथ-पाँव दबवावे, तेल आदि की मालिश करवावे, फोड़ा-फुंसी आदि छिदावे-धुलावे, बाल आदि कटावे, आँखें आदि साफ करावे, वाटिका आदि में टट्टी-पेशाब डाले, गृहस्थ आदि को आहार-पानी दे, गृहस्थ के धारण करने का श्वेत वस्त्र ग्रहण करे, विभूषा (शृंगार एवं शोभा) के लिए पाँव आदि का प्रमार्जन करे, रोग आदि का उपचार करे, नख आदि काटे, दाँत आदि साफ करे, वस्त्र आदि धोवे उसके लिए लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है।

सोलहवाँ उद्देश :

सोलहवें उद्देश में भी लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का ही विधान किया गया है। जो साधु पति-पत्नी के शयनागार में प्रवेश करे, पानी के घर में प्रविष्ट हो, अग्निगृह—पाकशाला में प्रवेश करे, सचित्त इक्षु—ईख आदि चूसे, अरण्य आदि में यात्रा करते समय अपने साथ रहने वाले मनुष्यों से अथवा वनोपजीवी लोगों से आहारादि ग्रहण करे, सदाचारी को दुराचारी एवं दुराचारी को सदाचारी कहे, क्लेशपूर्वक सम्प्रदाय का त्याग करने वाले साधु के साथ खान-पान तथा अन्य प्रकार का व्यवहार रखे, अनार्य देश में विचरने की इच्छा करे, जुगुप्सित कुलों से आहारादि ग्रहण करे, अशनादि जमीन, बिछौने अथवा खूँटी पर रखे, गृहस्थ आदि के साथ आहार-पानी करे, सचित्त भूमि पर टट्टी-पेशाब डाले उसे उपर्युक्त प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ता है।

सत्रहवाँ उद्देश :

यह उद्देश भी लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है। कुतूहल के लिए किसी त्रस प्राणी को रस्सी आदि से बाँधना अथवा बँधे हुए प्राणी को खोलना, तृण आदि की माला बनाना, रखना अथवा पहनना, खिलौने आदि बनाना, रखना अथवा उनसे खेलना, समान आचार वाले साधु-साध्वी को स्थान आदि की सुविधा न देना, कष्टपूर्वक दिया जाने वाला आहारादि ग्रहण करना, अति उष्ण आहार ग्रहण करना, अपने आचार्य—गुरु के अपलक्षण दूसरों के सामने प्रकट करना, गीत गाना, वाद्ययन्त्र बजाना, नृत्य करना, वीणा आदि सुनने की इच्छा करना इत्यादि क्रियाएँ लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।

अठारहवाँ उद्देश :

इस उद्देश में भी लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त से सम्बन्धित अनेक दोषपूर्ण क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं :—

अकारण नाव में बैठना, नाव के खर्च के लिए पैसे लेना, दूसरों को पैसे दिलाना अथवा दूसरों से पैसे दिलाना, नाव उधार लेना, लिवाना अथवा लेकर दी जाने वाली नाव का उपयोग करना, नाव की अदला-बदली करना, कराना अथवा करने वाले की नाव का उपयोग करना, बलपूर्वक नाव छीन लेना, स्वामी की अनुमति के बिना नाव में बैठना, स्थल पर पड़ी हुई नाव को पानी मे डलवाना अथवा जल में पड़ी हुई नाव को स्थल पर रखवाना, नाव मे भरे हुए पानी को बाहर फेंकना, ऊर्ध्वगामिनी अथवा अधोगामिनी नौका पर बैठना, एक योजन अथवा अर्ध योजन की दूरी तक जाने वाली नाव पर बैठना, नाव चलाना अथवा नाविक को नाव चलाने में सहायता देना, छिद्र से आते हुए पानी को रोकना अथवा भरे हुए पानी को पात्र आदि से बाहर फेंकना, नाव में आहारादिक ग्रहण करना, वस्त्र खरीदना, वर्णयुक्त वस्त्र को विवर्ण बनाना, विवर्ण वस्त्र को वर्णयुक्त बनाना, सुरभिगन्ध वस्त्र को दुरभिगन्ध एवं दुरभिगन्ध वस्त्र को सुरभिगन्ध बनाना, वस्त्र को सचित्त पृथ्वी आदि पर सुखाना, अविधिपूर्वक वस्त्र की याचना करना (चौदहवें उद्देश में निर्दिष्ट पात्रविषयक दोषों की भाँति वस्त्र के विषय में भी सब दोष समझ लेने चाहिए) इत्यादि।

उन्नीसवाँ उद्देश :

प्रस्तुत उद्देश में निम्नोक्त क्रियाओं के लिए लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है :—

अचित्त वस्तु मोल लेना, मोल लिवाना, मोल लेकर देने वाले से ग्रहण करना, उधार लेना, उधार लिवाना आदि, रोगी साधु के लिए तीन दत्ति (दिये जाने वाले पदार्थ की अखण्ड धारा अथवा हिस्सा) से अधिक अचित्त वस्तु ग्रहण करना, आहारादि ग्रहण कर ग्रामानुग्राम विहार करना[1], अचित्त वस्तु (गुड़ आदि) को पानी में गलाना, अस्वाध्याय के काल मे स्वाध्याय करना, इन्द्र-महोत्सव, स्कन्दमहोत्सव, यक्षमहोत्सव एवं भूतमहोत्सव के समय स्वाध्याय करना, चैत्री (सुगिम्हिय—सुग्रीष्मी) प्रतिपदा, आषाढी प्रतिपदा, भाद्रपदी प्रतिपदा एवं कार्तिक प्रतिपदा के दिन स्वाध्याय करना, रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम एवं दिन

---

१. साधु को दो कोस से आगे आहारादि खाद्यपदार्थ ले जाने की मनाही है।

के प्रथम तथा अन्तिम—इन चारों प्रहरों के समय स्वाध्याय नहीं करना, नीचे के सूत्र का उल्लंघन कर ऊपर के सूत्र की वाचना देना, 'नव ब्रह्मचर्य' (आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध) को छोड़कर अन्य सूत्र पढ़ाना,[1] अयोग्य को शास्त्र पढ़ाना, योग्य को शास्त्र न पढ़ाना, आचार्य-उपाध्याय से न पढ़कर अपने आप ही स्वाध्याय करना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को पढ़ाना अथवा उससे पढ़ना, पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारियों को पढ़ाना अथवा उनसे पढ़ना।

बीसवाँ उद्देश :

बीसवें उद्देश के प्रारम्भ में सकपट एवं निष्कपट आलोचना के लिए विविध प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है। सकपट आलोचना के लिए निष्कपट आलोचना से एकमासिकी अतिरिक्त प्रायश्चित्त करना पड़ता है। किसी भी दशा मे षण्मासिकी से अधिक प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। प्रायश्चित्त करते हुए पुनः दोष का सेवन करने वाले के लिए विशेष प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देश में भी इन्हीं शब्दों मे इन बातों पर प्रकाश डाला गया है।

निशीथ सूत्र के प्रस्तुत परिचय से स्पष्ट है कि इस ग्रथ का जैन आगमों मे एक विशिष्ट स्थान है। इसमें केवल प्रायश्चित्तसम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन है। गुरुमासिक, लघुमासिक, गुरु चातुर्मासिक और लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य समस्त महत्त्वपूर्ण क्रियाओं का समावेश आचार्य ने प्रस्तुत सूत्र मे किया है। इस दृष्टि से निशीथ निःसन्देह अन्य आगमों से विलक्षण है। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश अर्थात् अन्धकार। दोष एवं प्रायश्चित्तविषयक सबके समक्ष अप्रकाशन के योग्य किन्तु योग्य के समक्ष प्रकाशन के योग्य जिनवचनों के संग्रह के लिए निशीथ सूत्र का निर्माण किया गया है।

---

१. इस समय पहले दशवैकालिक पढ़ाया जाता है।

प्रकरण ५

महानिशीथ

अध्ययन

चूलाएँ

हरिभद्रकृत उद्धार

पंचम प्रकरण

महानिशीथ

भाषा व विषय की दृष्टि से इस सूत्र[1] की गणना प्राचीन आगमों में नहीं की जा सकती। इसमें यत्र-तत्र आगमेतर ग्रंथों के उल्लेख भी मिलते हैं। इसमें छः अध्ययन व दो चूलाएँ हैं। यह ग्रन्थ ४५५४ श्लोकप्रमाण है। प्रारंभ में ग्रन्थ के प्रयोजन की चर्चा है।

अध्ययन :

शल्योद्धरण नामक प्रथम अध्ययन में पापरूपी शल्य की निन्दा व आलोचना करने की दृष्टि से अठारह पापस्थानक बताये गये हैं। इसमें आवश्यक-निर्युक्ति की 'इयं नाणं' इत्यादि गाथाएँ उद्धृत हैं। द्वितीय अध्ययन में कर्मविपाक का विवेचन करते हुए पापों की आलोचना पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्ययनों में कुशील साधुओं के संसर्ग से दूर रहने का उपदेश दिया गया है। इनमें मंत्र-तंत्र, नमस्कारमन्त्र, उपधान, अनुकम्पा, जिनपूजा आदि का विवेचन है। यहाँ यह बताया गया है कि वज्रस्वामी ने व्युच्छिन्न पंचमंगल की निर्युक्ति आदि का उद्धार करके इसे मूलसूत्र में स्थान दिया। नवनीतसार नामक पंचम अध्ययन में गच्छ के स्वरूप का विवेचन किया गया है। गच्छाचार नामक प्रकीर्णक का आधार यही अध्ययन है। षष्ठ अध्ययन में प्रायश्चित्त के दस व आलोचना के चार भेदों का व्याख्यान है। इसमें आचार्य भद्र के एक गच्छ में पाँच सौ साधु व बारह सौ साध्वियों के होने का उल्लेख है।

चूलाएँ :

चूलाओं में सुसढ आदि की कथाएँ हैं। यहाँ सती प्रथा का तथा राजा के पुत्रहीन होने पर कन्या को राजगद्दी पर बैठाने का उल्लेख है।

---

१. आलोचनात्मक अध्ययन–W. Schubring, Berlin, 1918; F. R. Hamm and W. Schubring, Hamburg, 1951; J. Deleu and W. Schubring, Ahmedabad, S. 1933.
मुनि श्री पुण्यविजयजी के पास इसकी हस्तलिखित प्रति है।

हरिभद्रकृत उद्धार :

तृतीय अध्ययन में इस बात का उल्लेख है कि दीमक के खा जाने पर हरिभद्र सूरि ने प्रस्तुत ग्रंथ का उद्धार व संशोधन किया तथा सिद्धसेन, वृद्धवादी, यक्ष-सेन, देवगुप्त, यशोवर्द्धन, रविगुप्त, नेमिचन्द्र, जिनदासगणी आदि आचार्यों ने इसे मान्य किया।

प्रकरण ६

जीतकल्प

षष्ठ प्रकरण

जीतकल्प

जीतकल्प सूत्र[1] के प्रणेता प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण (वि० सं० ६५० के आसपास) हैं। इस ग्रन्थ में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के भिन्न-भिन्न अपराधस्थानविषयक प्रायश्चित्त का जीत-व्यवहार[2] के आधार पर निरूपण किया गया है। इसमें कुल १०३ गाथाएँ हैं। सर्वप्रथम सूत्रकार ने प्रवचन को नमस्कार किया है एवं आत्मा की विशुद्धि के लिए जीत-व्यवहारगत प्रायश्चित्त-दान का संक्षिप्त निरूपण करने का संकल्प किया है :

> कयपवयणप्पणामो, वुच्छं पच्छित्तदाणसंखेवं।
> जीयव्ववहारगयं, जीवस्स विसोहणं परमं॥ १॥

संवर और निर्जरा से मोक्ष होता है तथा तप संवर और निर्जरा का कारण है। प्रायश्चित्त तपों में प्रधान है अतः प्रायश्चित्त का मोक्षमार्ग की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है[3]। मोक्ष के हेतुभूत चारित्र की विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अत्यावश्यक है। ऐसी दशा में मुमुक्षु के लिए प्रायश्चित्त का ज्ञान अनिवार्य है।

---

१. (अ) स्वोपज्ञ भाष्यसहित—संशोधक : मुनि पुण्यविजय; प्रकाशक : बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, हाजा पटेलनी पोल, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४.

(आ) सिद्धसेनकृत चूर्णि तथा श्रीचन्द्रसूरिकृत वृत्तिसहित—संपादक : मुनि जिनविजय; प्रकाशक : जैन साहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद, सन् १९२६.

(इ) चूर्णि के सारांश के साथ—E. Leumann, Berlin, 1892.

२. जो व्यवहार परम्परा से प्राप्त हो एवं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो वह जीत व्यवहार कहलाता है।

—जीतकल्पभाष्य, गा० ६७५

३. जीतकल्प सूत्र, गा० २.

प्रायश्चित्त के निम्नलिखित दस भेद हैं : (१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक :—

तं दसविहमालोयण-पडिकमणोभय-विवेग-वोसग्गा ।
तव-छेद-मूल-अणवट्ठया य पारंचियं चेव ॥ ४ ॥

आलोचना :

छद्मस्थ को आहारादिग्रहण, बहिर्निर्गम, मलोत्सर्ग आदि क्रियाओं में अनेक दोष लगते रहते हैं जिनकी आलोचनापूर्वक (सखेदस्वीकारोक्तिसहित) विशुद्धि करना आवश्यक है[१] ।

प्रतिक्रमण :

गुप्ति और समिति में प्रमाद, गुरु की आशातना, विनयभंग, गुरु की इच्छादि का अपालन, लघु मृषादि का प्रयोग, अविधिपूर्वक कास-जृम्भा-क्षुत-वात का निवारण, असंक्लिष्टकर्म, कन्दर्प, हास्य, विकथा, कषाय, विषयानुषंग, स्खलना आदि प्रतिक्रमण के अपराध-स्थान हैं[२] । इनका सेवन करने के पश्चात् प्रतिक्रमण करना (किये हुए अपराधों से पीछे हटना) आवश्यक है ।

उभय :

संभ्रम, भय, आपत्, सहसा, अनाभोग, अनात्मवशता, दुश्चिन्तन, दुर्भाषण, दुश्चेष्टा आदि अनेक अपराध-स्थान उभय अर्थात् आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों प्रायश्चित्तों के योग्य हैं[३] ।

विवेक :

कालातीत—अध्वातीत आदि दोषों से युक्त पिण्ड (आहार), उपधि (उपकरण), शय्या आदि ग्रहण करने से लगने वाले दोषों के निवारणार्थ विवेक प्रायश्चित्त का विधान है[४] ।

---

१. गा० ५–८. २. गा० ९–१२. ३. गा० १३–५. ४. गा० १६–७.

व्युत्सर्ग :

गमन, आगमन, विहार, श्रुत, सावद्यस्वप्न, नाव-नदी सन्तार आदि से सम्बन्धित दोष व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग के योग्य हैं[1]। आचार्य ने विभिन्न व्युत्सर्गों के लिए विभिन्न उच्छ्वासों का प्रमाण बताया है[2]।

तप :

तप का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार ने ज्ञानातिचार (ज्ञानसम्बन्धी दोष) आदि का निर्देश किया है एवं विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए एकाशन, उपवास, षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, आयंबिल (रूक्ष आहार का उपभोग) आदि का विधान किया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से तपोदान का विचार करते हुए आचार्य ने गीतार्थ, अगीतार्थ, सहनशील, असहनशील, शठ, अशठ, परिणामी, अपरिणामी, अतिपरिणामी, धृति-देहसम्पन्न, धृति-देहहीन, आत्मतर, परतर, उभयतर, नोभयतर, अन्यतर, कल्पस्थित, अकल्पस्थित आदि पुरुषों की दृष्टि से भी तपोदान का व्याख्यान किया है[3]।

छेद :

छेद नामक सप्तम प्रायश्चित्त का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने बताया है कि जो तप के गर्व से उन्मत्त है अथवा जो तप के लिए सर्वथा असमर्थ है अथवा जिसकी तप पर तनिक भी श्रद्धा नहीं है अथवा जिसका तप से दमन करना कठिन है उसके लिए छेद का विधान है[4]। छेद का अर्थ है दीक्षावस्था की काल-गणना—दीक्षा-पर्याय में कमी (छेद) कर देना।

मूल :

पंचेन्द्रियघात, मैथुनप्रतिसेवन आदि अपराध-स्थानों के लिए मूल नामक प्रायश्चित्त का विधान है[5]।

अनवस्थाप्य :

तीव्र क्रोधादि से प्रदुष्ट चित्त वाले निरपेक्ष घोरपरिणामी श्रमण के लिए अनवस्थाप्य-प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[6]।

---

१. गा० १८. २. गा० १९–२२. ३. गा० २३–७९. ४. गा० ८०–२.
५. गा० ८३–५. ६. गा० ८७–९३.

पारांचिक :

तीर्थङ्कर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर आदि की अभिनिवेशवश पुनः-पुनः आशातना करने वाला पारांचिक-प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है। इसी प्रकार कषायदुष्ट, विषयदुष्ट, स्त्यानर्द्धिनिद्राप्रमत्त एवं अन्योन्यकारी पारांचिक-प्रायश्चित्त के भागी होते हैं[१]।

इन दस प्रायश्चित्तों में से अन्तिम दो प्रायश्चित्त अर्थात् अनवस्थाप्य व पारांचिक चतुर्दशपूर्वधर (भद्रबाहु) तक ही अस्तित्व में रहे। तदनन्तर उनका विच्छेद हो गया[२]।

१. गा० ९४–६. २. गा० १०२.

चू लि का सू त्र

प्रकरण १

नंदी

मंगलाचरण

श्रोता और सभा

ज्ञानवाद

अवधिज्ञान

मनःपर्ययज्ञान

केवलज्ञान

आभिनिबोधिकज्ञान

औत्पत्तिकी बुद्धि

वैनयिकी बुद्धि

कर्मजा बुद्धि

पारिणामिकी बुद्धि

श्रुतज्ञान

प्रथम प्रकरण

नन्दी

नन्दी और अनुयोगद्वार चूलिकासूत्र कहलाते हैं। चूलिका शब्द का प्रयोग उस अध्ययन अथवा ग्रन्थ के लिए होता है जिसमें अवशिष्ट विषयों का वर्णन अथवा वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया जाता है। दशवैकालिक और महानिशीथ के अन्त में इस प्रकार की चूलिकाएँ—चूलाएँ—चूड़ाएँ उपलब्ध हैं। इनमें मूलग्रन्थ के प्रयोजन अथवा विषय को दृष्टि में रखते हुए ऐसी कुछ आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है जिनका समावेश आचार्य ग्रन्थ के किसी अध्ययन में न कर सके। आजकल इस प्रकार का कार्य पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट जोड़कर सम्पन्न किया जाता है। नन्दी और अनुयोगद्वार भी आगमों के लिए परिशिष्ट का ही काम करते हैं। इतना ही नहीं, आगमों के अध्ययन के लिए ये भूमिका का भी काम देते हैं। यह कथन नन्दी की अपेक्षा अनुयोगद्वार के विषय में अधिक सत्य है। नन्दी में तो केवल ज्ञान का ही विवेचन किया गया है जबकि अनुयोगद्वार में आवश्यक सूत्र की व्याख्या के बहाने समग्र आगम की व्याख्या अभीष्ट है। अतएव उसमें प्रायः आगमों के समस्त मूलभूत सिद्धान्तों का स्वरूप समझाते हुए विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है जिनका ज्ञान आगमों के अध्ययन के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अनुयोगद्वार सूत्र समझ लेने के बाद शायद ही कोई आगमिक परिभाषा ऐसी रह जाती है जिसे समझने में जिज्ञासु पाठक को कठिनाई का सामना करना पड़े। यह चूलिकासूत्र होते हुए भी एक प्रकार से समस्त आगमों की—आगमज्ञान की नींव है और इसीलिए अपेक्षाकृत कठिन भी है।

नन्दी[1] सूत्र में पंचज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्युक्तिकार आदि आचार्यों ने नन्दी शब्द को ज्ञान का ही पर्याय माना है। सूत्रकार ने सर्व

---

१. (अ) मूल—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९३८; शान्तिलाल व. शेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर, वि० सं० २०१०; छोटेलाल यति, अजमेर, सन् १९३४; सेठिया जैन ग्रन्थालय, बीकानेर; जैन पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम; जीवन श्रेयस्कर पाठमाला,

प्रथम ५० गाथाओं में मंगलाचरण किया है। तदनन्तर सूत्र के मूल विषय आभिनिबोधिक आदि पाँच प्रकार के ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ की है। पहले आचार्य ने ज्ञान के पाँच भेद किये हैं। तदनन्तर प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष और परोक्षरूप दो भेद किये हैं। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष व नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के रूप में पुनः दो भेद किये हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष में पाँच प्रकार की इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का समावेश है। इस प्रकार के ज्ञान को जैन न्यायशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान का समावेश है। परोक्षज्ञान दो प्रकार का है: आभिनिबोधिक और श्रुत। आभिनिबोधिक को मति भी कहते हैं। आभिनिबोधिक के श्रुतनिश्रित व अश्रुतनिश्रितरूप दो भेद हैं। श्रुतज्ञान के अक्षर, अनक्षर, संज्ञी, असंज्ञी, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, सावसान, निरवसान, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट व अनंगप्रविष्टरूप चौदह भेद हैं।

नन्दीसूत्र की रचना गद्य व पद्य दोनों में है। सूत्र का ग्रन्थमान लगभग ७०० श्लोकप्रमाण है। प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादित विषय अन्य सूत्रों मे भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए अवधिज्ञान के विषय, संस्थान, भेद आदि पर प्रज्ञापना सूत्र के ३३ वें पद मे प्रकाश डाला गया है। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) आदि सूत्रों में विविध प्रकार के अज्ञान का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मतिज्ञान का भी भगवती आदि सूत्रों में वर्णन मिलता है। द्वादशांगी श्रुत

बीकानेर, सन् १९४१; महावीर जैन भाण्डार, देहली; सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९५८.

(आ) अमोलकऋषिकृत हिन्दी अनुवादसहित—सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद, वी० सं० २४४६.

(इ) मुनि हस्तिमलकृत संस्कृत छाया, हिन्दी टीका, टिप्पणी आदि से अलंकृत—रायबहादुर मोतीलाल मुथा, भवानी पेठ, सातारा, सन् १९४२.

(ई) मलयगिरिप्रणीत वृत्तियुक्त—रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस, वि० सं० १९३६; आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२४.

(उ) चूर्णि व हरिभद्रविहित वृत्तिसहित—ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८.

(ऊ) मुनि घासीलालकृत संस्कृत व्याख्या व उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ—जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सन् १९५८.

(ऋ) आचार्य आत्मारामकृत हिन्दी टीकासहित—आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सन् १९६६.

का परिचय समवायांग सूत्र में भी दिया गया है किन्तु वह नन्दी सूत्र से कुछ भिन्न है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कुछ बातों में नन्दी सूत्र से भिन्नता एवं विशेषता दृष्टिगोचर होती है।

मंगलाचरण :

सर्वप्रथम सूत्रकार ने भगवान् अर्हन् महावीर को नमस्कार किया है। तदनन्तर जैनसंघ, चौबीस जिन, ग्यारह गणधर, जिन प्रवचन तथा सुधर्म आदि स्थविरों को स्तुतिपूर्वक प्रणाम किया है। प्रारम्भ की कुछ मंगल-गाथाएँ इस प्रकार हैं :

जयइ जगजीवजोणीवियाणओ जगगुरू जगाणंदो।
जगणाहो जगबंधू , जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥ १ ॥
जयइ सुआणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥ २ ॥
भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स, भद्दं जिणस्स वीरस्स।
भद्दं सुरासुरनमंसियस्स, भद्दं धूयरयस्स ॥ ३ ॥
गुणभवणगहणसुयरयणभरियदंसणविसुद्धरत्थागा ।
संघनगर भद्दं ते, अखंडचारित्तपागारा ॥ ४ ॥
संजमतवतुंबारयस्स, नमो सम्मत्तपारियल्लस्स।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघचक्कस्स ॥ ५ ॥

मंगल के प्रसंग से प्रस्तुत सूत्र में आचार्य ने जो स्थविरावली—गुरु-शिष्य-परम्परा दी है वह कल्पसूत्रीय स्थविरावली से भिन्न है। नन्दी सूत्र में भगवान् महावीर के बाद की स्थविरावली इस प्रकार है :—

१. सुधर्म	१२. स्वाति	२२. नागहस्ती
२. जम्बू	१३. श्यामार्य	२३. रेवतीनक्षत्र
३. प्रभव	१४. शाण्डिल्य	२४. ब्रह्मद्वीपकसिंह
४. शय्यम्भव	१५. समुद्र	२५. स्कन्दिलाचार्य
५. यशोभद्र	१६. मंगु	२६. हिमवन्त
६. सम्भूतविजय	१७. धर्म	२७. नागार्जुन
७. भद्रबाहु	१८. भद्रगुप्त	२८. श्रीगोविन्द
८. स्थूलभद्र	१९. वज्र	२९. भूतदिन्न
९. महागिरि	२०. रक्षित	३०. लौहित्य
१०. सुहस्ती	२१. नन्दिल (आनन्दिल)	३१. दूष्यगणी
११. बलिस्सह		

कल्पसूत्रीय स्थविरावली इस प्रकार है :—

१. सुधर्म
२. जम्बू
३. प्रभव
४. शय्यम्भव
५. यशोभद्र
६. संभूतिविजय
७. स्थूलभद्र
८. सुहस्ती
९. सुस्थितसुप्रतिबुद्ध
१०. इन्द्रदिन्न
११. दिन्न
१२. सिंहगिरि
१३. वज्र
१४. श्रीरथ
१५. पुष्यगिरि
१६. फल्गुमित्र
१७. धनगिरि
१८. शिवभूति
१९. भद्र
२०. नक्षत्र
२१. रक्ष
२२. नाग
२३. जेहिल
२४. विष्णु
२५. कालक
२६. सम्पलितभद्र
२७. वृद्ध
२८. संघपालित
२९. श्रीहस्ती
३०. धर्म
३१. सिंह
३२. धर्म
३३. शाण्डिल्य
३४. देवर्द्धिगणी

श्रोता और सभा :

मंगलाचरण के रूप में अर्हन् आदि की स्तुति करने के बाद सूत्रकार ने सूत्र का अर्थ ग्रहण करने की योग्यता रखने वाले श्रोता का चौदह दृष्टान्तों से वर्णन किया है। वे दृष्टान्त ये हैं : १. शैल और घन, २. कुटक अर्थात् घड़ा, ३. चालनी, ४. परिपूर्णक, ५. हंस, ६. महिष, ७. मेष, ८. मशक, ९. जलौका, १०. बिडाली, ११. जाहक, १२. गौ, १३. भेरी, १४. आभीरी। एतद्विषयक गाथा इस प्रकार है :—

सेल-घण-कुडग-चालिणि, परिपुण्णग-हंस-महिस-मेसे य।
मसग-जलूग-बिराली, जाहग-गो-भेरी-आभीरी ॥

इन दृष्टान्तों का टीकाकारों ने विशेष स्पष्टीकरण किया है।

श्रोताओं के समूह को सभा कहते हैं। सभा कितने प्रकार की होती है? इस प्रश्न का विचार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सभा संक्षेप में तीन प्रकार की होती है : ज्ञायिका, अज्ञायिका और दुर्विदग्धा। जैसे हंस पानी को छोड़कर दूध पी जाता है उसी प्रकार गुणसम्पन्न पुरुष दोषों को छोड़कर गुणों को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार के पुरुषों की सभा ज्ञायिका कहलाती है। जो श्रोता मृग, सिंह और कुक्कुट के बच्चों के समान प्रकृति से मधुर होते हैं तथा असंस्थापित रत्नों के समान किसी भी रूप में स्थापित किये जा सकते हैं—किसी भी मार्ग में लगाये जा सकते हैं वे अज्ञायिक हैं। इस प्रकार के श्रोताओं की सभा

अज्ञायिका कहलाती है। जिस प्रकार कोई ग्रामीण पंडित किसी भी विषय में विद्वत्ता नहीं रखता और न अनादर के भय से किसी विद्वान् को ही कुछ पूछता है किन्तु केवल वातपूर्ण वस्ति—वायु से भरी हुई मशक के समान लोगों से अपने पाण्डित्य की प्रशंसा सुनकर फूलता रहता है इसी प्रकार जो लोग अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझते उनकी सभा दुर्विदग्धा कहलाती है।

ज्ञानवाद :

इतनी भूमिका बाँधने के बाद सूत्रकार अपने मूल विषय पर आते हैं। वह विषय है ज्ञान। ज्ञान क्या है ? ज्ञान पांच प्रकार का है : १. आभिनिबोधिकज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्ययज्ञान और ५. केवलज्ञान (**से किं तं नाणं ? नाणं पंचविहं पन्नतं, तंजहा—आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं**)।[1] यह ज्ञान संक्षेप में दो प्रकार का है : प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष का क्या स्वरूप है ? प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद हैं : इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष क्या है ? इन्द्रियप्रत्यक्ष पांच प्रकार का है : १. श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, २. चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, ३. घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, ४. जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्ष, ५. स्पर्शेन्द्रियप्रत्यक्ष। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष क्या है ? नोइन्द्रियप्रत्यक्ष तीन प्रकार का है : १. अवधिज्ञानप्रत्यक्ष, २. मनःपर्ययज्ञानप्रत्यक्ष, ३. केवलज्ञानप्रत्यक्ष।[2]

अवधिज्ञान :

अवधिज्ञानप्रत्यक्ष क्या है ? अवधिज्ञानप्रत्यक्ष दो प्रकार का है : भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक। भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कौन-सा है ? भवप्रत्ययिक अर्थात् जन्म से होने वाला अवधिज्ञान दो को होता है : देवों को और नारकों को। क्षायोपशमिक अवधिज्ञान क्या है ? क्षायोपशमिक अवधिज्ञान भी दो को होता है : मनुष्यों को और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों को। इसे क्षायोपशमिक क्यों कहते हैं ? अवधिज्ञान के आवरक कर्मों में से उदीर्ण का क्षय तथा अनुदीर्ण का उपशमन होने पर उत्पन्न होने के कारण इसे क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं : **खाओवसमियं तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिनाणं समुप्पज्जइ**।[3] अथवा गुणप्रतिपन्न अनगार—मुनि को जो अवधिज्ञान होता है वह क्षायोपशमिक है। क्षायोपशमिक अवधिज्ञान संक्षेप में छः प्रकार का कहा गया है : १. आनुगामिक, २. अनानुगामिक, ३. वर्धमानक, ४. हीयमानक ५.

---

१. सू. १. २. सू. २—५. ३. सू. ८.

प्रतिपातिक, ६. अप्रतिपातिक ।[1] आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है: अन्तगत और मध्यगत। अन्तगत आनुगामिक अवधिज्ञान तीन प्रकार का है: पुरतः अन्तगत, मार्गतः अन्तगत और पार्श्वतः अन्तगत। जैसे कोई पुरुष उल्का—दीपिका, चटुली—पर्यन्तज्वलित तृणपूलिका, अलात—तृणाग्रवर्ती अग्नि, मणि, प्रदीप अथवा अन्य किसी प्रकार की ज्योति को आगे रख कर बढ़ता हुआ चला जाता है उसी तरह जो ज्ञान आगे के प्रदेश को प्रकाशित करता हुआ साथ-साथ चलता है वह पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान है। जैसे कोई पुरुष उल्का आदि को पीछे रखकर साथ में लिये हुए चलता जाता है वैसे ही जो ज्ञान पीछे के क्षेत्र को प्रकाशित करता हुआ जाता है वह मार्गतः अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है। जैसे कोई पुरुष दीपिका आदि को अपनी बगल में रखकर आगे बढ़ता जाता है वैसे ही जो ज्ञान पार्श्व के पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ साथ-साथ चलता है वह पार्श्वतः अन्तगत अवधिज्ञान है। मध्यगत अवधिज्ञान किसे कहते हैं? जिस प्रकार कोई पुरुष उल्का आदि प्रकाशकारी पदार्थों को मस्तक पर रख कर चलता जाता है उसी प्रकार जो अवधिज्ञान चारों ओर के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए ज्ञाता के साथ-साथ चलता है वह मध्यगत आनुगामिक अवधिज्ञान है। अन्तगत और मध्यगत अवधि में क्या विशेषता है? पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान से संख्येय तथा असंख्येय योजन आगे के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं (जाणइ पासइ), मार्गतः अन्तगत अवधिज्ञान से संख्येय तथा असंख्येय योजन पीछे के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं, पार्श्वतः अन्तगत अवधिज्ञान से दोनों बाजुओं में रहे हुए संख्येय तथा असंख्येय योजन तक के पदार्थ ही जाने व देखे जाते हैं किन्तु मध्यगत अवधिज्ञान से सभी ओर के संख्येय तथा असंख्येय योजन के बीच में रहे हुए पदार्थ जाने व देखे जाते हैं। यही अन्तगत अवधि और मध्यगत अवधि में विशेषता है।[2] यहाँ तक आनुगामिक अवधिज्ञान की चर्चा है। अनानुगामिक अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष एक बड़े अग्नि-स्थान में अग्नि जलाकर उसी के आसपास घूमता हुआ उसके इर्दगिर्द के पदार्थों को देखता है, दूसरी जगह रहे हुए पदार्थों को अन्धकार के कारण नहीं देख सकता, इसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है उसी क्षेत्र के संख्येय तथा असंख्येय योजन तक के सम्बद्ध या असम्बद्ध पदार्थों को जानता व देखता है। उससे बाहर के पदार्थों को नहीं जानता।[3] जो प्रशस्त अध्यवसाय में स्थित है तथा जिसका चारित्र परिणामों की विशुद्धि से वर्धमान है

---

१. सू. ९. २. सू. १०. ३. सू. ११.

उसके ज्ञान की सीमा चारों ओर से बढ़ती है। इसी को वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।[1] अप्रशस्त अध्यवसाय में स्थित साधु जब संक्लिष्ट परिणामों से संक्लिश्यमान चारित्रवाला होता है तब चारों ओर से उसके ज्ञान की हानि होती है। यही हीयमान अवधि का स्वरूप है।[2] जो जघन्यतया अंगुल के असंख्यातवें भाग अथवा संख्यातवें भाग यावत् योजनलक्षपृथक्त्व[3] एवं उत्कृष्टतया संपूर्ण लोक को जान कर फिर गिर जाता है वह प्रतिपातिक अवधिज्ञान है।[4] अलोक के एक भी आकाश-प्रदेश को जानने व देखने के बाद आत्मा का अवधिज्ञान अप्रतिपातिक होता है।[5] विषय की दृष्टि से अवधिज्ञान चार प्रकार का कहा गया है: १. द्रव्यविषयक, २. क्षेत्रविषयक, ३. कालविषयक और ४. भावविषयक। द्रव्यदृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अर्थात् कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक सभी रूपी द्रव्यों को जानता व देखता है। क्षेत्र की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को जानता व देखता है और उत्कृष्ट लोकप्रमाण असंख्य खंडों को (अलोक में) जानता व देखता है। काल की दृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य आवलिका के असंख्यातवें भाग को जानता-देखता है और उत्कृष्ट असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप अतीत और अनागत काल को जानता-देखता है। भावदृष्टि से अवधिज्ञानी जघन्य अनन्त भावों (पर्यायों) को जानता व देखता है एवं उत्कृष्टतया भी अनन्त[6] भावों को जानता-देखता है (समस्त भावों के अनन्तवें भाग को जानता व देखता है)।[7]

मनःपर्ययज्ञान :

मनःपर्ययज्ञान क्या है? यह मनुष्यों को होता है या अमनुष्यों को? मनुष्यों को होता है तो क्या सम्मूर्च्छिम[8] मनुष्यों को होता है या गर्भज मनुष्यों

---

१. सू. १२. २. सू. १३. ३. दो से नौ तक की संख्या पृथक्त्व कहलाती है। ४. सू. १४. ५. सू. १५.

६. अनन्त अनेक प्रकार का है अतः इस कथन में किसी प्रकार का विरोध नहीं समझना चाहिए।

७. सू० १६. यहाँ क्षेत्र और काल को जानता-देखता है, ऐसा कहा है किन्तु यह उपचार है। वस्तुतः तद्गत रूपी पदार्थ को जानता-देखता है।

८. मलमूत्र आदि में पैदा होनेवाले मनुष्यों को सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहते हैं। इनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है एवं वे अन्तर्मुहूर्त के बहुत थोड़े समय में ही मर जाते हैं।

को ? यह ज्ञान सम्मूर्च्छिम मनुष्यों को नहीं अपितु गर्भज मनुष्यों को ही होता है। गर्भज मनुष्यों में से भी कर्मभूमि के गर्भज मनुष्यों को ही होता है, अकर्मभूमि अथवा अंतरद्वीप के गर्भज मनुष्यों को नहीं। कर्मभूमि के गर्भज मनुष्यों में से भी संख्येय वर्ष की आयुवालों को ही होता है, असंख्येय वर्ष की आयुवालों को नहीं। संख्येय वर्ष की आयुवालों में से भी पर्याप्तक (इन्द्रिय, मन आदि द्वारा पूर्ण विकसित) को ही होता है, अपर्याप्तक को नहीं। पर्याप्तकों मे से भी सम्यग्दृष्टि को ही होता है, मिथ्यादृष्टि को अथवा मिश्रदृष्टि (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि) को नहीं। सम्यग्दृष्टि वालों मे से भी संयत (साधु) सम्यग्दृष्टि को ही होता है, असंयत अथवा संयतासंयत सम्यग्दृष्टि को नहीं। संयतों—साधुओं मे से भी अप्रमत्त संयत को ही होता है, प्रमत्त संयत को नहीं। अप्रमत्त साधुओं में से भी ऋद्धिप्राप्त को ही होता है, ऋद्धिशून्य को नहीं।[१] इस प्रकार मनःपर्ययज्ञान के अधिकारी का नव्यन्याय की शैली में प्रतिपादन करने के बाद सूत्रकार मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप-वर्णन प्रारंभ करते है। मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का होता है : ऋजुमति और विपुलमति। दोनों प्रकार के मनःपर्ययज्ञान का संक्षेप में चार दृष्टियों से विचार किया जाता है : १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। द्रव्य की अपेक्षा से ऋजुमति अनन्तप्रदेशी अनन्त स्कन्धों (अणुसंघात) को जानता व देखता है और उसी को विपुलमति कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध तथा स्पष्ट जानता-देखता है (**ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ**)। क्षेत्र की अपेक्षा से ऋजुमति कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग और अधिक से अधिक नीचे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी भाग के नीचे के छोटे प्रतरों तक, ऊपर ज्योतिष्क विमान के ऊपरी तलपर्यन्त तथा तिर्यक्-तिरछा मनुष्य-क्षेत्र के भीतर ढाई द्वीप-समुद्रपर्यन्त अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तरद्वीपों में रहे हुए संज्ञी (समनस्क) पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के मनोगत भावों को जानता व देखता है और विपुलमति उसी को ढाई अंगुल अधिक, विपुलतर, विशुद्धतर तथा स्पष्टतर जानता-देखता है। काल की अपेक्षा से ऋजुमति पल्योपम के असंख्यातवें भाग के भूत व भविष्य को जानता-देखता है और विपुलमति उसी को कुछ अधिक विस्तार एवं विशुद्धिपूर्वक जानता-देखता है। भाव की अपेक्षा से ऋजुमति अनन्त भावों (भावों के अनन्तवें भाग) को जानता-देखता है और विपुलमति उसी को कुछ अधिक विस्तार एवं विशुद्धि-

---

१. सू. १०.

पूर्वक जानता व देखता है।[1] संक्षेप में मनःपर्ययज्ञान मनुष्यों के चिन्तित अर्थ को प्रकट करनेवाला है, मनुष्य-क्षेत्र तक सीमित है तथा चारित्रयुक्त पुरुष के क्षयोपशम गुण से उत्पन्न होनेवाला है :

> मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडणं।
> माणुसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइअं चरित्तवओ ।।
>
> —सूत्र १८, गा. ६५.

केवलज्ञान :

केवलज्ञान क्या है? केवलज्ञान दो प्रकार का कहा गया है : भवस्थ-केवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। भवस्थकेवलज्ञान अर्थात् संसार मे रहे हुए अर्हन्तों का केवलज्ञान दो प्रकार का है : सयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अयोगिभवस्थकेवलज्ञान।[2] सयोगिभवस्थकेवलज्ञान पुनः दो प्रकार का है : प्रथमसमय-सयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अप्रथमसमय-सयोगिभवस्थकेवलज्ञान अथवा चरमसमय-सयोगिभवस्थकेवलज्ञान और अचरमसमय-सयोगिभवस्थकेवलज्ञान। इसी प्रकार अयोगिभवस्थकेवलज्ञान भी दो प्रकार का है। सिद्धकेवलज्ञान के दो भेद हैं : अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान और परम्परसिद्धकेवलज्ञान। अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान पन्द्रह प्रकार का कहा गया है : १. तीर्थसिद्ध, २. अतीर्थसिद्ध, ३. तीर्थङ्करसिद्ध, ४. अतीर्थंकरसिद्ध, ५. स्वयंबुद्धसिद्ध, ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७. बुद्धबोधितसिद्ध, ८. स्त्रीलिंगसिद्ध, ९. पुरुषलिंगसिद्ध, १०. नपुंसकलिंगसिद्ध, ११. स्वलिंगसिद्ध, १२. अन्यलिंगसिद्ध, १३. गृहलिंगसिद्ध, १४. एकसिद्ध, १५. अनेकसिद्ध। परम्परसिद्धकेवलज्ञान अनेक प्रकार का है, जैसे अप्रथमसमयसिद्ध, द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुःसमयसिद्ध, यावत् दशसमयसिद्ध, संख्येयसमयसिद्ध, असंख्येयसमयसिद्ध, अनन्तसमयसिद्ध आदि। सामान्यतः केवलज्ञान का चार दृष्टियों से विचार किया गया है : १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। द्रव्य की अपेक्षा से केवलज्ञानी सम्पूर्ण द्रव्यों को जानता व देखता है। क्षेत्र की अपेक्षा से केवलज्ञानी लोकालोकरूप समस्त क्षेत्र को जानता व देखता है। काल की अपेक्षा से केवलज्ञानी सम्पूर्ण काल—तीनों कालों को जानता व देखता है। भाव की अपेक्षा से केवलज्ञानी द्रव्यों के समस्त पर्यायों को जानता व देखता है।[3]

---

1. सू. १८.
2. काय, वाक् और मन के व्यापार को योग कहते हैं। सयोगी का अर्थ योग-सहित और अयोगी का अर्थ योगरहित है।
3. सू. १९–२२.

संक्षेप में केवलज्ञान समस्त पदार्थों के परिणामों एवं भावों को जाननेवाला है, अनन्त है, शाश्वत है, अप्रतिपाती है, एक ही प्रकार का है :

अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई, एकविहं केवलं नाणं॥
—सू. २२, गा. ६६.

आभिनिबोधिकज्ञान :

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के अन्तिम प्रकार केवलज्ञान का वर्णन करने के बाद सूत्रकार प्रत्यक्षज्ञान की चर्चा समाप्त कर परोक्षज्ञान की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। परोक्षज्ञान दो प्रकार का है : आभिनिबोधिक और श्रुत। जहाँ आभिनिबोधिकज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान है और जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ आभिनिबोधिकज्ञान है। ये दोनों परस्पर अनुगत हैं। इन दोनों में विशेषता यह है कि अभिमुख आये हुए पदार्थों का जो नियत बोध कराता है वह आभिनिबोधिकज्ञान है। इसी को मतिज्ञान भी कहते हैं। श्रुत का अर्थ है सुनना। श्रुतज्ञान अर्थात् शब्दजन्यज्ञान मतिपूर्वक होता है किन्तु मतिज्ञान श्रुतपूर्वक नहीं होता।[1]

अविशेषित मति मति-ज्ञान और मति-अज्ञान[2] उभयरूप है। विशेषित मति अर्थात् सम्यग्दृष्टि की मति मति-ज्ञान है तथा मिथ्यादृष्टि की मति मति-अज्ञान है। इसी प्रकार अविशेषित श्रुत श्रुत-ज्ञान और श्रुत-अज्ञान उभयरूप है जबकि विशेषित अर्थात् सम्यग्दृष्टि का श्रुत श्रुत-ज्ञान है एवं मिथ्यादृष्टि का श्रुत श्रुत-अज्ञान है।[3]

आभिनिबोधिकज्ञान–मतिज्ञान दो प्रकार का कहा गया है : श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित। अश्रुतनिश्रित मति—बुद्धि चार प्रकार की होती है : १. औत्पत्तिकी, २. वैनयिकी, ३. कर्मजा, ४. पारिणामिकी :—

उप्पत्तिया वेणइआ, कम्मया परिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भई॥
—सू. २६, गाथा ६८.

औत्पत्तिकी बुद्धि :

पहले बिना देखे, बिना सुने और बिना जाने पदार्थों को तत्काल विशुद्धरूप से ग्रहण करने वाली अबाधित फलयुक्त बुद्धि को औत्पत्तिकी बुद्धि कहते हैं। यह

---

१. सू. २४. २. अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान। ३. सू. २५.

बुद्धि किसी प्रकार के पूर्व अभ्यास एवं अनुभव के बिना ही उत्पन्न होती है।[1] सूत्रकार ने इसका स्वरूप विशेष स्पष्ट करने के लिए अनेक रोचक दृष्टान्त दिये हैं। इन दृष्टान्तों को चूर्णिकार एवं हरिभद्र, मलयगिरि आदि टीकाकारों ने विस्तारपूर्वक लिखा है। यहाँ नमूने के तौर पर एक-एक दृष्टान्त उद्धृत किया जाता है[2] :—

उज्जयिनी के पास नटों का एक गाँव था। उसमें भरत नामक एक नट रहता था। उसकी स्त्री किसी रोग के कारण मर गई किन्तु अपने पीछे रोहक नामक एक छोटा बालक छोड़ गई। भरत ने अपनी व शिशु रोहक की सेवा के लिए दूसरा विवाह किया। रोहक की नई माँ रोहक के साथ ठीक व्यवहार नहीं करती जिससे दुःखी होकर रोहक ने एक दिन उसे कहा कि माँ! तू मेरे साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार नहीं करती, यह ठीक नहीं है। इस पर माँ बोली कि अरे रोहक! मैं यदि तेरे साथ ठीक व्यवहार नहीं करती तो तू मेरा क्या बिगाड़ लेगा? रोहक ने कहा कि मैं ऐसा करूँगा जिससे तुझे मेरे पाँव पर गिरना पड़ेगा। वह बोली कि अरे पाँव पर गिराने वाले! जा, तुझे जो करना हो कर लेना। यह कह कर माँ चुप हो गई। रोहक अपनी करामात दिखाने का अवसर ढूँढने लगा। एक दिन रात्रि के समय वह अपने पिता के पास सोया हुआ था कि अचानक बोलने लगा—काका! यह देखो, कोई आदमी दौड़ा जाता है। बालक की बात सुनकर नट को अपनी स्त्री के चारित्र के प्रति शंका हो गई। उसी दिन से उसने उसके साथ अच्छी तरह बोलना भी बन्द कर दिया और अलग सोने लगा। इस प्रकार पति को अपने से मुँह मोड़े हुए देखकर वह समझ गई कि यह सब रोहक की ही करामात है। बिना इसे प्रसन्न किये काम नहीं चलेगा। ऐसा सोच कर उसने अनुनयपूर्वक भविष्य के लिए सद्व्यवहार का आश्वासन दिलाते हुए बालक को संतुष्ट किया। प्रसन्न होकर रोहक भी पिता की शंका दूर करने के लिए एक दिन चाँदनी रात में अंगुली से अपनी छाया दिखाते हुए पिता से कहने लगा कि पिताजी! देखो, यह कोई आदमी जा रहा है। सुनते ही नट ने उस पुरुष को मारने के लिए क्रोध में आकर म्यान से तलवार निकाली और बोला कि कहाँ है वह लंपट जो मेरे घर मे घुस कर धर्म नष्ट करता है? दिखा, अभी उसे इस लोक से बिदा कर देता हूँ। रोहक ने उत्तर में अंगुली से अपनी छाया दिखाते हुए कहा कि यह है वह लंपट। छाया को पुरुष समझने की बालचेष्टा देखते ही भरत

---

१. गा. ६९.

२. मुनि हस्तिमल्लकृत हिन्दी टीका, पृ० ५४–६.

लज्जित होकर सोचने लगा कि अहो ! मैंने व्यर्थ ही बालक के कहने से अपनी स्त्री के साथ अप्रीति का व्यवहार किया। इस प्रकार पश्चात्ताप करने के बाद भरत अपनी स्त्री से पूर्ववत् प्रेम-व्यवहार करने लगा। तब रोहक ने सोचा कि मेरे दुर्व्यवहार से अप्रसन्न हुई माता कदाचित् मुझे विष आदि देकर मार देगी, इसलिए अब अकेले भोजन नहीं करना चाहिए। यों सोचकर वह अपना खाना-पीना पिता के साथ ही करने लगा व हमेशा पिता के साथ ही रहने लगा। एक दिन कार्यवशात् रोहक अपने पिता के साथ उज्जयिनी गया। नगरी को देव-पुरी की भाँति देखकर रोहक अति विस्मित हुआ और अपने मन में उसका पूरा चित्र खींच लिया। घर की ओर वापिस लौटते समय नगरी के बाहर निकलते ही भरत को कुछ भूली हुई चीज याद आई और उसे लेने के लिए रोहक को सिप्रा नदी के किनारे बैठाकर वापिस नगरी में चला गया। इसी बीच में रोहक ने नदी के किनारे की बालू पर सारी नगरी चित्रित कर दी। इधर घूमने आया हुआ राजा संयोगवश साथियों के मार्ग भूल जाने से अकेला ही उधर चला गया। उसे अपनी चित्रित नगरी के बीच से आते देख रोहक बोला—राजपुत्र ! इस रास्ते से मत आओ। राजा बोला—क्यों, क्या है ? रोहक ने उत्तर दिया—देखते नहीं ! यह राजभवन है जहाँ हर एक प्रवेश नहीं कर सकता। यह सुनकर कौतुक-वश हो राजा ने उसकी बनाई हुई सारी नगरी देखी और उससे पूछा—पहले भी तुमने कभी यह नगरी देखी है ? रोहक ने उत्तर दिया—कभी नहीं, आज ही गाँव से यहाँ आया हूँ। बालक की अद्‌भुत धारणाशक्ति व चातुरी देखकर राजा चकित हो गया और मन ही मन उसकी बुद्धि की प्रशंसा करने लगा। इसके बाद राजा ने रोहक से पूछा—वत्स ! तुम्हारा नाम क्या है ? तुम कहाँ रहते हो ? रोहक बोला—राजन् ! मेरा नाम रोहक है। मैं इस पास के नटों के गाँव में रहता हूँ। इस प्रकार दोनों की बात चल रही थी कि रोहक का पिता आ पहुँचा और पिता-पुत्र अपने गाँव को चले गये। राजा भी अपने भवन में चला गया।

रोहक की घटना याद कर एक दिन राजा अपने मन में सोचने लगा कि मेरे एक कम पाँच सौ मन्त्री हैं। यदि इस मन्त्रिमण्डल में अत्यन्त बुद्धिमान् एक मूर्धन्य बड़ा मन्त्री और मिल जाये तो मेरा राज्य सुख से चलेगा। यों सोचकर राजा ने रोहक की बुद्धि-परीक्षा प्रारम्भ की। एक दिन राजा ने उस गाँव के लोगों को आदेश दिया कि तुम सब मिलकर एक ऐसा मंडप बनाओ जो राजा के योग्य हो एवं तुम्हारे गाँव के बाहर वाली बृहत्तम शिला बिना उखाड़े जिसके आच्छादन के रूप में काम में ली जाए। राजा के इस आदेश से गाँववाले

आकुल हो उठे। गाँव के बाहर इकट्ठे होकर वे परस्पर विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिए। राजा के इस दुष्ट आदेश का पालन न करने पर अति कठिन दण्ड भोगना पड़ेगा। इस आदेश को किस तरह कार्यरूप में परिणत किया जाए? इस विकट समस्या को कैसे सुलझाया जाए? इस प्रकार चिन्ता से व्याकुल उन सब लोगों को विचार करते-करते दोपहर हो गया। इधर रोहक अपने पिता भरत के बिना भोजन के लिए व्याकुल हो रहा था। बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद पिता के पास आया और कहने लगा कि पिताजी! मैं भूख से बहुत व्याकुल हो गया हूँ अतः भोजन के लिए जल्दी घर चलिए। भरत ने कहा—वत्स! गाँव के लोग आज बहुत दुःखी हैं। तुम उनके कष्ट को नहीं जानते हो। रोहक पूछने लगा—पिताजी! गाँववालों को ऐसा कौन सा कष्ट है जिससे वे इतने दुःखी हैं? भरत ने राजा के आदेश के पालन की अशक्यता पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला। भरत की बात सुनकर रोहक को बड़ी हँसी आई। हँसते-हँसते ही उसने कहा—इसीलिए आप सब चिन्तित हैं! इसमें चिन्ता की कौन-सी बात है? आप लोग मंडप बनाने के लिए शिला के चारों ओर नीचे की भूमि खोद डालिए और फिर यथास्थान आधारस्तम्भ लगाकर मध्यवर्ती भूमि को भी खोद डालिए तथा चारों ओर एक सुन्दर दीवाल खड़ी कर दीजिए। राजा के आदेश का अक्षरशः पालन हो जाएगा। मंडप-निर्माण के इस उपाय से गाँववाले अति प्रसन्न हुए। कुछ ही दिनों में मंडप तैयार हो गया। गाँववालों ने राजा से जाकर निवेदन किया कि श्रीमान् का आदेश पूरा कर दिया गया है। राजा ने पूछा—यह कार्य कैसे सम्पन्न हुआ? गाँववालों ने सारी कथा कह सुनाई। राजा समझ गया कि यह सब भरत के पुत्र रोहक का बुद्धि-कौशल है।

यह रोहक की औत्पत्तिकी बुद्धि का एक उदाहरण है। इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत सूत्र में संकेतरूप से दिये गये हैं।

वैनयिकी बुद्धि :

कठिन कार्यभार के निर्वाह में समर्थ, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग का वर्णन करने वाले सूत्र और अर्थ का सार ग्रहण करनेवाली तथा इहलोक और परलोक दोनों में फल देनेवाली बुद्धि विनयसमुत्थ अर्थात् विनय से उत्पन्न होनेवाली वैनयिकी बुद्धि है :

भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला।
उभओलोगफलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी॥

—गा. ७३.

इस बुद्धि का स्वरूप समझाने के लिए पन्द्रह उदाहरण दिये गये हैं। ये उदाहरण भी अति रोचक हैं।

कर्मजा बुद्धि :

एकाग्र चित्त से (उपयोगपूर्वक) कार्य के परिणाम को देखनेवाली, अनेक कार्यों के अभ्यास एवं चिन्तन से विशाल तथा विद्वज्जनों से प्रशंसित बुद्धि का नाम कर्मजा बुद्धि है :

> उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला।
> साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी॥
>
> —गा. ७६.

कर्मजा बुद्धि का स्वरूप विशेष स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने सुवर्णकार, कृषक, कौलिक, डोव अर्थात् दर्वीकार (लोहकार), मणिकार, घृतविक्रेता, प्लवक–कूदनेवाला, तुन्नाग–सीनेवाला, वर्धकी–बढ़ई, आपूपिक–हलवाई, कुम्भकार, चित्रकार आदि कर्मकारों के उदाहरणों का निर्देश किया है।

पारिणामिकी बुद्धि :

अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से विषय को सिद्ध करनेवाली, आयु के परिपाक से पुष्ट तथा ऐहलौकिक उन्नति एवं मोक्षरूप निःश्रेयस् प्रदान करनेवाली बुद्धि का नाम पारिणामिकी बुद्धि है :

> अणुमाणहेउदिट्ठंतसाहिया, वयविवागपरिणामा।
> हियनिस्सेयसफलवई, बुद्धी परिणामिया नाम॥
>
> —गा. ७८.

इसका स्वरूप समझाने के लिए अभयकुमार, श्रेष्ठी, कुमार, देवी, उदितोदय राजा, साधु और कुमार नन्दिसेन, धनदत्त, श्रावक, अमात्य आदि के उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ तक अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान का अधिकार है।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के भी चार भेद हैं : १. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय, ४. धारणा। अवग्रह दो प्रकार का कहा गया है : अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह[1] चार प्रकार का है : १. श्रोत्रेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह,

---

१. इन्द्रिय व पदार्थ के सम्बन्ध अर्थात् संयोग को व्यंजन कहते हैं। उस सम्बन्ध–संयोग से पदार्थ का जो अव्यक्त ज्ञान होता है वही व्यंजनावग्रह है। अर्थावग्रह पदार्थों के सामान्य ज्ञान का नाम है।

२. घ्राणेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, ३. जिह्वेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, ४. स्पर्शेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह। अर्थावग्रह छः का प्रकार है : १. श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह, २. चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह, ३. घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ४. जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ५. स्पर्शेन्द्रिय-अर्थावग्रह, ६. नोइन्द्रिय (मन)-अर्थावग्रह। अवग्रह के ये पाँच नाम एकार्थक हैं : अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा।[1]

ईहा भी अर्थावग्रह की ही भाँति छः प्रकार की होती है। ईहा के एकार्थक शब्द ये हैं : आभोगनता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता और विमर्श।[2]

अवाय भी श्रोत्रेन्द्रिय आदि भेद से छः प्रकार का है। इसके एकार्थक नाम इस प्रकार हैं : आवर्त्तनता, प्रत्यावर्त्तनता, अपाय, बुद्धि और विज्ञान।[3]

धारणा भी पूर्वोक्त रीति से छः प्रकार की है। इसके एकार्थक पद ये हैं : धरण, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा और कोष्ठ।[4] अवग्रह आदि का स्वरूप सूत्रकार ने आगे दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है।

मतिज्ञान की अवग्रह आदि अवस्थाओं का कालमान बताते हुए आचार्य कहते हैं कि अवग्रह एक समय तक रहता है, ईहा की अवस्थिति अन्तर्मुहूर्त है, अवाय भी अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, धारणा संख्येय अथवा असंख्येय काल तक रहती है।[5]

अवग्रह के एक भेद व्यंजनावग्रह का स्वरूप समझाने के लिए सूत्रकार ने निम्न दृष्टान्त दिया है :—

जैसे कोई पुरुष किसी सोये हुए व्यक्ति को ओ अमुक ! ओ अमुक ! ऐसा कहकर जगाता है। उसे कानों में प्रविष्ट एक समय[6] के शब्द-पुद्गल सुनाई नहीं देते, दो समय के शब्द-पुद्गल सुनाई नहीं देते, यावत् दस समय तक के शब्द-पुद्गल सुनाई नहीं देते। इसी प्रकार संख्येय समय के प्रविष्ट पुद्गलों को भी वह ग्रहण नहीं करता। असंख्येय समय के प्रविष्ट पुद्गल ही उसके ग्रहण करने में आते हैं। यही व्यंजनावग्रह है। इसे आचार्य ने मल्लक—शराव—सिकोरा के दृष्टान्त से भी स्पष्ट किया है। अर्थावग्रह आदि का स्वरूप इस प्रकार है : जैसे कोई पुरुष जाग्रत् अवस्था में अव्यक्त शब्द को सुनता है और उसे 'कुछ शब्द है' ऐसा समझ कर ग्रहण करता है किन्तु यह नहीं जानता कि वह शब्द किसका है? तदनन्तर वह ईहा में प्रवेश करता है और तब जानता है कि यह शब्द अमुक का

---

१. सू. २६–३०. २. सू. ३१. ३. सू. ३२. ४. सू. ३३. ५. सू. ३४.
६. यह काल का एक प्रमाणविशेष है।

होना चाहिए। इसके बाद वह अवाय में प्रवेश करता है और निश्चय करता है कि यह शब्द अमुक का ही है। तदनन्तर वह धारणा में प्रवेश करता है एवं उस शब्द के ज्ञान को संख्येय अथवा असंख्येय काल तक हृदय में धारण किये रहता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। नोइन्द्रिय अर्थात् मन से अर्थावग्रह आदि इस प्रकार होते हैं: जैसे कोई पुरुष अव्यक्त स्वप्न देखता है और प्रारम्भ में 'कुछ स्वप्न है' ऐसा समझता है। यह मनोजन्य अर्थावग्रह है। तदनन्तर क्रमशः मनोजन्य ईहा, अवाय और धारणा की उत्पत्ति होती है।[1]

संक्षेप में उपर्युक्त भेदों वाले मतिज्ञान—आभिनिबोधिकज्ञान का चार दृष्टियों से विचार हो सकता है: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया सब पदार्थों को जानता है किन्तु देखता नहीं। क्षेत्र की दृष्टि से मतिज्ञानी सामान्यप्रकार से सम्पूर्ण क्षेत्र को जानता है किन्तु देखता नहीं। काल की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया सम्पूर्ण काल को जानता है किन्तु देखता नहीं। भाव की अपेक्षा से मतिज्ञानी सामान्यतया समस्त भावों—पर्यायों को जानता है किन्तु देखता नहीं। मतिज्ञान का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं: शब्द स्पृष्ट (छूने पर) ही सुना जाता है, रूप अस्पृष्ट ही देखा जाता है, रस, गन्ध और स्पर्श स्पृष्ट एवं बद्ध (आत्मप्रदेशों से गृहीत होने पर) ही जाना जाता है।[2] ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा—ये सब आभिनिबोधिक—मतिज्ञान के पर्याय हैं:

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं, च बद्धपुट्ठं वियागरे॥
ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियं॥

—गा. ८५, ८७.

श्रुतज्ञान:

श्रुतज्ञानरूप परोक्षज्ञान क्या है? श्रुतज्ञानरूप परोक्षज्ञान चौदह प्रकार का है: १. अक्षरश्रुत, २. अनक्षरश्रुत, ३. संज्ञिश्रुत, ४. असंज्ञिश्रुत, ५. सम्यक्श्रुत, ६. मिथ्याश्रुत, ७. सादिश्रुत, ८. अनादिश्रुत, ९. सपर्यवसितश्रुत, १०. अपर्यवसितश्रुत, ११. गमिकश्रुत, १२. अगमिकश्रुत, १३. अङ्गप्रविष्ट, १४. अनङ्गप्रविष्ट। इनमें से अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं: संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। अक्षर

---

१. सू. ३५. २. सू. ३६.

की संस्थानाकृति का नाम संज्ञाक्षर है। अक्षर के व्यंजनाभिलाप को व्यंजनाक्षर कहते हैं। अक्षरलब्धिवाले जीव को लब्ध्यक्षर (भावश्रुत) उत्पन्न होता है। वह श्रोत्रेन्द्रिय आदि भेद से छः प्रकार का है।[1] अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे ऊर्ध्व श्वास लेना, नीचा श्वास लेना, थूकना, खाँसना, छींकना, निसंघना, अनुस्वारयुक्त चेष्टा करना आदि :

ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं॥

—गा. ८८.

संज्ञिश्रुत तीन प्रकार की संज्ञावाला है : (दीर्घ) कालिकी, हेतूपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी। जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्श आदि शक्तियाँ विद्यमान हैं वह कालिकी संज्ञावाला है। जो प्राणी (वर्तमान की दृष्टि से) हिताहित का विचार कर किसी क्रिया मे प्रवृत्त होता है वह हेतूपदेशिकी संज्ञावाला है। सम्यक् श्रुत के कारण हिताहित का बोध प्राप्त करनेवाला दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञावाला है। असंज्ञिश्रुत संज्ञिश्रुत से विपरीत लक्षणवाला है।[2]

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अर्हन्त भगवन्त तीर्थंकरप्रणीत द्वादशांगी गणिपिटक सम्यक्श्रुत है। द्वादशाङ्ग ये हैं : १. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृद्दशा, ९. अनुत्तरौपपातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकश्रुत, १२. दृष्टिवाद। यह द्वादशाङ्गी गणिपिटक चतुर्दशपूर्वधर के लिए सम्यक्श्रुत है, अभिन्नदशपूर्वी अर्थात् सम्पूर्ण दस पूर्वों के ज्ञाता के लिए भी सम्यक्श्रुत है किन्तु दूसरों के लिए विकल्प से सम्यक्श्रुत है अर्थात् उनके लिए यह सम्यक् श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी। मिथ्याश्रुत क्या है ? अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वच्छन्द बुद्धि की कल्पना से कल्पित ग्रन्थ मिथ्याश्रुतान्तर्गत हैं। इनमे से कुछ ग्रन्थ इस प्रकार हैं : भारत (महाभारत), रामायण, भीमासुरोक्त, कौटिल्यक, शकटभद्रिका, खोडमुख (घोटकमुख), कार्पासिक, नागसूक्ष्म, कनकसप्तति, वैशेषिक, बुद्धवचन, त्रैराशिक, कापिलिक, लौकायतिक, षष्ठितन्त्र, माठर, पुराण, व्याकरण, भागवत, पातंजलि, पुष्यदैवत, लेख, गणित, शकुनरुत, नाटक अथवा ७२ कलाएँ और साङ्गोपाङ्ग चार वेद। ये सब ग्रन्थ मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यात्वरूप से

---

१. सू. ३८. २. सू. ३९.

परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुतरूप हैं तथा सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्त्वरूप से परिगृहीत होने के कारण सम्यक्श्रुतरूप हैं। अथवा मिथ्यादृष्टि के लिए भी ये सम्यक्श्रुतरूप हैं क्योंकि उसके सम्यक्त्व की उत्पत्ति में ये हेतु हैं।[१]

पूर्वोक्त द्वादशांगी गणिपिटक व्युच्छित्तिनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सादि और सपर्यवसित—सान्त है तथा अव्युच्छित्तिनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अनादि एवं अपर्यवसित—अनन्त है।[२]

जिस सूत्र के आदि, मध्य और अन्त में कुछ विशेषता के साथ बार-बार एक ही पाठ का उच्चारण हो उसे गमिक कहते हैं। दृष्टिवाद गमिकश्रुत है। गमिक से विपरीत कालिकश्रुत (आचारांग आदि) अगमिक हैं।[३]

अंगबाह्य अर्थात् अनंगप्रविष्टश्रुत का परिचय देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अंगबाह्य दो प्रकार का है: आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक छः प्रकार का है: सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यकव्यतिरिक्त दो प्रकार का है: कालिक और उत्कालिक।[४] उत्कालिकश्रुत अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे दशवैकालिक, कल्पिकाकल्पिक, चुल्लकल्पश्रुत, महाकल्पश्रुत, औपपातिक, राजप्रश्नीय (रायपसेणिय), जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, सूर्यप्रज्ञप्ति, पौरुषीमंडल, मण्डलप्रवेश, विद्याचरणविनिश्चय, गणिविद्या, ध्यानविभक्ति, मरणविभक्ति, आत्मविशोधि, वीतरागश्रुत, सल्लेखनाश्रुत, विहारकल्प, चरणविधि, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान इत्यादि। कालिकश्रुत भी अनेक प्रकार का है: उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प), व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति, महल्लिकाविमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका, विवाहचूलिका, अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात, देवेन्द्रोपपात, उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, नागपरिज्ञापनिका, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, आशीविषभावना, दृष्टिविषभावना, स्वप्नभावना, महास्वप्नभावना, तेजोग्निनिसर्ग आदि ८४ सहस्र प्रकीर्णक प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के हैं, संख्येय सहस्र प्रकीर्णक मध्यम जिनवरों के हैं तथा भगवान् वर्धमान के १४ सहस्र प्रकीर्णक हैं।

---

१. सू. ४०-१. २. सू. ४२. ३. सू. ४३.

४. जो सूत्र दिवस और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहररूप काल में पढ़े जाते हैं वे कालिक हैं। शेष उत्कालिक हैं।

अथवा जिस तीर्थंकर के जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी—इन चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त होते हैं उस तीर्थंकर के उतने ही सहस्र प्रकीर्णक होते हैं और प्रत्येक बुद्ध भी उतने ही होते हैं।[1] यहाँ तक अंगबाह्य—अनंगप्रविष्ट श्रुत का अधिकार है।

अंगप्रविष्ट श्रुत बारह प्रकार का है। इसे द्वादशांग भी कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र में प्रत्येक अंग का क्रमशः परिचय दिया गया है। अंतिम अंग दृष्टिवाद (जो कि इस समय अनुपलब्ध है) को सर्वभावप्ररूपक बताया है। दृष्टिवाद संक्षेप में पाँच प्रकार का है: १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वगत, ४. अनुयोग, ५. चूलिका। इनमें से परिकर्म के सात भेद हैं: १. सिद्धश्रेणिकापरिकर्म, २. मनुष्यश्रेणिकापरिकर्म, ३. पृष्ठश्रेणिकापरिकर्म, ४. अवगाढश्रेणिकापरिकर्म, ५. उपसम्पादनश्रेणिकापरिकर्म, ६. विप्रजहत्श्रेणिकापरिकर्म, ७. च्युताच्युतश्रेणिकापरिकर्म। इनके अनेक भेद-प्रभेद हैं। सूत्र बाईस प्रकार के हैं: १. ऋजुसूत्र, २. परिणतापरिणत, ३. बहुभंगिक, ४. विजयचरित, ५. अनन्तर, ६. परम्पर, ७. आसान, ८. संयूथ, ९. संभिन्न, १०. यथावाद, ११. स्वस्तिकावर्त, १२. नन्दावर्त, १३. बहुल, १४. पृष्टापृष्ट, १५. व्यावर्त, १६. एवम्भूत, १७. द्विकावर्त, १८. वर्तमानपद, १९. समभिरूढ, २०. सर्वतोभद्र, २१. प्रशिष्य, २२. दुष्प्रतिग्रह। पूर्वगत चौदह प्रकार का है: १. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीय, ३. वीर्यप्रवाद, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद, ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यानप्रवाद, १०. विद्यानुप्रवाद, ११. अवन्ध्य, १२. प्राणायु, १३. क्रियाविशाल, १४. लोकबिन्दुसार। अनुयोग दो प्रकार का है: मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। मूलप्रथमानुयोग में तीर्थंकरों के पूर्वभव, जन्म, अभिषेक आदि का विशद वर्णन है। गण्डिकानुयोग में कुलकर-गण्डिका, तीर्थंकर-गण्डिका, चक्रवर्ति-गण्डिका आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। चूलिकाएं[2] क्या हैं? आदि के चार पूर्वों की चूलिकाएं हैं, शेष पूर्व बिना चूलिका के हैं।[3] उपर्युक्त विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए नन्दी सूत्र का व्याख्यात्मक साहित्य—चूर्णि, हारिभद्रीय वृत्ति, मलयगिरिकृत टीका आदि देखना चाहिए।

---

१. सू. ४३.

२. चूलिका में कुछ अनुक्त विषयों का प्रतिपादन किया जाता है: उक्तशेषानुवादिनी चूला।

३. सू. ४४–५१.

श्रुतज्ञान का व उसके साथ ही प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि निम्नोक्त आठ गुणों से युक्त मुनि को ही श्रुतज्ञान का लाभ होता है : १. शुश्रूषा (श्रवणेच्छा), २. प्रतिपृच्छा, ३. श्रवण, ४. ग्रहण, ५. ईहा, ६. अपोह, ७. धारणा, ८. आचरण :—

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ य ईहए यावि ।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं ॥
—गा. ९५.

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान की विधि बताते हुए आचार्य कहते हैं कि सर्वप्रथम सूत्र का अर्थ बताना चाहिए, तदनन्तर उसकी निर्युक्ति करनी चाहिए और अन्त में निरवशेष—सम्पूर्ण बातें स्पष्ट कर देनी चाहिए :

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥
—गा. ९७.

प्रकरण २

अनुयोगद्वार

आवश्यकानुयोग
उपक्रमद्वार
आनुपूर्वी
नाम
प्रमाण–मान
द्रव्यप्रमाण
क्षेत्रप्रमाण
कालप्रमाण
भावप्रमाण
प्रत्यक्ष
अनुमान
उपमान
आगम
वक्तव्यता
अर्थाधिकार
समवतार
निक्षेपद्वार
अनुगमद्वार
नयद्वार

द्वितीय प्रकरण

अनुयोगद्वार

अनुयोग का अर्थ है व्याख्यान अथवा विवेचन। अनुयोग, भाष्य, विभाषा, वार्तिक आदि एकार्थक हैं। अनुयोगद्वार सूत्र[1] में आवश्यक सूत्र का व्याख्यान है। प्रसंग से इसमें जैन परम्परा के कुछ मूलभूत विषयों का भी व्याख्यान किया गया है। इसके लिए सूत्रकार ने निक्षेप-पद्धति का विशेष उपयोग किया है। विभिन्न द्वारों अर्थात् दृष्टियों से किसी वस्तु का विश्लेषण करने का नाम निक्षेप है। आचार्य भद्रबाहुकृत आगमिक निर्युक्तियाँ भी इसी शैली में हैं।

प्रस्तुत सूत्र में निम्न विषयों का समावेश है: आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन के विविध निक्षेप, अनुयोग के उपक्रमादि चार द्वार, उनका विवरण यथा उपक्रम का अधिकार, आनुपूर्वी का अधिकार, समवतार का अधिकार आदि, अनुगम का अधिकार, नाम के दस भेद, औदयिक आदि छः भाव, सप्तस्वर, अष्टविभक्ति, नवरस आदि का स्वरूप, प्रमाण, अंगुल, पल्योपम आदि का वर्णन, पांच प्रकार के शरीर, गर्भज मनुष्यों की संख्या, सप्तनय का

१—(अ) मूल—शान्तिलाल व. शेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर, वि. सं. २०१०.

(आ) अमोलकऋषिकृत हिन्दी अनुवादसहित—सुखदेवसहाय ज्वाला-प्रसाद जौहरी, हैदराबाद, वी. सं. २४४६.

(इ) उपाध्याय आत्मारामकृत हिन्दी अनुवादसहित—श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फरेन्स, बम्बई (पूर्वार्ध); मुरारीलाल चरणदास जैन, पटियाला, सन् १९३१ (उत्तरार्ध).

(ई) मलधारी हेमचन्द्रकृत वृत्तिसहित—रायबहादुर धनपतसिंह, कलकत्ता, सन् १८८०; देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९१५–१६; आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२४; केशरबाई ज्ञानमन्दिर, पाटन, सन् १९३९.

(उ) हरिभद्रकृत वृत्तिसहित—ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् १९२८.

स्वरूप, संख्येय, असंख्येय एवं अनन्त के भेद-प्रभेद, भ्रमण का स्वरूप एवं उसके लिए विविध उपमाएँ, निर्युक्ति-अनुगम के तीन भेद, सामायिकविषयक प्रश्नोत्तर आदि। सूत्र का ग्रन्थमान लगभग २००० श्लोकप्रमाण है। गद्यनिबद्ध प्रस्तुत सूत्र में यत्र-तत्र कुछ गाथाएँ भी हैं।

आवश्यकानुयोग :

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने आभिनिबोधिक आदि पांच प्रकार के ज्ञान का निर्देश करते हुए श्रुतज्ञान का विस्तार से वर्णन किया है। श्रुतज्ञान का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा एवं अनुयोग[1] होता है, जब कि अन्य ज्ञानों का नहीं होता। उद्देशादि अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य दोनों प्रकार के सूत्रों के होते हैं। यही बात कालिक और उत्कालिक दोनों प्रकार के अंगबाह्य सूत्रों के विषय में भी है। यदि उत्कालिक सूत्रों के उद्देशादि हैं तो क्या आवश्यक सूत्र के भी उद्देशादि हैं? अन्य सूत्रों की तरह आवश्यक सूत्र के भी उद्देशादि होते हैं।[2] इस संक्षिप्त भूमिका के बाद सूत्रकार आवश्यक का अनुयोग—व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं।

सर्वप्रथम आचार्य इस प्रश्न का समाधान करते हैं कि आवश्यक एक अंगरूप है अथवा अनेक अंगरूप, एक श्रुतस्कंधरूप है अथवा अनेक श्रुतस्कन्धरूप, एक अध्ययनरूप है अथवा अनेक अध्ययनरूप, एक उद्देशरूप है अथवा अनेक उद्देशरूप? आवश्यक न एक अंगरूप है, न अनेक अंगरूप। वह एक श्रुतस्कन्धरूप है, अनेक श्रुतस्कन्धरूप नहीं। वह एक अध्ययनरूप न होकर अनेक अध्ययनरूप है। उसमें न एक उद्देश है, न अनेक। आवश्यक-श्रुत-स्कन्धाध्ययन का स्वरूप विशेष स्पष्ट करने के लिए आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन—इन चारों का पृथक्-पृथक् निक्षेप करना आवश्यक है।[3]

आवश्यक का निक्षेप चार प्रकार का है: नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। किसी का 'आवश्यक' नाम रख देना नाम-आवश्यक है। किसी वस्तु की आवश्यक के रूप में स्थापना करने का नाम स्थापना-आवश्यक है। इसके चालीस भेद हैं: १. काष्ठकर्मजन्य, २. चित्रकर्मजन्य, ३. वस्त्रकर्मजन्य, ४. लेपकर्मजन्य, ५. ग्रन्थिकर्मजन्य, ६. वेष्टनकर्मजन्य, ७. पूरिमकर्मजन्य[4],

---

१. उद्देश अर्थात् पढ़ने की आज्ञा, समुद्देश अर्थात् पढ़े हुए का स्थिरीकरण, अनुज्ञा अर्थात् अन्य को पढ़ाने की आज्ञा, अनुयोग अर्थात् विस्तार से व्याख्यान।

२. सू. १–५. ३. सू. ६.

४. धातु आदि को पिघलाकर सांचे में ढालना।

८. संघातिमकर्मजन्य,[1] ९. अक्षकर्मजन्य,[2] १०. वराटककर्मजन्य[3]। इनमें से प्रत्येक के एकरूप व अनेकरूप दो भेद होते हैं। ये पुनः सद्भावस्थापना एवं असद्भावस्थापना के भेद से दो प्रकार के हैं। इस प्रकार स्थापना आवश्यक के कुल चालीस भेद हैं। द्रव्य आवश्यक के दो भेद हैं: आगमतः और नोआगमतः। 'आवश्यक' पद सीख लेना एवं उसका निर्दोष उच्चारण आदि करना आगमतः द्रव्यावश्यक है।[4] इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सूत्रकार ने सात नयों से द्रव्य-आवश्यक का विचार किया है। नोआगमतः द्रव्यावश्यक का तीन दृष्टियों से विचार किया गया है: ज्ञशरीर, भव्यशरीर और तद्व्यतिरिक्त। 'आवश्यक' पद के अर्थ को जानने वाले प्राणी के प्राणरहित शरीर को ज्ञशरीर-द्रव्यावश्यक कहते हैं। जैसे मधु अथवा घृत के रिक्त घट को भी मधुघट अथवा घृतघट कहते हैं क्योंकि उसमे पहले मधु अथवा घृत था, उसी प्रकार आवश्यक पद का अर्थ जानने वाला चेतन तत्त्व वर्तमान मे विद्यमान नहीं है फिर भी उसका शरीर आवश्यक के भूतकालीन सम्बन्ध के कारण द्रव्यावश्यक कहा जाता है। जो जीव इस समय 'आवश्यक' पद का अर्थ नहीं जानता है किन्तु आगामी काल में अपने इसी शरीर द्वारा उसे सीखेगा उसका शरीर भव्यशरीर-द्रव्यावश्यक कहलाता है। जैसे नये घट को भी आगामी काल की अपेक्षा से घृतघट अथवा मधुघट कहते हैं उसी प्रकार भविष्य में 'आवश्यक' पद का अर्थ जाननेवाला शरीर भी द्रव्यावश्यक कहा जाता है। तद्व्यतिरिक्त अर्थात् ज्ञशरीर व भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यह तीन प्रकार का है: लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तरीय। राजा, युवराज, सेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि का प्रातःकालीन एवं सायंकालीन आवश्यक कर्तव्य लौकिक द्रव्यावश्यक है। चर्म आदि धारण करनेवाले कुतीर्थिकों की क्रियाएं कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक है। श्रमण के गुणों से रहित, निरंकुश, जिन भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले स्वच्छंदविहारी स्वमतानुयायी की उभयकालीन क्रियाएं लोकोत्तर द्रव्यावश्यक है। यहां तक द्रव्यावश्यक का अधिकार है। भाव-आवश्यक भी आगमतः और नोआगमतः भेद से दो प्रकार का है। आवश्यक के स्वरूप को उपयोगपूर्वक जानना आगमतः भावावश्यक है। नोआगमतः भावावश्यक तीन प्रकार का है: लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तरिक। प्रातःकाल महाभारत एवं सायंकाल रामायण का उपयोगसहित पठन-पाठन लौकिक भावावश्यक है। चर्म आदि धारण करनेवालों का अपने इष्ट देव को अंजलि जोड़ कर सादर

---

१. वस्त्रादि के टुकड़े जोड़ना। २. पासा। ३. कौड़ी। ४. सू. ७–११.

नमस्कार आदि करना कुप्रावचनिक भावावश्यक है। शुद्ध उपयोगपूर्वक जिनप्रणीत वचनों में श्रद्धा रखनेवाले श्रमणगुणसम्पन्न अथवा श्रावकगुणयुक्त साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका द्वारा प्रातःकाल एवं सायंकाल उपयोगपूर्वक आवश्यक (प्रतिक्रमण) करने का नाम लोकोत्तर भावावश्यक है।[1]

आवश्यक का निक्षेप करने के बाद सूत्रकार श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन का निक्षेपपूर्वक विवेचन करते हैं। आवश्यक की भाँति श्रुत भी चार प्रकार का है: नामश्रुत, स्थापनाश्रुत, द्रव्यश्रुत और भावश्रुत।[2] श्रुत के एकार्थक नाम ये हैं: श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन—प्रवचन व आगम :—

सुयं सुत्तं गंथं सिद्धंत सासणं आण त्ति वयण उवएसो।
पण्णवणे आगमे वि य एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥
—सू. ४२, गा. १.

स्कन्ध भी चार प्रकार का है: नामस्कन्ध, स्थापनास्कन्ध, द्रव्यस्कन्ध और भावस्कन्ध।[3] स्कन्ध के एकार्थक नाम ये हैं: गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग, राशि, पुंज, पिण्ड, निकर, संघात, आकुल, समूह। एतद्विषयक सूत्र-गाथा इस प्रकार है:—

गण काए निकाए चिए खंधे वग्गे तहेव रासी य।
पुंजे य पिंडे निगरे संघाए आउल समूहे॥
—सू. १२, गा. १ (स्कन्धाधिकार).

आवश्यक में निम्नोक्त अर्थाधिकार हैं: १. सावद्ययोगविरतिरूप प्रथम अध्ययन, २. गुणकीर्तनरूप द्वितीय अध्ययन, ३. गुणयुक्त को वन्दनरूप तृतीय अध्ययन, ४. अतिचारों की निवृत्तिरूप चतुर्थ अध्ययन, ५. दोषरूप व्रण की चिकित्सारूप पंचम अध्ययन, ६. उत्तरगुणधारणरूप षष्ठ अध्ययन। इन अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं: १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान। सामायिकरूप प्रथम अध्ययन के चार अनुयोगद्वार हैं: १. उपक्रम, २. निक्षेप, ३. अनुगम और ४. नय।

---

१. सू. १३–२५. २. सू. २७. ३. सू. १ (स्कन्धाधिकार).

उपक्रमद्वार :

उपक्रम छः प्रकार का है : १. नामोपक्रम, २. स्थापनोपक्रम, ३. द्रव्योपक्रम, ४. क्षेत्रोपक्रम, ५. कालोपक्रम और ६. भावोपक्रम : **उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा–णामोवक्कमे, ठवणोवक्कमे, दव्वोवक्कमे, खेत्तोवक्कमे, कालोवक्कमे, भावोवक्कमे।**[1] अथवा उपक्रम के निम्नोक्त छः भेद हैं : १. आनुपूर्वी, २. नाम, ३. प्रमाण, ४. वक्तव्यता, ५. अर्थाधिकार, ६. समवतार : **अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा–आणुपुव्वी, नामं, पमाणं, वत्तव्वया, अत्थाहिगारे, समोयारे।**[2]

आनुपूर्वी :

आनुपूर्वी के दस भेद हैं : १. नामानुपूर्वी, २. स्थापनानुपूर्वी, ३. द्रव्यानुपूर्वी, ४. क्षेत्रानुपूर्वी, ५. कालानुपूर्वी, ६. उत्कीर्तनानुपूर्वी, ७. गणनानुपूर्वी, ८. संस्थानानुपूर्वी, ९. सामाचार्यानुपूर्वी, १०. भावानुपूर्वी। इन दस प्रकार की आनुपूर्वियों का सूत्रकार ने अतिविस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस विवेचन में अनेक जैन मान्यताओं का समावेश किया गया है। उदाहरण के लिए कालानुपूर्वी का स्वरूप बताते हुए सूत्रकार ने पूर्वानुपूर्वी के रूप में काल का इस प्रकार विभाजन किया है : समय, आवलिका, श्वासोच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत, वर्षसहस्र, वर्षशतसहस्र, पूर्वांग, पूर्व, त्रुटिताङ्ग, त्रुटित, अडडाङ्ग, अडड, अववांग, अवव, हुहुतांग, हुहुत, उत्पलांग, उत्पल, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, अस्तिनिपुराङ्ग, अस्तिनिपुर, अयुताङ्ग, अयुत, नयुताङ्ग, नयुत, प्रयुताङ्ग, प्रयुत, चुलितांग, चुलित, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग, शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरावर्त, अतीतकाल, अनागतकाल, सर्वकाल।[3] इसी प्रकार लोक आदि के स्वरूप का भी संक्षेप में विचार किया गया है।

---

१. सू. २ (अध्ययनाधिकार).

२. सू. १४.

३. सूक्ष्मतम काल का नाम समय है। असंख्यात समय की एक आवलिका होती है। इसी प्रकार श्वासोच्छ्वास, स्तोक, लव आदि का काल क्रमशः बढ़ता जाता है। अनन्त अतीत काल और अनन्त अनागत काल को मिलाने से सम्पूर्णकाल–सर्वकाल होता है। मूल भेदों के लिए देखिए—कालानुपूर्वी का अधिकार, सू. ८७.

नाम :

आनुपूर्वी का वर्णन करने के बाद नाम का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि नाम दस प्रकार का होता है : एकनाम, द्विनाम, त्रिनाम, यावत् दशनाम। संसार के समस्त द्रव्यों के एकार्थवाची अनेक नाम होते हैं किन्तु उन सब का एक नाम में ही समावेश होता है। इसी का नाम एकनाम है। द्विनाम का दो प्रकार से प्रतिपादन किया जाता है : एकाक्षरिक नाम व अनेकाक्षरिक नाम। जिसके उच्चारण मे एक ही अक्षर है वह एकाक्षरिक नाम है जैसे धी, स्त्री, श्री इत्यादि। जिसके उच्चारण में अनेक अक्षर हों उसे अनेकाक्षरिक नाम कहते हैं जैसे कन्या, वीणा, लता, माला इत्यादि। अथवा द्विनाम के निम्नलिखित दो भेद हैं : जीवनाम और अजीवनाम अथवा अविशेषिक और विशेषिक। इनका प्रस्तुत सूत्र में विस्तृत विवेचन है। त्रिनाम तीन प्रकार का है : द्रव्यनाम, गुणनाम और पर्यायनाम। द्रव्यनाम के छः भेद हैं : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय (काल)। गुणनाम के पाँच भेद हैं : वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम, स्पर्शनाम और संस्थाननाम। इनके अनेक भेद-प्रभेद हैं। पर्यायनाम अनेक प्रकार का है : एकगुणकृष्ण, द्विगुणकृष्ण, त्रिगुणकृष्ण यावत् दशगुणकृष्ण, संख्येयगुणकृष्ण, असंख्येयगुणकृष्ण, अनन्तगुणकृष्ण इत्यादि। चतुर्नाम चार प्रकार का है : आगमतः, लोपतः, प्रकृतितः और विकारतः। विभक्त्यन्त पद में वर्ण का आगम होता है जैसे पद्म का पद्मानि इत्यादि। यह आगमतः पद बनने का उदाहरण हुआ। वर्णों के लोप से जो पद बनता है उसे लोपतः पद बनना कहते हैं जैसे ते और अत्र का तेऽत्र, पटो और अत्र का पटोऽत्र इत्यादि। सन्धिकार्य के प्राप्त होने पर भी सन्धि का न होना प्रकृतिभाव कहलाता है जैसे शाले एते, माले इमे इत्यादि। विकारतः पद बनने के उदाहरण ये हैं : दण्डाग्र (दण्ड+अग्र), नदीह (नदी+इह), दधीदं (दधि+इदं), मधूदकं (मधु+उदकं) इत्यादि। पञ्चनाम पाँच प्रकार का है : नामिक, नैपातिक, आख्यातिक, उपसर्गिक और मिश्र। इनका स्वरूप व्याकरणशास्त्र के अनुसार समझना चाहिए। षट्नाम छः प्रकार का है : औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सन्निपातिक। इन छः प्रकार के भावों का सूत्रकार ने कर्मसिद्धान्त एवं गुणस्थान की दृष्टि से विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके बाद सप्तनाम (के रूप में सप्तस्वर), अष्टनाम (के रूप में अष्टविभक्ति), नवनाम (के रूप में नवरस) एवं

दशनाम का स्वरूप बताया है।[1] यहाँ तक उपक्रम के द्वितीय भेद नाम का अधिकार है।

प्रमाण—मान :

उपक्रम के तृतीय भेद प्रमाण का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि प्रमाण चार प्रकार का होता है : द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण।

द्रव्यप्रमाण :

द्रव्यप्रमाण दो प्रकार का है : प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न। परमाणु, द्विप्रदेशिकस्कन्ध, त्रिप्रदेशिकस्कन्ध, यावत् दशप्रदेशिकस्कन्ध आदि प्रदेशनिष्पन्न द्रव्यप्रमाणान्तर्गत हैं। विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण के पाँच भेद हैं : मान, उन्मान, अवमान, गणितमान और प्रतिमान। इनमें से मान दो प्रकार का है : धान्य-मानप्रमाण और रसमानप्रमाण। धान्यमानप्रमाण के प्रसृति, सेतिका, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोणी, जघन्यकुम्भ, मध्यमकुम्भ, उत्कृष्टकुम्भ, वाह आदि भेद हैं। इसी प्रकार रसमानप्रमाण के भी अनेक भेद होते हैं। उन्मान के अर्धकर्ष, कर्ष अर्धपल, पल, अर्धतुला, तुला, अर्धभार, भार आदि भेद हैं। इनसे अगर, कुंकुम, खाँड, गुड़, मिश्री आदि वस्तुओं का प्रमाण देखा जाता है। जिससे भूमि आदि का माप किया जाता है उसे अवमान कहते हैं। इसके हस्त, दंड, धनुष आदि अनेक प्रकार हैं। गणितमान में संख्या से प्रमाण निकाला जाता है जैसे एक, दो, दस, सौ, हजार, दस हजार इत्यादि। इस प्रमाण से द्रव्य की आय-व्यय का हिसाब लगाया जाता है। प्रतिमान से स्वर्ण आदि का प्रमाण निकाला जाता है। इसके गुंजा, कांगनी, निष्पाव, कर्ममाषक, मंडलक और सुवर्ण (सोनैया) आदि भेद हैं : **तं जहा–गुंजा, कांगणी, निप्फावो, कम्ममासओ, मंडलओ, सुवण्णो।**[2] यहाँ तक द्रव्यप्रमाण की चर्चा है।

क्षेत्रप्रमाण :

क्षेत्रप्रमाण भी दो प्रकार का है : प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न। एक-प्रदेशावगाही, द्विप्रदेशावगाही आदि पुद्गलों से व्याप्त क्षेत्र को प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्र-

---

१. सू. ९५–१४८ (**नामाधिकार**).
२. सू. १–८ (**प्रमाणाधिकार**).

प्रमाण कहते हैं। विभागनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण के अंगुल, वितस्ती, हस्त, कुक्ष, दंड, क्रोश, योजन आदि विविध प्रकार हैं। अंगुल तीन प्रकार का होता है: आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल। जिस काल में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं उनका अपने अंगुल (आत्मांगुल) से १२ अंगुलप्रमाण मुख होता है, १०८ अंगुलप्रमाण पूरा शरीर होता है। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद से तीन प्रकार के हैं। जो पूर्ण लक्षणों से युक्त हैं तथा १०८ अंगुलप्रमाण शरीरवाले हैं वे उत्तम पुरुष हैं। जिनका शरीर १०४ अंगुलप्रमाण होता है वे मध्यम पुरुष हैं। जो ९६ अंगुलप्रमाण शरीरवाले होते हैं वे जघन्य पुरुष कहलाते हैं। इन्हीं अंगुलों के प्रमाण से छः अंगुल का एक पाद, दो पाद की एक वितस्ती, दो वितस्ती की एक रत्नि—हाथ, दो हाथ की एक कुक्षि, दो कुक्षि का एक धनुष, दो हजार धनुष का एक क्रोश—कोस और चार कोस का एक योजन होता है। इस प्रमाण से आराम, उद्यान, कानन, वन, वनखंड, कूप, नदी, वापिका, स्तूप, खाई, प्राकार, अट्टालक, द्वार, गोपुर, प्रासाद, शकट, रथ, यान आदि नापे जाते हैं। यह आत्मांगुल का स्वरूप हुआ[1]। उत्सेधांगुल का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु इत्यादि। प्रकाश मे जो धूलिकण दिखाई देते हैं उन्हे त्रसरेणु कहते हैं। रथ के चलने से जो रज उड़ती है उसे रथरेणु कहते हैं। परमाणु का दो दृष्टियों से प्रतिपादन किया गया है: सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के मिलने से एक व्यावहारिक परमाणु बनता है। व्यावहारिक परमाणुओ की क्रमशः वृद्धि होते-होते मनुष्यों का बालाग्र, लिक्षा (लीख), जूं, यव और अंगुल बनता है। ये उत्तरोत्तर आठगुने अधिक होते हैं। इसी अंगुल के प्रमाण से ६ अंगुल का अर्धपाद, १२ अंगुल का एक पाद, २४ अंगुल का एक हस्त, ४८ अंगुल की एक कुक्षि और ९६ अंगुल का एक धनुष होता है। इसी धनुष के प्रमाण से २००० धनुष का एक कोस और ४ कोस का एक योजन होता है। उत्सेधांगुल का प्रयोजन चार गतियों—नरक, देव, तिर्यक् और मनुष्य गति के प्राणियों की अवगाहना (शरीरप्रमाण) नापना है। अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार की होती है। उदाहरण के लिए नरकगति के प्राणियों की भवधारणीया अर्थात् आयुपर्यन्त रहने वाली जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होती है तथा उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुषप्रमाण होती है। इन्हीं की उत्तरवैक्रिया अर्थात् कारणवश बनाई जाने वाली अवगाहना

---

१. सू० १३.

जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग एवं उत्कृष्ट १००० धनुष के बराबर होती है।[1] इस प्रकार उत्सेधांगुल का प्रमाण एक स्थायी, निश्चित एवं स्थिर नाप है। उत्सेधांगुल से १००० गुना अधिक प्रमाणांगुल होता है। उत्सेधांगुल की भाँति इसका प्रमाण भी निश्चित है। अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव एवं उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत के अंगुल को भी प्रमाणांगुल कहते हैं। अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् वर्धमान के एक अंगुल के प्रमाण मे दो उत्सेधांगुल होते हैं अर्थात् उनके ५०० अंगुल के बराबर १००० उत्सेधांगुल अर्थात् एक प्रमाणांगुल होता है। इस अंगुल से अनादि पदार्थों का नाप किया जाता है। इससे बृहत्तर अन्य कोई अंगुल नहीं होता[2]।

कालप्रमाण :

कालप्रमाण भी दो प्रकार का है : प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न। एक समय की स्थितिवाले परमाणु या स्कन्ध, दो समय की स्थितिवाले परमाणु या स्कन्ध आदि का काल प्रदेशनिष्पन्न कालप्रमाण कहा जाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य, सागर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, परावर्तन आदि को विभागनिष्पन्न कालप्रमाण कहते हैं। समय अति सूक्ष्म कालप्रमाण है। इसका स्वरूप समझाते हुए सूत्रकार ने दरजी के बालक (तुण्णागदारए) और वस्त्र के टुकड़े का उदाहरण दिया है। असंख्यात समयों के संयोग से एक आवलिका बनती है। संख्यात आवलिकाओं का एक उच्छ्वास और निःश्वास होता है। प्रसन्न मन, नीरोग शरीर, जरा और व्याधि से रहित पुरुष के एक श्वासोच्छ्वास को प्राण कहते हैं। सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, ७७ लवों अर्थात् ३७७३ श्वासोच्छ्वासों का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तों की एक अहोरात्रि–दिनरात, पंद्रह अहोरात्रियों का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक संवत्सर, पाँच संवत्सरों का एक युग, बीस युगों का एक वर्षशत, दस वर्षशतों का एक वर्षसहस्र, सौ वर्षसहस्रों का एक वर्षशतसहस्र (एक लाख वर्ष), चौरासी वर्षशतसहस्रों का एक पूर्वांग, चौरासी पूर्वांगशतसहस्रों का एक पूर्व होता है। इसी प्रकार क्रमशः प्रत्येक को चौरासी लाख (चौरासी शतसहस्र) से गुना करने पर त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हुहुतांग, हुहुत, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अक्षनिपुरांग, अक्षनिपुर,

---

१. सू० १४–५. २. सू० २२.

अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चुलितांग, चुलित, शीर्ष-प्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका बनता है। यहाँ तक गणित का विषय है। इससे आगे उपमा की विवेचना है।[१] उपमा दो प्रकार की है : पल्योपम और सागरोपम। पल्योपम के तीन भेद हैं : उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं : सूक्ष्म और व्यावहारिक। इन भेद-प्रभेदों का सूत्रकार ने सदृष्टान्त विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया है एवं नारकियों, देवों, स्थावरों, विकलेन्द्रियों, तिर्यंच पंचेन्द्रियों, खेचरों, मनुष्यों, व्यंतरों, ज्योतिष्कों एवं वैमानिकों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति—आयु पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसी प्रकार सागरोपम का भी उदाहरणसहित वर्णन किया है।[२] यह वर्णन विशेष रोचक है।

भावप्रमाण :

भावप्रमाण[३] तीन प्रकार का है : गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण। गुणप्रमाण के दो भेद हैं : जीवगुणप्रमाण और अजीवगुणप्रमाण। अजीवगुण-प्रमाण पाँच प्रकार का है : वर्णगुणप्रमाण, गंधगुणप्रमाण, रसगुणप्रमाण, स्पर्शगुण-प्रमाण और संस्थानगुणप्रमाण। इनके पुनः क्रमशः पाँच, दो, पाँच, आठ और पाँच भेद हैं।[४]

जीवगुणप्रमाण तीन प्रकार का है : ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण। इनमें से ज्ञानगुणप्रमाण के चार भेद हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम।[५]

प्रत्यक्ष :

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है : इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है : श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्ष और स्पर्शेन्द्रियप्रत्यक्ष। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के तीन भेद हैं : अवधिज्ञानप्रत्यक्ष, मनःपर्ययज्ञानप्रत्यक्ष और केवलज्ञानप्रत्यक्ष।[६]

---

१. सू. २४–६. २. सू. २७–४४.

३. भावप्रमाण का अर्थ है वस्तु का यथावस्थित ज्ञान।

४. सू. ६४–५. ५. सू. ६६.

६. इन ज्ञानों के स्वरूप-वर्णन के लिए नन्दी सूत्र देखना चाहिए।

अनुमान :

अनुमान तीन प्रकार का है : पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत्।[1]

पूर्ववत् अनुमान का स्वरूप समझाने के लिए सूत्रकार ने निम्न उदाहरण दिया है : जैसे किसी माता का कोई पुत्र बाल्यावस्था में अन्यत्र चला गया और युवा होकर अपने नगर में वापिस आया। उसे देख कर उसकी माता पूर्वदृष्ट अर्थात् पहले देखे हुए लक्षणों से अनुमान करती है कि यह पुत्र मेरा ही है।[2] इसी को पूर्ववत् अनुमान कहते हैं।

शेषवत् अनुमान पाँच प्रकार का है : कार्यतः, कारणतः, गुणतः, अवयवतः और आश्रयतः। कार्य से कारण का ज्ञान होना कार्यतः अनुमान है। शंख, भेरी आदि के शब्दों से उनके कारणभूत पदार्थों का ज्ञान होना इसी प्रकार का अनुमान है। कारणों से कार्यका ज्ञान कारणतः अनुमान कहलाता है। तंतुओं से पट बनता है, मिट्टी के पिण्डसे घट बनता है आदि उदाहरण इसी प्रकार के अनुमान के हैं। गुण के ज्ञान से गुणी का ज्ञान करना गुणतः अनुमान है। कसौटी से स्वर्ण की परीक्षा, गंध से पुष्पों की परीक्षा आदि इसी प्रकार के अनुमान के उदाहरण हैं। अवयवों से अवयवी का ज्ञान होना अवयवतः अनुमान है। शृङ्गों से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दाँतों से हाथी का, दाढ़ों से वराह—सूअर का ज्ञान इसी कोटि का अनुमानजन्य ज्ञान है। साधन से साध्य का अर्थात् आश्रय से आश्रयी का ज्ञान आश्रयतः अनुमान है। धूम्र से अग्नि का, बादलों से जल का, अभ्रविकार से वृष्टि का, सदाचरण से कुलीन पुत्र का ज्ञान इसी प्रकार का अनुमान है।

दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान के दो भेद हैं : सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट। किसी एक पुरुष को देखकर तद्देशीय अथवा तज्जातीय अन्य पुरुषों की आकृति आदि का अनुमान करना सामान्यदृष्ट अनुमान का उदाहरण है। इसी प्रकार अनेक पुरुषों की आकृति आदि से एक पुरुष की आकृति आदि का भी अनुमान

---

१. सू. ६७–७२.

२. माया पुत्तं जहा नट्ठं, जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिंगेण केणई॥

किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर एक बार देखकर पुनः उसके अन्यत्र दिखाई देने पर उसे अच्छी तरह पहिचान लेना विशेषदृष्ट अनुमान का उदाहरण है।

उपमान :

उपमान के दो भेद हैं : साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत[1]।

साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है : किंचित्साधर्म्योपनीत, प्रायःसाधर्म्योपनीत और सर्वसाधर्म्योपनीत।

किंचित्साधर्म्योपनीत उसे कहते हैं जिसमें कुछ साधर्म्य हो। उदाहरण के लिए जैसा मेरु पर्वत है वैसा ही सर्षप का बीज है (क्योंकि दोनों ही मूर्त हैं)। इसी प्रकार जैसा आदित्य है वैसा ही खद्योत है (क्योंकि दोनों ही प्रकाशयुक्त हैं), जैसा चन्द्र है वैसा ही कुमुद है (क्योंकि दोनों ही शीतलता प्रदान करते हैं)।

प्रायःसाधर्म्योपनीत उसे कहते हैं जिसमें करीब-करीब समानता हो। उदाहरणार्थ जैसी गाय है वैसी ही नीलगाय है।

सर्वसाधर्म्योपनीत उसे कहते हैं जिसमें सब प्रकार की समानता हो। इस प्रकार की उपमा देश-काल आदि की भिन्नता के कारण नहीं मिल सकती। अतः उसकी उसी से उपमा देना सर्वसाधर्म्योपनीत उपमान है। इसमें उपमेय एवं उपमान अभिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए अर्हत् ही अर्हत् के तुल्य कार्य करता है, चक्रवर्ती ही चक्रवर्ती के समान कार्य करता है आदि।

वैधर्म्योपनीत भी इसी तरह तीन प्रकार है : किंचित्वैधर्म्योपनीत, प्रायःवैधर्म्योपनीत और सर्ववैधर्म्योपनीत।

आगम :

आगम दो प्रकार के हैं : लौकिक और लोकोत्तरिक। मिथ्यादृष्टियों के बनाये हुए ग्रन्थ लौकिक आगम हैं जैसे रामायण, महाभारत आदि। लोकोत्तरिक

---

1. सू० ७४–८२.

आगम वे हैं जिन्हें पूर्ण ज्ञान एवं दर्शन को धारण करनेवाले, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल के पदार्थों के ज्ञाता, तीनों लोकों के प्राणियों से पूजित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अर्हत् प्रभु ने बताया है जैसे द्वादशांग गणिपिटक। अथवा आगम तीन प्रकार के हैं : सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम अथवा आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम। तीर्थंकरप्ररूपित अर्थ उनके लिए आत्मागम है। गणधरप्रणीत सूत्र गणधर के लिए आत्मागम एवं अर्थ अनन्तरागम है। गणधरों के शिष्यों के लिए सूत्रों को अनन्तरागम एवं अर्थ को परम्परागम कहते हैं। इसके बाद सूत्र और अर्थ दोनों ही परम्परागम हो जाते हैं।[1] यहाँ तक ज्ञानगुणप्रमाण का अधिकार है।

दर्शनगुणप्रमाण चार प्रकार का है : चक्षुर्दर्शनगुणप्रमाण, अचक्षुर्दर्शनगुणप्रमाण, अवधिदर्शनगुणप्रमाण और केवलदर्शनगुणप्रमाण।[2] चारित्रगुणप्रमाण का व्याख्यान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि चारित्र पाँच प्रकार का होता है : सामायिक-चारित्र, छेदोपस्थापनीय-चारित्र, परिहारविशुद्धि-चारित्र, सूक्ष्मसंपराय-चारित्र और यथाख्यात-चारित्र। सामायिक चारित्र के दो भेद हैं : इत्वरिक (अल्पकालिक) और यावत्कथिक (जीवनपर्यन्त)। छेदोपस्थापनीय-चारित्र के भी दो भेद हैं : सातिचार और निरतिचार (सदोष और निर्दोष)। इसी प्रकार शेष तीन प्रकार का चारित्र भी क्रमशः दो-दो प्रकार का है : निर्विश्यमान और निर्विष्टकायिक, प्रतिपाती और अप्रतिपाती, छाद्मस्थिक और कैवलिक।[3] प्रस्तुत सूत्र में इन भेद-प्रभेदों के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला गया है। यहाँ तक गुणप्रमाण का अधिकार है।

भावप्रमाण के द्वितीय भेद नयप्रमाण का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने प्रस्थक, वसति एवं प्रदेश के दृष्टान्त से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत—इन सात नयों का स्वरूप स्पष्ट किया है।[4]

भावप्रमाण के तृतीय भेद संख्याप्रमाण का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि संख्या आठ प्रकार की होती है : नामसंख्या, स्थापनासंख्या, द्रव्यसंख्या, उपमानसंख्या, परिमाणसंख्या, ज्ञानसंख्या, गणनासंख्या और भावसंख्या।[5] इनमें से गणनासंख्या विशेष महत्त्वपूर्ण है। अतः सूत्रकार ने इसका विशेष विवेचन किया है।

जिसके द्वारा गणना की जाए उसे गणनासंख्या कहते हैं। एक का अङ्क गणना में नहीं आता (एक्कों गणणं न उवेइ) अतः दो से गणना-संख्या प्रारम्भ

१. सू. ८३–६. २. सू. ८७. ३. सू. ८८. ४. सू. ८९–९२. ५. सू. ९३.

होती है। संख्या तीन प्रकार की है: संख्येयक, असंख्येयक और अनन्तक। संख्येयक के तीन भेद हैं: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। असंख्येयक के भी तीन भेद हैं: परीतासंख्येयक, युक्तासंख्येयक और असंख्येयासंख्येक। इन तीनों के पुनः तीन तीन भेद हैं: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इस प्रकार असंख्येयक के कुल ३ × ३ = ९ भेद हुए। अनन्तक तीन प्रकार का है: परीतानन्तक, युक्तानन्तक और अनन्तानन्तक। इनमें से परीतानन्तक और युक्तानन्तक के तीन-तीन भेद हैं: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अनन्तानन्तक के दो भेद हैं: जघन्य और मध्यम। इस प्रकार अनन्तक के कुल ३ + ३ + २ = ८ भेद हुए।[1] प्रस्तुत सूत्र में संख्येयक के तीन, असंख्येयक के नव एवं अनन्तक के आठ—इस प्रकार संख्या के कुल बीस भेदों का वर्णन किया गया है। यह वर्णन कल्पना व गणित दोनों से परिपूर्ण है।[2] यहाँ तक भावप्रमाण का अधिकार है। इसके साथ ही प्रमाणद्वार भी समाप्त होता है।

सामायिक के चार अनुयोगद्वारों में से प्रथम अनुयोगद्वार उपक्रम के छः भेद किए गये थे: १. आनुपूर्वी, २. नाम, ३. प्रमाण, ४. वक्तव्यता, ५. अर्थाधिकार और ६. समवतार।[3] इनमें से आनुपूर्वी, नाम और प्रमाण का वर्णन हो चुका। अब सूत्रकार वक्तव्यता आदि शेष भेदों का व्याख्यान करते हैं।

वक्तव्यता :

वक्तव्यता तीन प्रकार की होती है: स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और उभयसमयवक्तव्यता। पंचास्तिकाय आदि स्वसिद्धान्तों का वर्णन करना स्वसमयवक्तव्यता है। अन्य मतों के सिद्धान्तों की व्याख्या करना परसमयवक्तव्यता है। स्व-पर उभय मतों की व्याख्या करना उभयसमयवक्तव्यता है।[4]

अर्थाधिकार :

जो जिस अध्ययन का अर्थ—विषय है वही उस अध्ययन का अर्थाधिकार है। उदाहरणार्थ आवश्यक सूत्र के छः अध्ययनों का सावद्ययोगविरत्यादिरूप विषय उनका अर्थाधिकार है।[5]

---

१. सू. १०१-२. २. विशेष विवेचन के लिए देखिए—उपाध्याय आत्मारामकृत हिन्दी अनुवाद, उत्तरार्ध, पृ. २३९-२५०.

३. देखिए-सू. १४ (प्रारंभ में). ४. सू. १-३ (वक्तव्यताधिकार एवं उसके बाद). ५. सू. ४.

समवतार :

समवतार के छः भेद हैं : नामसमवतार, स्थापनासमवतार, द्रव्यसमवतार, क्षेत्रसमवतार, कालसमवतार और भावसमवतार। द्रव्यों का स्वगुण की अपेक्षा से आत्मभाव में समवतीर्ण होना, व्यवहारनय की अपेक्षा से पररूप में समवतीर्ण होना आदि द्रव्यसमवतार के उदाहरण हैं। इसी प्रकार क्षेत्र आदि का भी स्वरूप, पररूप और उभयरूप में समवतार होता है। भावसमवतार के दो भेद हैं : आत्मभावसमवतार और तदुभयभावसमवतार। भाव का अपने ही स्वरूप में समवतीर्ण होना आत्मभावसमवतार कहलाता है। जैसे क्रोध का क्रोधरूप में समवतीर्ण होना। भाव का स्वरूप तथा पररूप दोनों में समवतार होना तदुभयभावसमवतार कहलाता है। उदाहरणार्थ क्रोध का क्रोधरूप में समवतार होने के साथ ही साथ मानरूप में भी समवतार होता है।[1]

भावसमवतार के साथ समवतारद्वार समाप्त होता है और साथ ही साथ उपक्रम नामक प्रथम अनुयोगद्वार भी पूरा होता है।

निक्षेपद्वार :

निक्षेप नामक द्वितीय अनुयोगद्वार का व्याख्यान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि निक्षेप तीन प्रकार का होता है : ओघनिष्पन्न निक्षेप, नामनिष्पन्न निक्षेप और सूत्रालापकनिष्पन्न निक्षेप। इनके भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं :[2]

ओघनिष्पन्न निक्षेप चार प्रकार का है : अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा।

अध्ययन के चार भेद हैं : नामाध्ययन, स्थापनाध्ययन, द्रव्याध्ययन और भावाध्ययन।

अक्षीण भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव भेद से चार प्रकार का है। इनमें से भावाक्षीणता के दो भेद हैं : आगमतः भावाक्षीणता और नोआगमतः भावाक्षीणता। 'अक्षीण' शब्द के अर्थ को उपयोगपूर्वक जानना आगमतः भावाक्षीणता है। नोआगमतः भावाक्षीण उसे कहते हैं जो व्यय करने से जरा भी क्षीण न हो। जैसे किसी एक दीपक से सैकड़ों दूसरे दीपक प्रदीप्त किये जाते हैं किन्तु इससे वह दीपक नष्ट नहीं होता वैसे ही आचार्य श्रुत का दान अर्थात् पठन-पाठन करते हुए स्वयं दीप्त रहते हैं तथा दूसरों को भी दीप्त करते हैं। संक्षेप में श्रुत का क्षीण न होना, यही भावाक्षीणता है।

---

१. सू. ५–९. २. सू. १–१० (निक्षेपाधिकार).

आय भी नामादि भेद से चार प्रकार की है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ प्रशस्त आय है, जबकि क्रोधादि की प्राप्ति अप्रशस्त आय है।

क्षपणा के भी चार भेद हैं: नामक्षपणा, स्थापनाक्षपणा, द्रव्यक्षपणा और भावक्षपणा। इनका विवेचन भी पूर्ववत् कर लेना चाहिए। क्षपणा कर्म की निर्जरा का कारण है।

ओघनिष्पन्न निक्षेप के उपर्युक्त विवेचन के बाद सूत्रकार नामनिष्पन्न निक्षेप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जिस वस्तु का नामविशेष निष्पन्न होचुका हो उसे नामनिष्पन्न निक्षेप कहते हैं जैसे सामायिक। इसके भी नामादि चार भेद हैं। भावसामायिक का व्याख्यान करते हुए सूत्रकार ने सामायिक करनेवाले श्रमण का आदर्श रूप प्रस्तुत करने के लिए छ: गाथाएं दी हैं जिनमें बताया गया है कि जिसकी आत्मा सब प्रकार के सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर मूलगुणरूप संयम, उत्तरगुणरूप नियम तथा तप आदि में लीन है उसी को सामायिक का लाभ होता है। जो त्रस और स्थावर (चर और अचर) सब प्रकार के प्राणियों को आत्मवत् देखता है एवं उनके प्रति समान भाव रखता है वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही अन्य प्राणियों को भी दुःख अच्छा नहीं लगता है, ऐसा समझ कर जो न स्वयं किसी जीव का हनन करता है, न दूसरों से किसी का हनन करवाता है वह श्रमण है। जिसका किसी से द्वेष नहीं है अपितु सब के साथ प्रीतिभाव है वही श्रमण है। जिसे सर्प, पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्ष, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य, पवन आदि की उपमाएं दी जाती हैं वही श्रमण है। जिसका मन शुद्ध है, जो भावना से भी पाप नहीं करता अर्थात् जिसकी पाप करने की इच्छा तक नहीं होती, जो स्वजन और सामान्यजन को समान भाव से देखता है, जिसका मान और अपमान में समभाव है वही श्रमण है।

'करेमि भंते ! सामाइयं—' आदि पदों का नामादि भेदपूर्वक व्याख्यान करना सूत्रालापकनिष्पन्न निक्षेप कहलाता है। यहां तक द्वितीय अनुयोगद्वार निक्षेप की चर्चा है।

अनुगमद्वार :

अनुगम (सूत्रानुकूल व्याख्यान) नामक तृतीय अनुयोगद्वार का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अनुगम दो प्रकार का है: सूत्रानुगम और निर्युक्त्यनुगम। निर्युक्त्यनुगम के तीन भेद हैं: निक्षेप-निर्युक्त्यनुगम, उपोद्घात-निर्युक्त्यनुगम और सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्त्यनुगम। निक्षेप-निर्युक्त्यनुगम का प्रतिपादन

किया जा चुका है। उपोद्घात-निर्युक्त्यनुगम के निम्नोक्त २६ लक्षण हैं : १. उद्देश, २. निर्देश, ३. निर्गम, ४. क्षेत्र, ५. काल, ६. पुरुष, ७. कारण, ८. प्रत्यय, ९. लक्षण, १०. नय, ११. समवतार, १२. अनुमत, १३. किम्, १४. कतिविध, १५. कस्य, १६. कुत्र, १७. कस्मिन्, १८. कथम्, १९. कियच्चिर, २०. कति, २१. विरहकाल, २२. अविरहकाल, २३. भव, २४. आकर्ष, २५. स्पर्शन, २६. निरुक्ति।[1] सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्त्यनुगम का अर्थ है अस्खलित, अमीलित, अन्य सूत्रों के पाठों से असंयुक्त, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्णघोषयुक्त, कंठ और ओष्ठ से विप्रमुक्त तथा गुरुमुख से ग्रहण किये हुए उच्चारण से युक्त सूत्रों के पदों का स्वसिद्धान्तानुरूप व्याख्यान।[2]

नयद्वार :

नय नामक चतुर्थ अनुयोगद्वार में नैगमादि सात मूलनयों का स्वरूप बताया गया है : सत्त मूलणया पण्णत्ता, तं जहा–णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए—। ये सात नय जैनदर्शन में सुप्रसिद्ध हैं। नयद्वार के व्याख्यान के साथ चारों प्रकार के अनुयोगद्वार का व्याख्यान पूर्ण होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र के इस परिचय से स्पष्ट है कि कतिपय महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्दों एवं सिद्धान्तों की संक्षिप्त व सूत्ररूप व्याख्या करने वाले प्रस्तुत ग्रंथ का जैन आगमों मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। निक्षेपशैली की प्रधानता एवं भेद-प्रभेद की प्रचुरता के कारण ग्रंथ में कुछ क्लिष्टता अवश्य आगई है जो स्वाभाविक है।

१. आवश्यक–निर्युक्ति (गा० १४०–१४१) में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। २. सू. १ (अनुगमाधिकार).

प्र की र्ण क

प्रथम प्रकरण

चतुःशरण

प्रकीर्णक अर्थात् विविध। भगवान् महावीर के तीर्थ में प्रकीर्णकों—विविध आगमिक ग्रन्थों की संख्या १४००० कही गई है। वर्तमान में प्रकीर्णकों की संख्या मुख्यतया १० मानी जाती है। इन दस नामों में भी एकरूपता नहीं है।[1] निम्नलिखित दस नाम विशेष रूप से मान्य हैं :—

१. चतुःशरण, २. आतुरप्रत्याख्यान, ३. महाप्रत्याख्यान, ४. भक्तपरिज्ञा, ५. तन्दुलवैचारिक, ६. संस्तारक, ७. गच्छाचार, ८. गणिविद्या, ९. देवेन्द्रस्तव, १०. मरणसमाधि।[2]

कोई मरणसमाधि और गच्छाचारके स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिनते हैं तो कोई देवेन्द्रस्तव और वीरस्तव को मिला देते हैं तथा संस्तारक को नहीं गिनते किन्तु इनके स्थान पर गच्छाचार और मरणसमाधि का उल्लेख करते हैं।

चउसरण—चतुःशरण[3] का दूसरा नाम कुशलानुबंधि-अध्ययन (कुसलाणुबंधि-अज्झयण) है। इसमें ६३ गाथाएँ हैं। चूंकि इसमें अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं केवलिकथित धर्म—इन चार को शरण माना गया है इसलिए इसे चतुःशरण कहा गया है।

प्रारम्भ में षडावश्यक की चर्चा है। तदनन्तर आचार्य ने कुशलानुबंधि-अध्ययन की रचना का संकल्प किया है तथा चतुःशरण को कुशलहेतु बताते हुए चार शरणों का नामोल्लेख किया है :

---

१. देखिए—जैन ग्रंथावलि, पृ० ७२ (जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई, वि० सं० १९६५).

२. आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९२७; रायबहादुर धनपत सिंह, बनारस, सन् १८८६ (गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक).

३. (अ) बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद, वि० सं० १९६२.
(आ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६६.
(इ) देवचन्द लालभाई जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९२२ (सावचूरिक).

अमरिंदनरिंदमुणिंदवंदिअं वंदिउं महावीरं।
कुसलाणुबंधि बंधुरमज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ ९ ॥

चउसरणगमण दुक्कडगरिहा सुकडाणुमोअणा चेव।
एस गणो अणवरयं कायव्वो कुसलहेउत्ति ॥ १० ॥

अरिहंत सिद्ध साहू केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो।
एए चउरो चउगइहरणा सरणं लहइ धन्नो ॥ ११ ॥

अन्तिम गाथा में वीरभद्र का उल्लेख होने के कारण यह प्रकीर्णक वीरभद्र की कृति मानी जाती है :

इअ जीवपमायमहारिवीरभद्दंतमेअमज्झयणं।
झाएसु तिसंझमवंझकारणं निव्वुइसुहाणं ॥ ६३ ॥

द्वितीय प्रकरण

आतुरप्रत्याख्यान

आउरपच्चक्खाण—आतुरप्रत्याख्यान[1] को मरण से सम्बन्धित होने के कारण अन्तकाल-प्रकीर्णक भी कहा जाता है। इसे बृहदातुरप्रत्याख्यान भी कहते हैं। इसमें ७० गाथाएँ हैं। दसवीं गाथा के बाद का कुछ भाग गद्य मे है। इस प्रकीर्णक में प्रधानतया बालमरण एवं पण्डितमरण का विवेचन है।

प्रारम्भ में आचार्य ने बालपण्डितमरण का स्वरूप बताया है:

देसिक्कदेसविरओ सम्मद्दिट्ठी मरिज्ज जो जीवो।
तं होइ बालपंडियमरणं जिणसासणे भणियं ॥ १ ॥

इसके बाद पंडितपंडितमरण का स्वरूप बताया गया है। आचार्य ने मरण तीन प्रकार का बताया है: बालों का, बालपंडितों का और पंडितों का। एतद्विषयक गाथा इस प्रकार है:

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडितमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥ ३५ ॥

मारणान्तिक प्रत्याख्यान की उपादेयता बताते हुए आचार्य ने अन्त में लिखा है:

निक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।
संसारपरिभीयस्स पच्चक्खाणं सुहं भवे ॥ ६८ ॥
एयं पच्चक्खाणं जो काही मरणदेसकालम्मि।
धीरो अमूढसन्नो सो गच्छइ सासयं ठाणं ॥ ६९ ॥
धीरो जरमरणविऊ वीरो विन्नाणनाणसंपन्नो।
लोगस्सुज्जोयगरो दिसउ खयं सव्वदुक्खाणं ॥ ७० ॥

1. (अ) बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद, वि० सं० १९६२.
(आ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६६.

तृतीय प्रकरण

महाप्रत्याख्यान

महापच्चक्खाण—महाप्रत्याख्यान[1] प्रकीर्णक में १४२ गाथाएँ हैं। इसमें प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग का विस्तृत व्याख्यान है।

प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने तीर्थङ्करों, जिनों, सिद्धों एवं संयतों को प्रणाम किया है :

एस करेमि पणामं तित्थयराणं अणुत्तरगईणं।
सव्वेसिं च जिणाणं सिद्धाणं संजयाणं च ॥ १ ॥

इसके बाद पाप और दुश्चरित की निन्दा करते हुए उनका प्रत्याख्यान किया है तथा त्रिविध सामायिक को अङ्गीकार किया है। राग, द्वेष, हर्ष, दीनता, उत्सुकता, भय, शोक, रति, अरति, रोष, अभिनिवेश, ममत्व आदि दोषों का त्रिविध त्याग किया है। एकत्वभावना की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने लिखा है :

इक्कोहं नत्थि मे कोई, न चाहमवि कस्सई।
एवं अदीणमणसो, अप्पाणमणुसासए ॥ १३ ॥
इक्को उप्पज्जए जीवो, इक्को चेव विवज्जई।
इक्कस्स होइ मरणं, इक्को सिज्झई नीरओ ॥ १४ ॥
एक्को करेइ कम्मं फलमवि तस्सिक्कओ समणुहवइ।
इक्को जायइ मरइ परलोअं इक्कओ जाई ॥ १५ ॥
इक्को मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १६ ॥

प्रस्तुत प्रकीर्णक में संसार-परिभ्रमण, पण्डितमरण, पञ्चमहाव्रत, वैराग्य, आलोचना, व्युत्सर्जन आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में आचार्य ने बताया है कि धीर की भी मृत्यु होती है और कापुरुष की भी। इन दोनों में से

---

१. बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद, वि० सं० १९६२.

धीरत्वपूर्ण मृत्यु ही श्रेष्ठ है। प्रत्याख्यान का सुविहित व सम्यक् पालन करने वाला मरकर या तो वैमानिक देव होता है या सिद्ध :

धीरेणवि मरियव्वं काऊरिसेण विवस्स मरियव्वं।
दुण्हंपि य मरणाणं वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥ १४१॥
एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं।
वेमाणिओ व देवो हविज्ज अहवा वि सिज्झिज्जा॥ १४२॥

चतुर्थ प्रकरण

भक्तपरिज्ञा

भत्तपरिण्णा—भक्तपरिज्ञा[1] में १७२ गाथाएँ हैं। इस प्रकीर्णक में भक्तपरिज्ञा नामक मरण का विवेचन है। प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने महावीर को नमस्कार कर भक्तपरिज्ञा की रचना का संकल्प किया है :

नमिऊण महाइसयं महाणुभावं मुणिं महावीरं।
भणिमो भत्तपरिण्णं निअसरणट्ठा परट्ठा य ॥ १ ॥

अभ्युद्यत मरण से आराधना पूर्णतया सफल होती है, यह बताते हुए ग्रन्थकार ने अभ्युद्यत मरण के तीन भेद किये हैं : भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन। एतद्विषयक गाथा यों है :

तं अब्भुज्जअमरणं अमरणधम्मेहिं वन्निअं तिविहं।
भत्तपरिन्ना इंगिणि पाओवगमं च धीरेहिं ॥ ९ ॥

भक्तपरिज्ञा मरण दो प्रकार का है : सविचार और अविचार। आचार्य ने भक्तपरिज्ञा मरण के अपने विवेचन मे दर्शनभ्रष्ट अर्थात् श्रद्धाभ्रष्ट को मुक्ति का अनधिकारी बतलाया है :

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरणरहिआ दंसणरहिआ न सिज्झंति ॥ ६६ ॥

अन्त की एक गाथा में वीरभद्र का उल्लेख होने के कारण इस प्रकीर्णक के कर्ता वीरभद्र माने जाते हैं :

इअ जोइसरजिणवीरभद्दभणिआणुसारिणीमिणमो।
भत्तपरिन्नं धन्ना पढंति णिसुणंति भावेंति ॥ १७१ ॥

---

१. (अ) बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद, वि० सं० १९६२.
(आ) जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६६.

पञ्चम प्रकरण

तन्दुलवैचारिक

तंदुलवेयालिय—तन्दुलवैचारिक[1] प्रकीर्णक में १३९ गाथाएँ हैं। बीच-बीच में कुछ सूत्र भी हैं। इसमें विस्तारपूर्वक गर्भविषयक वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में नारीजाति के सम्बन्ध में एकपक्षीय विचार प्रकट किये गये हैं। सौ वर्ष की आयु वाला पुरुष कितना तन्दुल अर्थात् चावल खाता है? इसका संख्यापूर्वक विशेष विचार करने के कारण उपलक्षण से यह सूत्र तन्दुल-वैचारिक कहा जाता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने जिनवर महावीर की वन्दना की है तथा तन्दुलवैचारिक नामक प्रकीर्णक के कथन की प्रतिज्ञा की है:

निज्जरियजरामरणं वंदित्ता जिणवरं महावीरं।
वोच्छं पइन्नगमिणं तंदुलवेयालियं नाम॥ १॥

इसके बाद जिसकी आयु सौ वर्ष की है, हिसाब करने पर उसकी जिस तरह दस अवस्थाएँ होती है तथा उन दस अवस्थाओं को संकलित कर निकाल देने पर उसकी जितनी आयु शेष रहती है उसका वर्णन किया गया है:

सुणह गणिए दस दसा वाससयाउस्स जह विभज्जंति।
संकलिए वोगसिए जं चाऊ सेसयं होइ॥ २॥

यह जीव दो सौ साढ़े सतहत्तर दिन-रात तक गर्भ में रहता है। ये दिन-रात सामान्य तौर पर गर्भवास में लगते हैं। विशेष परिस्थिति में इनसे कम या अधिक दिन-रात भी लग सकते हैं:

दोन्नि अहोरत्तसए संपुण्णे सत्तसत्तरिं चेव।
गब्भंमि वसइ जीवो अद्धमहोरत्तमन्नं च॥ ४॥

---

१. (अ) विजयविमलविहित वृत्तिसहित—देवचन्द लालभाई जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् १९२२.
(आ) हिन्दी भावार्थसहित—श्वे॰ सा॰ जैन हितकारिणी संस्था, बीकानेर, वि॰ सं॰ २००६.

एए उ अहोरत्ता नियमा जीवस्स गब्भवासंमि ।
हीणाहिया उ इत्तो उवघायवसेण जायंति ॥ ५ ॥

योनि के स्थान, आकार, गर्भधारण की योग्यता आदि का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने बताया है कि स्त्री की नाभि के नीचे फूल की नाली के आकार की दो शिराएँ होती हैं। इन शिराओं के नीचे योनि होती है। यह योनि अधोमुख एवं कोशाकार होती है। इसके नीचे आम की मंजरी के समान मांस की मंजरी होती है जो ऋतुकाल में फूट जाती है जिससे उससे रक्तबिन्दु गिरते हैं। ये रक्तबिन्दु जब शुक्रमिश्रित होकर कोशाकार योनि में प्रविष्ट होते हैं तब स्त्री जीवोत्पाद के योग्य होती है। इस प्रकार की योनि बारह मुहूर्त तक ही गर्भधारण करने योग्य रहती है। उसके बाद उसकी गर्भधारण की योग्यता नष्ट हो जाती है। गर्भ में स्थित जीवों की संख्या अधिक से अधिक नौ लाख होती है :

आउसो ! इत्थीए नाभिहिट्ठा सिरादुगं पुप्फनालियागारं ।
तस्स य हिट्ठा जोणी अहोमुहा संठिया कोसा ॥ ९ ॥
तस्स य हिट्ठा चूयस्स मंजरी तारिसा उ मंसस्स ।
ते रिउकाले फुडिया सोणियलवया विमुंचंति ॥ १० ॥
कोसायारं जोणीं संपत्ता सुक्कमीसिया जइया ।
तइया जीवुववाए जोग्गा भणिया जिणिंदेहिं ॥ ११ ॥
बारस चेव मुहुत्ता उवरिं विद्धंसं गच्छई सा उ ।
जीवाणं परिसंखा लक्खपुहुत्तं य उक्कोसं ॥ १२ ॥

प्रायः ५५ वर्ष के बाद स्त्री की योनि गर्भधारण करने योग्य नहीं रहती तथा ७५ वर्ष के बाद पुरुष वीर्यहीन हो जाता है :

पणपण्णाय परेणं जोणी पमिलायए महिलियाणं ।
पणसत्तरीय परओ पाएण पुमं भवेऽबीओ ॥ १३ ॥

रक्तोत्कट स्त्री के गर्भ में एक साथ अधिक से अधिक नौ लाख जीव उत्पन्न होते हैं, बारह मुहूर्त तक वीर्य सन्तान उत्पन्न करने योग्य रहता है, उत्कृष्ट नौ सौ पिता की एक संतान होती है, गर्भ की स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की होती है :

रत्तुक्कडा उइत्थी लक्खपुहुत्तं य बारस मुहुत्ता ।
पिउसंख सयपुहुत्तं बारस वासा उ गब्भस्स ॥ १५ ॥

दक्षिण कुक्षि में रहने वाला जीव पुरुष होता है, वाम कुक्षि में रहने वाला जीव स्त्री होता है और दोनों के मध्य में रहने वाला जीव नपुंसक होता है। तिर्यञ्चों की गर्भस्थिति उत्कृष्ट आठ ही वर्ष की होती है :

दाहिणकुच्छी पुरिसस्स होइ वामा उ इत्थियाए य।
उभयंतरं नपुंसे तिरिए अट्ठेव वरिसाइं ॥ १६ ॥

जब अल्प वीर्य तथा बहु रक्त होता है तब स्त्री की उत्पत्ति होती है और जब अल्प रक्त तथा बहु वीर्य होता है तब पुरुष की उत्पत्ति होती है। शुक्र व शोणित के समान मात्रा में होने पर नपुंसक उत्पन्न होता है। स्त्री के रक्त के जम जाने पर बिम्ब (मांसपिण्ड) उत्पन्न होता है :

अप्पं सुक्कं बहुं अउयं इत्थी तत्थ जायइ।
अप्पं अउयं बहुं सुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ ॥ २२ ॥
दुण्हं वि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे नपुंसगो।
इत्थीओयसमाओगे बिंबं तत्थ जायइ ॥ २३ ॥

गर्भ से उत्पन्न प्राणी की निम्नोक्त दस अवस्थाएँ होती हैं : १. बाला, २. क्रीडा, ३. मन्दा, ४. बला, ५. प्रज्ञा, ६. हायनी, ७. प्रपञ्चा, ८. प्राग्भारा, ९. मुन्मुखी, १० शायिनी। प्रत्येक अवस्था दस वर्ष की होती है : आउसो ! एवं जायस्स जंतुस्स कमेण दस दसाओ एवमाहिज्जंति, तं जहा—

बाला किड्डा मंदा बला य पण्णा य हायणि पवंचा।
पब्भारा मुम्मुही सायणी दसमा य कालदसा ॥ ३१ ॥

ग्रन्थकार ने इन दस दशाओं का परिचय दिया है। युगलधर्मियों के अंग-प्रत्यंगों का साहित्यिक भाषा में वर्णन करते हुए संहनन व संस्थान का विवेचन किया है। सौ वर्ष जीने वाला मनुष्य अपने जीवनकाल मे साढ़े बाईस वाह तन्दुल खाता है, साढ़े पाँच घड़े मूँग खाता है, चौबीस सौ आढक स्नेह यानी घी-तेल खाता है तथा छत्तीस हजार पल नमक खाता है : तं एवं अद्धतेवीसं तंदुलवाहे भुंजंतो अद्धछट्ठे मुग्गकुंभे भुंजइ अद्धछट्ठे मुग्गकुंभे भुंजंतो चउवीसं णेहाढगसयाइं भुंजइ चउवीसं णेहाढगसयाइं भुंजंतो छत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजइ।

एक वाह तंदुल में चार अरब साठ करोड़ और अस्सी लाख दाने होते हैं :

चत्तारि य कोडिसया सट्ठिं चेव य हवंति कोडीओ।
असीइं य तंदुलसयसहस्साणि हवंति त्ति मक्खायं॥ ५५॥

आगे आचार्य ने काल के विभिन्न विभागों का स्वरूप समझाते हुए मानव-जीवन की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है तथा शरीर की रचना का विस्तृत विवेचन करते हुए विराग का उपदेश दिया है। स्त्रियों के विषय में आचार्य ने कहा है कि स्त्रियों का हृदय स्वभाव से ही कुटिल होता है। वे मधुर वचन बोलती हैं किन्तु उनका हृदय मधुर नहीं होता। स्त्रियाँ शोक उत्पन्न करने वाली हैं, बल नष्ट करने वाली हैं, पुरुषों के लिए वधशाला के समान हैं, लज्जा का नाश करने वाली हैं, अविनय-दम्भ-वैर-असंयम की जननी हैं। वे मत्त गज के समान कामातुर, व्याघ्री के समान दुष्टहृदय, तृण से ढके हुए कूप के समान अप्रकाशहृदय, कृष्ण सर्प के समान अविश्वसनीय, वानर के समान चलचित्त, काल के समान निर्दय, सलिल के समान निम्नगामी, नरक के समान पीड़ा देनेवाली, दुष्ट अश्व के समान दुर्दम्य, किंपाक फल के समान मुखमधुर होती हैं आदि।

अन्त में यह बताया गया है कि हमारा यह शरीर जन्म, जरा, मरण एवं वेदनाओं से भरा हुआ एक प्रकार का शकट (गाड़ी) है। इसे पाकर ऐसा कार्य करो जिससे समस्त दुःखों से मुक्ति मिले :

एयं सगडसरीरं जाइजरामरणवेयणाबहुलं।
तह घत्तह काउं जे जह मुच्चह सव्वदुक्खाणं॥ १३९॥

षष्ठ प्रकरण

संस्तारक

संथारग—संस्तारक[1] प्रकीर्णक में १२३ गाथाएँ हैं। इसमें मृत्यु के समय अपनाने योग्य संस्तारक अर्थात् तृण आदि की शय्या का महत्त्व वर्णित है। संस्तारक पर आसीन होकर पंडितमरण प्राप्त करने वाला मुनि मुक्ति का वरण करता है। इस प्रकार के अनेक मुनियों के दृष्टान्त प्रस्तुत प्रकीर्णक में दिये गये हैं।

प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने वर्धमान जिनवर को नमस्कार किया है। तदनन्तर संस्तारक की गरिमा गाई है :

काऊण नमुक्कारं जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संथारंमि निबद्धं गुणपरिवाडिं निसामेह ॥ १ ॥

जिस प्रकार पर्वतों में मेरु, समुद्रों में स्वयम्भूरमण एवं तारों में चन्द्र श्रेष्ठ है उसी प्रकार सुविहितों में संस्तारक सर्वोत्तम है :

मेरु व्व पव्वयाणं सयंभुरमणु व्व चेव उदहीणं ।
चंदो इव ताराणं तह संथारो सुविहिआणं ॥ ३० ॥

आचार्य ने संस्तारक पर आरूढ होकर पंडितमरणपूर्वक मुक्ति प्राप्त करने वाले अनेक मुनियों के उदाहरण दिये हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं: अर्णिकापुत्र, सुकोशलर्षि, अवन्ति, कार्तिकार्य, चाणक्य, अमृतघोष, चिलातिपुत्र, गजसुकुमाल।

अन्त में आचार्य ने संस्तारकरूपी गजेन्द्रस्कन्ध पर आरूढ सुश्रमणरूपी नरेन्द्रचंद्रों से सुखसंक्रमण की याचना की है :

एवं मए अभिथुआ संथारगइंदखंधमारूढा ।
सुसमणनरिंदचंदा सुहसंकमणं सया दिंतु ॥ १२३ ॥

---

१. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९९६.

सप्तम प्रकरण

गच्छाचार

गच्छायार—गच्छाचार[1] प्रकीर्णक में १३७ गाथाएँ हैं। इसमें गच्छ अर्थात् समूह में रहने वाले साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन है। यह प्रकीर्णक महानिशीथ, कल्प (बृहत्कल्प) तथा व्यवहार सूत्रों के आधार पर बनाया गया है।

प्रारम्भ में प्रकीर्णककार ने भगवान् महावीर को नमस्कार किया है एवं गच्छाचार की रचना का संकल्प किया है :

नमिऊण महावीरं तिअसिंदनमंसियं महाभागं।
गच्छायारं किंची उद्धरिमो सुअसमुद्दाओ॥ १॥

असदाचारी गच्छ में रहने से संसार-परिभ्रमण बढ़ता है जबकि सदाचारी गच्छ में रहने से धर्मानुष्ठान की प्रवृत्ति विकसित होती है :

अत्थेगे गोयमा! पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए।
गच्छंमि संवसित्ताणं, भमइ भवपरंपरं॥ २॥
जामद्धं जाम दिण पक्खं, मासं संवच्छरं पि वा।
सम्मग्गपट्ठिए गच्छे, संवसमाणस्स गोयमा!॥ ३॥
लीलाअलसमाणस्स, निरुच्छाहस्स वीमणं।
पक्खाविक्खीइ अन्नेसिं, महाणुभागाण साहूणं॥ ४॥
उज्जमं सव्वथामेसु, घोरवीरतवाइअं।
लज्जं संकं अइक्कम्म, तस्स विरियं समुच्छले॥ ५॥

आत्मकल्याण की साधना के लिए मुनि को आजीवन गच्छ में रहना चाहिए :

---

१. (अ) वानरर्षिविहित वृत्तिसहित—आगमोदय समिति, मेहसाना, सन् १९२३.
(आ) विजयराजेन्द्रसूरिकृत गुजराती विवेचनयुक्त—भूपेन्द्रसूरि जैन साहित्य समिति, आहोर, वि० सं० २००२.

तम्हा निउणं निहालेउं, गच्छं सम्मग्गपट्ठियं।
वसिज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा! संजए मुणी ॥ ७ ॥

जो गुरु शिष्य को दंडादि द्वारा हितमार्ग में नहीं लगाता वह वैरी के सदृश है। इसी प्रकार जो शिष्य गुरु को धर्ममार्ग नहीं दिखाता वह भी शत्रु के समान है :

जीहाए विलिहंतो न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि।
डंडेण वि ताडंतो स भद्दओ सारणा जत्थ ॥ १७ ॥
सीसो वि वेरिओ सो उ, जो गुरुं न विबोहए।
पमायमइराघत्थं, सामायारीविराहयं ॥ १८ ॥

भ्रष्टाचारी आचार्य, भ्रष्टाचारियों की उपेक्षा करने वाला आचार्य तथा उन्मार्गस्थित आचार्य—ये तीनों मोक्षमार्ग का विनाश करने वाले हैं :

भट्ठायारो सूरी भट्ठायाराणुवेक्खओ सूरी।
उम्मग्गठिओ सूरी तिन्नि वि मग्गं पणासंति ॥ २८ ॥

गच्छ महाप्रभावशाली है। उसमें रहने से महानिर्जरा होती है तथा सारणा, वारणा, प्रेरणा आदि से नये दोषों की उत्पत्ति रुक जाती है :

गच्छो महाणुभावो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला।
सारणवारणचोअणमाईहिं न दोसपडिवत्ती ॥ ५१ ॥

जिस गच्छ में दान, शील, तप और भावना—इन चार प्रकार के धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ मुनि अधिक हों वह सुगच्छ है :

सीलतवदाणभावण चउव्विहधम्मंतरायभयभीए।
जत्थ बहू गीअत्थे गोअम! गच्छं तयं भणियं ॥ १०० ॥

साध्वियों को किस प्रकार शयन करना चाहिए? इसका विचार करते हुए प्रस्तुत प्रकीर्णक में कहा गया है कि जिस गच्छ में स्थविरा (वृद्ध साध्वी) के बाद तरुणी और तरुणी के बाद स्थविरा—इस प्रकार सोने की व्यवस्था हो उसे ज्ञान-चारित्र का आधारभूत श्रेष्ठ गच्छ समझना चाहिए :

जत्थ य थेरी तरुणी थेरी तरुणी य अंतरे सुयइ।
गोअम! तं गच्छवरं वरनाणचरित्तआहारं ॥ १२३ ॥

अन्त में गच्छाचार के आधार व उद्देश्य का उल्लेख व उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है :

महानिसीहकप्पाओ, ववहाराओ तहेव य।
साहुसाहुणिअट्ठाए, गच्छायारं समुद्धियं ॥ १३५ ॥

पढंतु साहुणो एअं, असज्झायं विवज्जिउं।
उत्तमं सुयनिस्संदं, गच्छायारं तु उत्तमं ॥ १३६ ॥

गच्छायारं सुणित्ताणं, पढित्ता भिक्खुभिक्खुणी।
कुणंतु जं जहा भणियं, इच्छंता हियमप्पणो ॥ १३७ ॥

अष्टम प्रकरण

गणिविद्या

गणिविज्जा—गणिविद्या में ८२ गाथाएँ हैं। यह गणितविद्या अर्थात् ज्योतिर्विद्या का ग्रन्थ है। इसमें निम्नोक्त नौ विषयों (नवबल) का विवेचन है : १. दिवस, २. तिथि, ३. नक्षत्र, ४. करण, ५. ग्रहदिवस, ६. मुहूर्त, ७. शकुन, ८. लग्न, ९. निमित्त।

प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने प्रवचनशास्त्र के अनुसार नवबल के रूप में बलाबल का विचार करने का संकल्प किया है। तदनन्तर नवबल का नामोल्लेख किया है :

वुच्छं बलाबलविहिं नवबलविहिमुत्तमं विउपसत्थं।
जिणवयणभासियमिणं पवयणसत्थम्मि जह दिट्ठं ॥ १ ॥
दिवस-तिही-नक्खत्ता करणग्गहदिवसया मुहुत्तं च।
सउणबलं लग्गबलं निमित्तबलमुत्तमं वावि ॥ २ ॥

अन्त में ग्रन्थकार ने यह बताया है कि दिवस से तिथि बलवान् होती है, तिथि से नक्षत्र, नक्षत्र से करण, करण से ग्रहदिवस, ग्रहदिवस से मुहूर्त, मुहूर्त से शकुन, शकुन से लग्न तथा लग्न से निमित्त बलवान् होता है। यह बलाबलविधि संक्षेप में सुविहितों ने बताई है :

दिवसाओ तिही बलिओ तिहीउ बलियं तु सुव्वई रिक्खं।
नक्खत्ता करणमाहंसु करणाउ गहदिणा बलिणो ॥ ७९ ॥
गहदिणाउ मुहुत्ता, मुहुत्ता सउणो बली।
सउणाओ बलवं लग्गं, तओ निमित्तं पहाणं तु ॥ ८० ॥
विलग्गाओ निमित्ताओ, निमित्तबलमुत्तमं।
न तं संविज्जए लोए, निमित्ता जं बलं भवे ॥ ८१ ॥
एसो बलाबलविही समासओ कित्तिओ सुविहिएहिं।
अणुओगनाणगज्झो नायव्वो अप्पमत्तेहिं ॥ ८२ ॥

नवम प्रकरण

देवेन्द्रस्तव

देविंदथय—देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक में ३०७ गाथाएँ हैं। इसमें बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रारम्भ में कोई श्रावक ऋषभादि तीर्थङ्करों को वन्दन करके अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर की स्तुति करता है। बत्तीस देवेन्द्रों से पूजित महावीर की स्तुति कर वह अपनी पत्नी के सम्मुख उन इन्द्रों की महिमा का वर्णन करता है। इस वर्णन में निम्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है: बत्तीस देवेन्द्रों के नाम, आवास, स्थिति, भवन, विमान, नगर, परिवार, श्वासोच्छ्वास, अवधिज्ञान आदि। एतद्विषयक गाथाएँ इस प्रकार हैं:

> कयरे ते बत्तीसं देविंदा को व कत्थ परिवसइ।
> केवइया कस्स ठिई को भवणपरिग्गहो तस्स ॥ ८ ॥
> केवइया व विमाणा भवणा नगरा व हुंति केवइया।
> पुढवीण व बाहल्लं उच्चत्त विमाणवण्णो वा ॥ ९ ॥
> का रंति व का लेणा उक्कोसं मज्झिम जहण्णं।
> उस्सासो निस्सासो ओही विसओ व को केसिं ॥ १० ॥

अन्त में आचार्य ने यह उल्लेख किया है कि भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवनिकायों की स्तुति समाप्त हुई:

> भोमेज्जवणयराणं जोइसियाणं विमाणवासीणं।
> देवनिकायाणं थवो समत्तो अपरिसेसो ॥ ३०७ ॥

दशम प्रकरण

मरणसमाधि

मरणसमाही—मरणसमाधि का दूसरा नाम मरणविभक्ति (मरणविभत्ती) है। इसमें ६६३ गाथाएँ हैं। यह प्रकीर्णक निम्नोक्त आठ प्राचीन श्रुतग्रन्थों के आधार पर निर्मित हुआ है : १. मरणविभक्ति, २. मरणविशोधि, ३. मरण-समाधि, ४. संलेखनाश्रुत, ५. भक्तपरिज्ञा, ६. आतुरप्रत्याख्यान, ७. महाप्रत्या-ख्यान, ८. आराधना।

प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने प्रवचन को प्रणाम किया है एवं श्रमण की मुक्ति के लिए मरणविधि का कथन करने का संकल्प किया है :

तिहुयणसरीरिवंदं सप्पवयणरयणमंगलं नमिउं।
समणस्स उत्तमट्ठे मरणविहीसंगहं वुच्छं॥ १॥

समाधिमरण अथवा मरणसमाधि का निम्नोक्त चौदह द्वारों में विवेचन किया है :

१. आलोयणाइ २. संलेहणाइ ३. खमणाइ ४. काल ५. उस्सग्गे।
६. उग्गासे ७. संथारे ८. निसग्ग ९. वेरग्ग १०. मुक्खाए॥ ८१॥
११. झाणविसेसो १२. लेसा १३. सम्मत्तं १४. पायगमणयं चेव।
चउदसओ एस विही पढमो मरणंमि नायव्वो॥ ८२॥

संलेखना दो प्रकार की होती है : आभ्यन्तर और बाह्य। कषायों को कृश करना आभ्यन्तर संलेखना है तथा काया को कृश करना बाह्य संलेखना है :

संलेहणा य दुविहा अब्भिंतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भिंतरिय कसाए बाहिरिया होइ य सरीरे॥ १७६॥

पंडितमरण की महिमा बताते हुए ग्रंथकार ने लिखा है :

इक्कं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाणि बहुयाणि।
तं मरणं मरियव्वं जेण मओ सुम्मओ होइ॥ २४५॥

प्रस्तुत प्रकीर्णक में अनेक प्रकार के परीषह—कष्ट सहनकर पंडितमरण-पूर्वक मुक्ति प्राप्त करने वाले अनेक महापुरुषों के दृष्टान्त दिये गये हैं।[1] इसमें अनित्यादि बारह भावनाओं का भी विवेचन किया गया है।[2]

अन्त में मरणसमाधि के आधारभूत आठ ग्रंथों का नामोल्लेख करते हुए ग्रंथकार ने इसके मरणविभक्ति एवं मरणसमाधि इन दो नामों का निर्देश किया है :

एयं मरणविभत्तिं मरणविसोहिं च नाम गुणरयणं।
मरणसमाही तइयं संलेहणसुयं चउत्थं च ॥ ६६१ ॥
पंचम भत्तपरिण्णा छट्ठं आउरपच्चक्खाणं च।
सत्तम महपच्चक्खाणं अट्ठम आराहणपइण्णो ॥ ६६२ ॥
इमाओ अट्ठ सुयाओ भावा उ गहियंमि लेस अत्थाओ।
मरणविभत्ती रइयं बिय नाम मरणसमाहिं च ॥ ६६३ ॥

१. गाथा ४२३ से ५२२.

२. गाथा ५७२ से ६३८.

एकादश प्रकरण

चन्द्रवेध्यक व वीरस्तव

चंदाविज्झय—चन्द्रवेध्यक अथवा चंदगविज्झं[1]—चन्द्रकवेध्य में १७५ गाथाएँ हैं। चन्द्रवेध्यक का अर्थ होता है राधावेद। जैसे सुसज्जित होते हुए भी अन्तिम समय में तनिक भी प्रमाद करनेवाला वेधक राधावेद का वेधन नहीं कर पाता वैसे ही मृत्यु के समय जरा भी प्रमाद का आचरण करने वाला साधक सर्वसाधनसम्पन्न होते हुए भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता। अतएव आत्मार्थी को सदैव अप्रमादी रहना चाहिए :

उप्पीलिया सरासणगहियाउहचावनिच्छयमईओ।
विंधइ चंदगविज्झं ज्झायंतो अप्पणो सिक्खं ॥ १२८ ॥
जइ य करेइ पमायं थोवंपि य अन्नचित्तदोसेणं।
तह कयसंधाणो विय चंदगविज्झं न विंधेइ ॥ १२९ ॥
तम्हा चंदगविज्झस्स कारणा अप्पमाइणा निच्चं।
अविराहियगुणो अप्पा कायव्वो मुक्खमग्गंमि ॥ १३० ॥

प्रस्तुत प्रकीर्णक में मरणगुणान्त सात विषयों का विवेचन है : १. विनय, २. आचार्यगुण, ३. शिष्यगुण, ४. विनयनिग्रहगुण, ५. ज्ञानगुण, ६. चरणगुण, ७. मरणगुण। एतद्विषयक गाथा इस प्रकार है :

विणयं आयरियगुणे सीसगुणे विणयनिग्गहगुणे य।
नाणगुणे चरणगुणे मरणगुणे इत्थ वुच्छामि ॥ ३ ॥

वीरत्थव—वीरस्तव में ४३ गाथाएँ हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, यह प्रकीर्णक भगवान् महावीर की स्तुति के रूप में है। इसमें महावीर के विविध नामों का उल्लेख है।

---

१. केसरबाई ज्ञानमन्दिर, पाटन, सन् १९४१.

अनुक्रमणिका

म

सहायक ग्रंथों की सूची

अंगविद्या—प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९५७.

अंगुत्तरनिकाय (भाग ५)—पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८५–१९००.

अंतकृद्दशा—एम० सी० मोदी, पूना, १९३२.

अनुत्तरौपपातिकदशा—पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२.

अभिधानचिन्तामणि—हेमचन्द्र, भावनगर, वी० सं० २४४१.

अवदानशतक (भाग २)—सेंट पीटर्सबर्ग, १९०६.

आचारांग—निर्युक्ति, भद्रबाहु

—चूर्णि, जिनदासगणि, रतलाम, १९४१.

—टीका, शीलांक, सूरत, १९३५.

उदान-अट्ठकथा (परमत्थदीपनी)—लन्दन १९१५.

ऋषिभाषित—सूरत, १९२७.

कथासरित्सागर—सोमदेव; सम्पादन, पेंजर (भाग १-१०), लन्दन, १९२४-२८.

कादम्बरी—बाणभट्ट; सम्पादन, काले, बम्बई, १९२८.

कुट्टिनीमत—दामोदर, बम्बई, वि० सं० १९८०.

चरकसंहिता—हिन्दी अनुवाद, जयदेव विद्यालंकार, लाहौर, वि०सं० १९९१-९३.

जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल.

जर्नल ऑफ यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी.

जातक (भाग ६)—फुसबाल, लन्दन, १८७७–९७; भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४१–५६.

जैन आगम—दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, १९४७.

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५.

जैन आचार—मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६.

जैन दर्शन—मोहनलाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५९.

ज्ञाताधर्मकथा—टीका, अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९.
—भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ (गुजराती), बेचरदास, अहमदाबाद, १९३१.

ज्योग्राफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म—बी० सी० लाहा, लन्दन, १९३२.

ज्योतिष्करंड—टीका, मलयगिरि, रतलाम, १९२८.

डिक्शनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स (भाग २)—मलालसेकर, लन्दन, १९३७–३८.

तत्त्वार्थभाष्य—उमास्वाति, आर्हतमत प्रभाकर, पूना, वी० सं० २४५३.

त्रिलोकसार—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१९.

थेरगाथा—राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.

थेरीगाथा—राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७.

दशकुमारचरित—दण्डी; सम्पादन, काले, बम्बई, १९२५.

दिव्यावदान—कैम्ब्रिज, १८८६.

दीघनिकाय (भाग ३)—राइस डेविड्स, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८९–१९११.

धम्मपद—सस्तुं साहित्यमण्डल, अहमदाबाद, वि० सं० २०२.

नागरी प्रचारिणी पत्रिका.

पाक्षिकसूत्र—टीका, यशोदेवसूरि, सूरत, १९५१.

प्रवचनसारोद्धार—नेमिचन्द्र, बम्बई, १९२२–२६.

प्रश्नव्याकरण—टीका, अभयदेव, बम्बई, १९१९.

प्राकृत और उसका साहित्य—मोहनलाल मेहता, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६६.

प्राकृत साहित्य का इतिहास—जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१.

बृहत्संहिता (भाग २)—वराहमिहिर; सम्पादन, सुधाकर द्विवेदी, बनारस, वि० सं० १९८७.

भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति)—टीका, अभयदेव, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२१; रतलाम १९३७.

भगवती आराधना—शिवकोटि, शोलापुर, १९३५.
भरतनाट्यशास्त्र—भरत, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज़, १९२४, १९३६; काशी संस्कृत सिरीज़, १९२९.
भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—जगदीशचन्द्र जैन, बनारस, १९५२.
भारतीय प्राचीन लिपिमाला—गौरीशंकर ओझा, अजमेर, वि० सं० १९७५.
मज्झिमनिकाय (भाग ३)—ट्रैंकनर और चालमेर्स, लन्दन, १८८८-९९.
मनुस्मृति—निर्णयसागर, बम्बई, १९४६.
महाभारत—टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, १९०६-९.
महावग्ग (विनयपिटक ५ भाग)—ओल्डनबर्ग, लन्दन, १८७९-८३.
याज्ञवल्क्यस्मृति—विज्ञानेश्वर टीका, बम्बई, १९३६.
रामायण—टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, १९११.
रिलीजन्स ऑफ हिंदूज—एच० एच० विल्सन, कलकत्ता, १८९९.
ललितविस्तर—लन्दन, १९०२ और १९०८.
लोकप्रकाश—विनयविजय, देवचन्द लालभाई, बम्बई, १९२६-३७.
विनयवस्तु (मूल सर्वास्तिवाद)—गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग २, श्रीनगर कश्मीर, १९४२.
विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्रगणि, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी, वी० सं० २४२७-२४४१.
श्रमण भगवान् महावीर—कल्याणविजय, जालोर, वि० सं० १९८८.
षड्दर्शनसमुच्चय—हरिभद्रसूरि (गुणरत्नसूरिकृतटीका), भावनगर, वि० सं० १९७४.
संगीतरत्नाकर—शार्ङ्गदेव, पूना, १८९६.
संयुत्तनिकाय (५ भाग)—लियों फीर, लन्दन, १८८४-९८.
सम प्रोब्लम्स ऑफ इण्डियन लिटरेचर—मौरिस विंटरनित्स, कलकत्ता, १९२५.
समवायांग—टीका, अभयदेव, अहमदाबाद, १९३८.
सुत्तनिपात—राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३८.
सुश्रुतसंहिता—हिन्दी अनुवाद, भास्कर गोविंद घाणेकर, लाहौर, १९३६, १९४१.
सूत्रकृतांग—टीका, शीलांक, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१७.
सोशियल लाइफ इन ऐंशिएन्ट इण्डिया—स्टडीज़ इन वात्स्यायन कामसूत्र, एच० सी० चकलदार, कलकत्ता, १९२९.

सोशियल लाइफ इन ऐंशिएंट इन्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन केनन्स--जगदीशचन्द्र जैन, न्यू बुक कम्पनी, बम्बई, १९४७.
स्थानांग—टीका, अभयदेव, अहमदाबाद, १९३७.
हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३.
हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर (भाग २)—मौरिस विंटरनित्स, कलकत्ता, १९३३.
हिस्ट्री ऑफ कैनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स--एच० आर० कापडिया, बम्बई, १९४१.